स्व० मूर्तिदेवी, मातेश्वरी सेठ शान्तिप्रसाद जैन

सेवा में,

पं. जुगलकिशोर जी मुख्तार

सरसावा
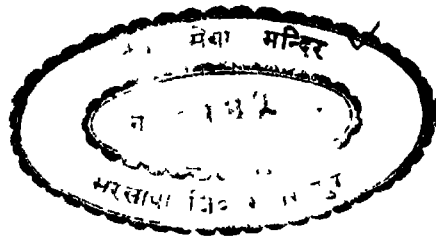
ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला [संस्कृत ग्रन्थाङ्क १]

कविवर नागदेव विरचितो

मदनपराजयः

[हिन्दी-अनुवादसहितः]

सम्पादकः—

प्रो० राजकुमारो जैनः साहित्याचार्यः

दि० जैन कॉलेज, बड़ौत (मेरठ)

भारतीय ज्ञानपीठ, काशी

प्रथम आवृत्ति
६०० प्रति

माघ वीरनिर्वाण सं० २४७४
वि० सं० २००४
जनवरी १९४८

मूल्य ८)
आठ रुपया

भारतीय ज्ञानपीठ काशी

स्व० पुण्यश्लोका माता **मूर्तिदेवी** की पवित्र स्मृति में

तत्सुपुत्र **सेठ शान्तिप्रसाद जी** द्वारा

संस्थापित

ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला

इस ग्रन्थमाला में प्राकृत संस्कृत अपभ्रंश हिन्दी कन्नड तामिल आदि प्राचीन भाषाओं में उपलब्ध आगमिक दार्शनिक पौराणिक साहित्यिक और ऐतिहासिक आदि विविध विषयक जैन साहित्य का अनुसन्धान, उसका मूल और यथासंभव अनुवाद आदि के साथ प्रकाशन होगा। जैन भंडारों की सूचियाँ, शिलालेख संग्रह, विशिष्ट विद्वानों के अध्ययनग्रन्थ और लोकहितकारी जैन साहित्य भी इसी ग्रन्थमाला में प्रकाशित होंगे।

ग्रन्थमाला सम्पादक और नियामक (संस्कृत-विभाग)

पं० महेन्द्रकुमार जैन, न्यायाचार्य, जैन-प्राचीन न्यायतीर्थ

बौद्धदर्शनाध्यापक, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, काशी

संस्कृत ग्रन्थांक १

प्रकाशक—**अयोध्याप्रसाद गोयलीय**

मन्त्री भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड, बनारस,

मुद्रक—**बी० के० शास्त्री**

ज्योतिष प्रकाश प्रेस, विश्वेश्वरगंज, बनारस सिटी।

स्थापनाब्द फाल्गुन कृष्ण ९ वीरनि०२४७०

विक्रम सं० २००० १८ फरवरी १९४४

Jnana-Pitha Moortidevi Jain Granthamala

SANSKRIT GRANTHA No. 1

MADANPARAJAYA

KAVI NAGDEVA
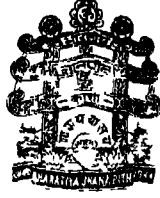
EDITOR

PANDIT RAJAKUMAR JAIN,
Sahityacharya.
Prof. DIGAMBARJAIN COLLEGE BARAUT, U. P.

BHARATIYA JNANA PITHA KASHI

First Edition
600 Copies.

VIR SAMVAT 2474
VIKRAMA SAMVAT 2001
Jan. 1948.

Price Rs.
8/-

BHARATIYA JNANAPITHA
KASHI.

FOUNDED BY

SETH SHANTIPRASAD JAIN

IN MEMORY OF HIS LATE BENEVOLENT MOTHER

MOORTI DEVI

JNANA-PITHA MOORTI DEVI JAIN GRANTHAMALA

IN THIS GRANTHAMALA CRITICALLY EDITED JAIN AGAMIC, PHILOSOPHICAL, PAURANIC, LITERARY, HISTORICAL AND OTHER ORIGINAL TEXTS IN PRAKRIT, SANSKRIT, APABHRANSHA, HINDI, KANNADA & TAMIL ETC. AVAILABLE IN ANCIENT LANGUAGES, WILL BE PUBLISHED IN THEIR RESPECTIVE LANGUAGES WITH THE TRANSLATION THEIR RESPECTIVE LANGUAGES WITH THE TRANSLATION IN MODERN LANGUAGES AND ALSO CATALOGUES OF BHANDARAS, INSCRIPTIONS, STUDIES, OF COMPETENT SCHOLARS & POPULAR JAIN LITERATURE WILL BE PUBLISHED.

GENERAL EDITOR OF THE SANSKRIT SECTION

PT. MAHENDRA KUMAR JAIN,

Nyayacharya, Jain-Pracheen Nyayatirtha

Prof. of Bauddhadarshan BANARAS HINDU UNIVERSITY, BANARAS.

SANSKRIT GRANTHA No. 1

PUBLISHER

AYODHYA PRASAD GOYALIYA,

SECRETARY—BHARATIYA JANANA PITHA,
DURGAKUND, BANARES CITY.

Founded in
Falgun Krishna 9
Vir Sam. 2470

Vikram Samvat 2000
18th Feb. 1944.

अनुक्रमणिका

संकेतसूची

अमर०	अमरकोष	(निर्णयसागर, बम्बई)
अ० रा०	अभिधानराजेन्द्र	(रतलाम)
अष्टा०	अष्टाध्यायी	(निर्णयसागर, बम्बई)
आदिपु०	आदिपुराण	(श्रीजैनसिद्धान्तप्रकाशिनीसंस्था, कलकत्ता)
आप्तस्व०	आप्तस्वरूप	(माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई)
उत्त० टी० अ०	उत्तराध्ययन, टीका, अध्याय	(देवचन्द्र लालभाई, सूरत)
क्षत्रचू०	क्षत्रचूडामणि	(दि० जैनपुस्तकालय, सूरत)
चै० च०	चैतन्यचन्द्रोदय	(निर्णयसागर, बम्बई)
चौ० प०	चौरपञ्चाशिका	( )
ज्ञान० सू० प्र०	ज्ञानसूर्योदयप्रशस्ति	(अप्रकाशित)
ज्ञाना०	ज्ञानार्णव	(रायचन्द्रशास्त्रमाला, बम्बई)
त० श्लो०	तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक	(निर्णयसागर, बम्बई)
त० सू०	तत्त्वार्थसूत्र	(दि० जैनपुस्तकालय, सूरत)
दश० अ०	दशवैकालिक अध्ययन	( )
दुर्गा०	दुर्गासप्तशती	(चौखंभा संस्कृत सीरिज, बनारस)
धनञ्जय०	धनञ्जयनाममाला	(दि० जैन पुस्तकालय, सूरत)
ध० वि० ना०	धर्मविजय नाटक	(सरस्वतीभवनसीरिज, काशी)
पञ्च०	पञ्चतन्त्र	(मेहरचन्द्र लक्ष्मणदास, लाहौर)
पञ्च० अप०	पञ्चतन्त्र अपरीक्षितकारक	(" " ")
पञ्च० काको०	पञ्चतन्त्र काकोलूकीय	(" " ")
पञ्च० मि० भे०	पञ्चतन्त्र, मित्रभेद	(" " ")
पञ्च० मि० सम्प्रा०	पञ्चतन्त्र, मित्रसम्प्राप्ति	(" " ")
पञ्च० लब्ध०	पञ्चतन्त्र, लब्धप्रणाश	(" " ")
प्रबोध० च०	प्रबोधचन्द्रोदय	(निर्णयसागर, बम्बई)
प्र० चि० प्रबोध० चि०	प्रबोधचिन्तामणि	(जैन धर्म प्रसारक सभा, भावनगर)
प्र० चि० प्र०	प्रबोधचिन्तामणि प्रशस्ति	(" ")
भारतसा०	भारतसावित्र्युपाख्यानम्	(बंबई)
भुवनेशलौ०	भुवनेशलौकिकन्यायसाहस्री	(वेङ्कटेश्वर, बम्बई)
भोजप्र०	भोजप्रबन्ध	(चौखंभा संस्कृत सीरिज, बनारस)
म० स्तो०	महिम्नस्तोत्र	(" ")
म० परा०	मदनपराजय	(प्रस्तुत संस्करण)

नोट—जिन ग्रन्थों और पत्रों आदि का प्रस्तावना में पूरा नाम आ चुका है, उन्हें संकेत-सूची में संमिलित नहीं किया है।

—सम्पादक

म० परा० प्र० म० परा० प्रश०	मदनपराजय प्रशस्ति	(प्रस्तुत संस्करण)
मूला०	मूलाचार	(माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई)
मूलारा० द०	मूलाराधनादर्पण	(सोलापुर)
मूलारा० वि०	मूलाराधना विजयोदया	(”)
मृच्छ०	मृच्छकटिक	(निर्णयसागर, बम्बई)
मेदिनी०	मेदिनीकोष	(चौखंभा संस्कृत सीरिज, बनारस)
यश०	यशस्तिलकचम्पू	(निर्णयसागर, बम्बई)
यो० शा०	योगशास्त्र	(” ”)
र० श्रा०	रत्नकरण्डश्रावकाचार	(माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई)
राजवा०	राजवार्तिक	(जैनसिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था, कलकत्ता)
रु० सं० सती० खं०	रुद्रसंहिता सतीखण्ड (शि पुराण)	(बंबई)
विश्व०	विश्वलोचनकोष	(गांधीनाथारंग, बम्बई)
स० सि०	सर्वार्थसिद्धि	(सोलापुर)
सागारध०	सागारधर्मामृत	(माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला, बम्बई)
सामु० शा०	सामुद्रिक शास्त्र	(जैन सिद्धान्तभवन, आरा)
सा० द०	साहित्यदर्पण	(निर्णयसागर, बम्बई)
सिद्धान्त०	सिद्धान्तकौमुदी	(” ”)
सुभाषित० भा०	सुभाषितरत्नभाण्डागार	(” ”)
सुभाषितत्रि०	सुभाषितत्रिशती	(” ”)
सूक्तिमु०	सूक्तिमुक्तावली	(” ”)
स्था०	स्थानाङ्गसूत्र	(सूरत)
हितो०	हितोपदेश	(निर्णयसागर बंबई)
हितोप० मि० ला०	हितोपदेश मित्रलाभ	(” ”)
हितो० सुहृद्भे०	हितोपदेश सुहृद्भेद	(” ”)
हि० सा० भू०	हिन्दी साहित्य की भूमिका	(हिन्दी ग्रन्थरत्नाकर, बम्बई)
गा०	गाथा	
च० प०	चतुर्थ परिच्छेद	
टी०	टीका	
दे०	देखिए,	
भ०	भट्टारक	
प० सं०	पंक्ति संख्या	
पृ० सं०	पृष्ठ-संख्या,	
सं०	संवत्	

निवेदन

संसार के सत् पदार्थ जड़ और चेतन इन दो स्थूल भागों में विभाजित है। चेतन जड़ से तथा जड़ चेतन से प्रभावित होता है। विशेषता यह है कि शुद्ध चेतन पर न तो जड़ अपना प्रभाव डाल सकता है और न चेतन। पर जड़ चाहे शुद्ध हो या अशुद्ध, जड़ और चेतन दोनों से प्रभावित होता रहता है। चेतन अनादि काल से जड़बद्ध अत एव अशुद्ध है। और इसी अशुद्धता के कारण उसमें काम क्रोध मान माया लोभ राग द्वेष आदि असद्वृत्तियों का उदय होता है। इन सभी वृत्तियों का अधिष्ठान काम है। कामके जीत लेने पर शेष दुर्वृत्तियाँ अपने आप क्षीण हो जाती है। और चेतन अपनी शुद्ध स्वाभाविक चिन्मय अवस्था में लीन हो जाता है। कामवृत्ति इतनी सूक्ष्म और गहरी पैठी हुई है कि इससे चिर योगी भी योगभ्रष्ट होते सुने गए हैं। विश्वामित्र पराशर आदि ऋषियों को अपनी साधना से च्युत करना काम का ही कार्य है। बुद्धने मारविजय के लिए ही अपनी साधना का अधिकतम समय लगाया, इस दुर्वार मार वीर को ही जीतकर जिनेन्द्र जिन कहलाते हैं।

भारतीय धर्मों का चरम उद्देश्य 'वासनाशान्ति' का है। वासनाओं का मूल अधिष्ठान काम है। अतः धर्म, दर्शन, पुराण, नीति आदि के सिवाय काव्य, नाटक, चम्पू, आख्यान आदि के द्वारा भी भारतीय ग्रन्थकारों ने मानव को मुक्तिमन्दिर की ओर ले जाने का ही प्रयास किया है। प्रस्तुत ग्रन्थ में काम पराजय का सुन्दर रूपक सरल सरस उपदेशपूर्ण प्रासादिक भाषा में गूँथा गया है। ग्रन्थ का महत्त्व साहित्यिक की अपेक्षा सांस्कृतिक अधिक है। इसमें जैनसंस्कृति के उस मूलाधार-सम्यक्चारित्र के विकास की दिशा सुन्दर रूपकों में निरूपित की गई है जिसके द्वारा आत्मा परमात्मा बन जाता है। तत्त्वज्ञान यदि चारित्र की दृढ़ता करता है तो ही उसकी सार्थकता है। ग्रन्थ की भाषा, शैली तथा बन्ध सरल और प्रसादगुणपूर्ण है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रत्येक पहलू पर इस ग्रन्थ के सम्पादक प्रो० राजकुमारजी ने अच्छा प्रकाश डाला है। ग्रन्थ को केन्द्र में रखकर अनेक साहित्यिक मुद्दों को खोजपूर्ण विवेचना की है। नागदेव के समय के सम्बन्ध में अभी और भी ऊहापोह अपेक्षित है। सम्यक्त्वकौमुदी को नागदेव कर्तृक होने की सम्भावना तब तक सत्योन्मुख नहीं कही जा सकती जब तक कि किसी प्रति में उसके नागदेवकर्तृक होने का उल्लेख न मिले या किसी समकालीन या उत्तरकालीन ग्रन्थकर्ता के ऐसे स्पष्ट उल्लेख न मिलें जिनसे उसके नागदेवकर्तृकत्व की सिद्धि होती हो। जिस पद्यसाम्य भाषासाम्य आदि आधारों से ऐसी सम्भावना अभी की जा रही है वे सुदृढ़ नहीं है क्योंकि अन्यरचित सम्यक्त्वकौमुदी को।सामने रखकर भी मदनपराजय में उक्त साम्य आ सकते हैं या मदनपराजय को सामने रखकर अन्य कोई ग्रन्थकार सम्यक्त्वकौमुदी में उक्त समानताएँ ला सकता है अथवा किसी तृतीय आधार से

विभिन्न ग्रन्थकारों द्वारा दोनों में समान अनुकरण हो सकता है। ऐसी दशा में अभो इस सम्भावना को पुष्ट करने के लिए समर्थ प्रमाण अपेक्षित है। प्रो० राजकुमारजो परिश्रमी, दृष्टिसम्पन्न तथा उत्साही युवक विद्वान् हैं। उनके द्वारा सम्पादित यह ग्रन्थ उनकी प्रतिभा और परिश्रम का अच्छा उदाहरण है। उनसे आगे भी ऐसे ही अनेक ग्रन्थों के सम्पादन की आशा है।

भारतीय ज्ञानपीठ के संस्थापक भद्रचेता साहु शान्तिप्रसादजी ने अपनी स्व० मातेश्वरी के स्मरणार्थ जो "मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला" स्थापित की है उस ग्रन्थमाला के संस्कृत विभाग का यह प्रथम ग्रन्थ है। साहुसा० की जैनश्रद्धा, जैन संस्कृति के उद्धार की अभिलाषा और उसके सौरभ का सर्वत्र प्रसार सभी अभिनन्दनीय हैं। उनकी समरूपा धर्मपत्नी सौ० रमाजी का उत्साह, कार्यप्रेरणा एवं साहित्यिक सुरुचि इस ज्ञानपीठ की अमूल्य निधि है। इस उदीयमान समरूप दम्पति से अनेक ऐसे सांस्कृतिक कार्य होने की आशा है।

अन्त में समाज के जिनवाणीभक्तों से निवेदन है कि वे अपने साहित्य के गौरव को समझें और उसकी प्रत्येक शाखा के जिस किसी भी भाषा में लिखे गए ग्रन्थों के उद्धारक प्रयत्नों में सहयोग दें, उनका भी यथेष्ट प्रचार करें जिससे ये प्रयत्न सोत्साह चलते रहें।

भारतीय ज्ञानपीठ
४। ११। ४७

—महेन्द्रकुमार जैन
ग्रन्थमाला सम्पादक—संस्कृत विभाग

प्रकाशन-व्यय

९००)	छपाई ३० फार्म	३००)	व्यवस्था
६४०)	कागज	१५०)	चित्र, कवर
६००)	जिल्द	८००)	भेंट आलोचना १०० प्रति
९००)	सम्पादन	२१०)	विज्ञापन
२००)	प्रूफशोधन	१०००)	कमीशन
		५७००)	

६०० प्रति छपी। लागत १ प्रति ९।) मूल्य ८)

सम्पादकीयम्

सात-आठ वर्ष पहले की बात है। दिगम्बर जैन समाज में 'न्यायकुमुदचन्द्र' जैसे दार्शनिक ग्रन्थ आधुनिक एवं नवीनतम सम्पादन-शैली से सुसम्पादित होकर प्रकाश में आये। जैन समाचार-पत्रों में इन ग्रन्थों का बड़ी धूम-धाम के साथ विज्ञापन हुआ और विद्वन्मण्डली में इनकी प्रशंसात्मक आलोचना भी। उन दिनों मैं साहित्याचार्य होने की तैयारी कर रहा था और साहित्य-सृजन की ओर तो मेरी बहुत पहले से प्रवृत्ति थी। अतः जब न्यायकुमुदचन्द्र प्रभृति सुसम्पादित ग्रन्थ मेरे देखने में आये और इनकी प्रशंसा-चर्चा भी सुनने और पढ़ने को मिली तो मेरे मन में आया कि जैन-साहित्य के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ भी क्यों न इस प्रकार सुसम्पादित होकर प्रकाश में आवें?

संयोग की बात है कि जुलाई सन् १९४४ में मुझे भारतीय ज्ञानपीठ, काशी में काम करने का सौभाग्य मिला। और अपने कार्यकाल में अन्य ग्रन्थों के सम्पादन-कार्य के साथ ही मैंने मदनपराजय के सम्पादन का कार्य भी प्रारम्भ कर दिया। इस प्रकार मदनपराजय का सम्पादन तथा प्रस्तावना के कुछ अंश का लेखन ज्ञानपीठ में रह कर ही सम्पन्न किया गया। अनन्तर परिस्थिति वश मैं यहाँ आ गया और शेष कार्य यहीं रहकर पूर्ण किया।

मदनपराजय अपने सम्पादित रूप में पाठकों के कर-कमलों में है। पञ्चतन्त्र जैसी आख्यान-शैली में लिखा गया यह सर्वप्रथम Allegorical रूपात्मक ग्रन्थ है। अथवा अपने मौलिक रूप में यह पहली बार ही प्रकाशित हो रहा है।

प्रस्तुत ग्रन्थगत विशेषताओं के सम्बन्ध में मैंने प्रस्तावना के 'मदनपराजय एक अध्ययन' शीर्षक अध्याय में यथासम्भव प्रकाश डाला है। इसके साथ ही भारतीय आख्यान-साहित्य के क्रमिक विकास का भी कुछ लेखा लगाया है तथा उपलब्ध रूपकात्मक रचनाओं पर भी एक विहंगम दृष्टि डाली है। मदनपराजय की साहित्यिक धारा के कतिपय शब्दचित्र भी आलेखित किये हैं। इस तरह प्रस्तावना काफी लम्बायमान हो गई है। परन्तु आशा है, पाठकों के लिए इसमें कुछ विचार और ज्ञान की सामग्री मिलेगी।

अन्त में हम भारतीय ज्ञानपीठ काशी के जन्मदाता और संचालक श्रीमान् साहु शान्तिप्रसाद जी जैन रईस के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञताञ्जलि प्रकट करना चाहते हैं, जिनके स्नेह-पूर्ण सौजन्य के कारण हमें ज्ञानपीठ में कार्य करने का सुअवसर मिला और आधुनिक शैली से ग्रन्थ-सम्पादन की दिशा में प्रवृत्त होने का सौभाग्य भी।

इस अवसर पर हम उन सज्जनों का भी कृतज्ञतापूर्वक नामस्मरण करना चाहते हैं जिनके द्वारा हमें प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन में विविधमुख सहायता प्राप्त हुई। इस सम्बन्ध में सर्वप्रथम श्री पं०

महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य का नाम उल्लेखनीय है। जिनकी सहकर्मिता में ग्रन्थ-सम्पादन और संशोधन की बहुत सी बातें सीखने का हमें सुयोग मिला। श्रद्धेय पं० नाथूराम जी प्रेमी ने भी समय समय पर अपनी अमूल्य रचनाओं से हमें अनुगृहीत किया। श्री डॉक्टर हीरालाल जी, एम० ए०, पी० एच० डी०, प्रोफेसर, मारिस कालेज, नागपुर विश्वविद्यालय तथा श्री डॉ० ए० एन० उपाध्ये, एम० ए०, डी० लिट्, प्रोफेसर राजारामकालेज, कोल्हापुर से भी हमें कतिपय मूल्यवान् सुझाव प्राप्त हुए। श्री अगरचन्द्रजी नाहटा बीकानेर ने अपने सरस्वती-भण्डार की मोहविवेक चौपई तथा ज्ञानशृङ्गारचोपई की पाण्डुलिपियाँ हमारे पास भेजने की कृपा की और कुछ सूचनाएँ भी। श्री व्रजनन्दन जी मिश्र व्याकरणाचार्य काशी ने हमारी कुछ शङ्काओं का समाधान किया और श्री उदयचन्द्र जी बी० ए० सर्वदर्शनाचार्य ने हमें निर्दिष्ट साहित्यिक सामग्री भिजवायी। इन सब सज्जनों के तथा जिन विद्वानों की रचनाओं का इस ग्रन्थ को सम्पादित करने में उपयोग किया गया, उन समस्त विद्वानों के हम हार्दिक आभारी हैं।

इस प्रकार मदनपराजय के रूप में जैन साहित्य की एक लघुकाय रचना को सम्पादित करके हमारी चिर-संचित आकांक्षा अंशतः अवश्य सफल हुई; परन्तु हमें इतने मात्र से संतोष नहीं है। हमारी आज भी यह बलवत् आकांक्षा है कि जैन साहित्य की अन्य महामूल्यवान रचनाएँ सुसम्पादित, आलोचित और प्रत्यालोचित होकर जिज्ञासु साहित्यिक संसार के सामने आवें और उनकी सुधा-स्रवन्ती में अवगाहन से सन्तप्त विश्व को शाश्वतिक शान्ति मिले।

दि० जैन कालेज,
बड़ौत (मेरठ) यू० पी०
विजयादशमी, २००४,

राजकुमार जैन
साहित्याचार्य

प्रस्तावना

१ सम्पादन में उपयुक्त सामग्री

मदन पराजय के सम्पादन में जिन प्रतियों का उपयोग किया गया है उनका परिचय इस प्रकार है:—

(१) क—यह प्रति श्री ऐलक पन्नालाल दि० जैन सरस्वती-भवन झालरापाटन की है। प्रति कागज पर देवनागरी लिपि में है। पत्र-संख्या ४६ है। प्रत्येक पत्र की लम्बाई दस इंच और चौड़ाई पाँच इंच है। प्रत्येक पत्र में २६ पंक्तियां हैं और प्रत्येक पंक्ति में लगभग २९, ३० अक्षर हैं। अक्षर बाँचे जा सकते हैं; पर सुन्दर नहीं हैं। ग्रन्थ के 'तथा च' और 'उक्तंच' आदि लाल स्याही से लिखे गये हैं। इस प्रतिका आरंभ इस प्रकार होता है:—

॥ स्वस्ति ॐ नमः सिद्धेभ्यः ॥ मदमलपदपद्मं

और अन्त निम्न प्रकार होता है:—

इति मदनपराजयं समाप्तमिति ॥ मूलसंघ भट्टारक श्रीरत्नभूषण जी तदाज्ञावर्ती श्रीरामकीर्ति-पंडित लछीराम-मन्नालाल-लक्ष्मीचन्द्र रामचन्द्र अमोलकचन्द्र श्रीपालपठनार्थं अङ्गीकृतं श्रेयोऽर्थम् ।

इस लेख से प्रतीत होता है कि मूलसंघाम्नायी भट्टारक श्रीरत्नभूषण के आज्ञापालक श्रीराम-कीर्ति, पंडित लछीराम, मन्नालाल, लक्ष्मीचन्द्र, रामचन्द्र, अमोलकचन्द्र और श्रीपाल के पढ़ने के लिए इन सबके कल्याण की भावना से यह ग्रन्थ चुना गया। यह प्रति कब और कहाँ लिखी गई इसका कोई निर्देश इसमें नहीं है, फिर भी इस प्रति का उपयोग भट्टारक रत्नभूषण के आज्ञावर्ती शिष्यों ने किया है। इस लिए इस प्रतिका लेखन-काल विक्रम की १७ वीं सदी के लगभग होना चाहिए।

(२) ख—यह प्रति भी श्री ऐलक प० दि० जैन सरस्वतीभवन झालरापाटन की है। प्रति कागज पर देवनागरी लिपि में है। पत्र-संख्या ५३ है। प्रत्येक पत्र की लम्बाई १० इंच और चौड़ाई ४½ इंच

१—भट्टारक रत्नभूषण काष्ठा संघ के भट्टारक थे और भट्टारक-त्रिभुवनकीर्ति के पट्ट पर प्रतिष्ठित हुए थे। वि० सं० १६८१ में 'मुनिसुव्रत पुराण' के रचयिता ब्रह्मकृष्णदासने, जो हर्षनाम वणिक का पुत्र और मंगल का सहोदर था, रत्नभूषण को न्याय-नाटक और पुराण साहित्य में निपुण एवं 'वादिकुञ्जर' जैसे विशेषणों से उल्लेखित किया है। दे० मुनिसुव्रतपुराण। इसके सिवाय 'षोडशकारणव्रतोद्यापन' और 'कर्णामृतपुराण' के कर्त्ता-केशवसेन सूरि ने भी अपने इन दोनों ग्रन्थों में भ० रत्नभूषण का उल्लेख किया है। दे० उक्त ग्रन्थ। षोडशकारणव्रतोद्यापन की रचना सं० १६६४ में हुई है और 'कर्णामृत पुराण' की रचना सं० १६८८ में। इन उल्लेखों के आधार पर भ० रत्नभूषण का समय विक्रम सं० की १७ वीं सदी के आगे नहीं जाता है।

भ० रत्नभूषण के समय से सम्बन्धित सामग्री हमारे मित्र न्यायाचार्य पं० दरबारीलालजी कोठिया ने पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार और पं० परमानन्द जी (सरसावा) से प्राप्त करके भेजने की कृपा की है, इस लिए हम इन सब के अनुगृहीत हैं।

है। प्रत्येक पत्र में १८ पंक्तियां हैं। यह प्रति उपलब्ध प्रतियों में अधिक शुद्ध है। लिपि सुन्दर और सुवाच्य है। इस प्रतिका प्रारंभ इस प्रकार होता है:—

श्री परमात्मने नमः ॥ यदमलपद

और अन्त इस प्रकार होता है :—

इति श्री जिनदेव विरचितो मदनपराजयः समाप्तः ॥ संवत १९२९ कामध्ये कूकद्रह चैत्यालये नेमीचन्द्रेण लिखितम् श्री ॥

इस लेख से प्रतीत होता है कि सं० १९२९ में यह प्रति कूकद्रह चैत्यालय में लिखी गई है और इसके लेखक नेमीचन्द्र हैं।

(३) ग—यह प्रति भाण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टिट्यूट पूना की है और इसका नम्बर OF ११५१/१८८४-८७ है। यह प्रति कागज पर देवनागरी लिपि में है। पत्र संख्या २५, पत्र की लम्बाई १२ इंच और चौड़ाई ६ इंच है। प्रत्येक पत्र में २३ पंक्तियां हैं और प्रत्येक पंक्ति में लगभग ४०, ४१ अक्षर हैं। लिपि सुन्दर और सुवाच्य है। अथ मोहोऽप्रवीन, तथाच, उक्तञ्च, आदि वाक्य और पद-समूह लाल स्याही में रक्खे गये हैं। प्रति अपूर्ण है। चतुर्थ परिच्छेद में—रे मूढ, क्षत्रियाणां छलार्थं यहीं तक है। इस प्रतिका प्रारंभ इस प्रकार होता है:—

मदन पराजय ॥ ॐ नमो जिनाय नमः ॥ यदमलपद

(४) घ—यह प्रति भी भाण्डारकर ओ० रि० इ० पूना की है। इसका नम्बर OF ६५४/१८७५, ७६ है। यह प्रति भी कागज पर लिखी हुई है और लिपि देवनागरी है। पत्र-संख्या २८ है। प्रत्येक पत्र की लम्बाई १२½ इंच है और चौड़ाई ५ इंच। प्रत्येक पत्र में २२ पक्तियाँ हैं और प्रत्येक पक्ति में लगभग ५४, ५५, ५६ अक्षर। यह प्रति सम्पूर्ण है। लिपि सुन्दर नहीं है। इस प्रति में कहीं कहीं कठिन शब्दों के एकाध टिप्पणी भी ऊपर, नीचे और दाईं-बाईं ओर दिये हुए हैं। अशुद्ध और अनपेक्षित पदों को मिटाने के लिए बहेरे के रंग का प्रयोग किया गया है। इस प्रतिका प्रारंभ इस प्रकार होता है:—

॥ श्री जिनाय नमः ॥ अथ मदन पराजय ग्रन्थ लिख्यते ॥ यदमलपदपद्म ·····

और अन्त इस प्रकार होता है :—

इति मदनपराजय समाप्तम् ॥ संवत् एकोनविंशतिशत अष्टादश कार्तिक कृष्णा अष्टम्यां आदित्यवासरे लिप्पीकृतं स्वरूपचन्द्रेण बिलालागोत्रे सवाई जयनगरे ज्ञानावरणी कर्मक्षयार्थं ॥ श्री ॥

इस लेख से स्पष्ट होता है कि इस प्रति के लेखक बिलाला गोत्रीय स्वरूप चन्द्र हैं और उन्होंने इसे वि. सं. १९१८ कार्तिक कृष्णा अष्टमी, रविवार के दिन जयपुर में लिपि बद्ध किया था।

इस प्रति के लेखक ने वि. सं. १९१८ मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी, रविवार के दिन मदनपराजय की स्वयं हिन्दी भाषा वचनिका भी लिखकर समाप्त की थी। यह भाषा वचनिका हमें श्री बाबू पन्नालालजी अग्रवाल दिल्ली के सौजन्य से दिल्लीसेठ का कूचा मन्दिर की प्राप्त हो सकी। इसमें भाषा वचनिका के कर्त्ता स्वरूपचन्द्रने प्रशस्ति में विस्तार के साथ अपना परिचय दिया है, जिसे हम इस

प्रति के परिचय कराने के प्रसङ्ग में लिखेंगे। हाँ, यहां हम यह संकेत अवश्य कर देना चाहते हैं कि इस संस्कृत मदन पराजय के लिपिकार स्वरूपचन्द्र और इसकी भाषा वचनिका के कर्त्ता स्वरूपचन्द्र—दोनों एक ही थे। और इस प्रति के लिखने के ठीक डेढ़ माह के पश्चात् ही इन्होंने अपनी भाषा वचनिका भी सम्पूर्ण की थी।

(५) क—यह प्रति भट्टारक महेन्द्र कीर्ति शास्त्र-भण्डार आमेर की है। यह प्रति भी कागज पर लिखी हुई है और लिपि देव नागरी है। यह प्रति सबसे अधिक प्राचीन और जीर्ण है। पत्र संख्या ५३ हैं। प्रत्येक पत्र की लम्बाई १० इंच है और चौड़ाई ४½ इंच। प्रत्येक पत्र पर २० पंक्तियां हैं और प्रति पंक्ति में ३२, ३३ अक्षर। प्रति के देखने और लिपि के वाचने से ही उसकी प्राचीनता के चिन्ह स्पष्ट रीति से लक्षित होते हैं। यह प्रति अधिकतर शुद्ध है। इस प्रतिका भी प्रारंभ इस प्रकार होता है :—

स्वस्ति श्री॥ यदमलपद·········

और अन्त निम्न प्रकार होता है :—

विक्रमनृपते राज्ये पञ्चदशशतान्विते।
तृ(त्रि)सप्ततिभिः सहितेऽस्मिन् टुंकपुरे राज्ये॥ (श्रीसूर्यसेन सन्नृपतेः)
श्रीमूलसंघे श्रीनन्द्याम्नाये गच्छे गिरः शुभेः (भे)?
श्रीमज्जिनेन्द्रसूरेस्तु प्रभाचन्द्रोऽस्ति सत्पदे॥ २॥
तदाम्नायेऽन्वये चास्ति खंडिल्लावासवासिनाम्।
कुले श्रं पापल्यानाञ्च नरसिद्धोऽभिधः सुदृक्॥
तद्भार्या माणिका सती श्राद्धगुणैः शुचिः॥ ३॥
तत्पुत्रः शुद्धशीलोऽस्ति होलानाम विलक्षणः।
तद्भार्या बाणभूनाम्नी व्रतशीलगुणान्विता॥ ४॥
बालापर्वतभ्रातृभ्यां सहितेन सुदृष्टिना।
तेन कर्मक्षयार्थं हि न्यायार्जितधनैः शुभैः॥ ५॥
शास्त्रं लिखाप्य (?) पात्राय दत्तं सद्व्रतधारिणे।
जीयादाचन्द्रतारं च सत्सुखावासिकारणम्॥ ६॥
कुंभताहु सुपुत्राभ्यां जाताभ्यां धान्यया स्त्रिया।
बालाख्यं सहितं पातु श्रीपार्श्वस्तीर्थनायकः॥ ७॥
ज्ञानवान् ज्ञानदानेन निर्भयोऽभयदानतः।
अन्नदानात् सुखी नित्यं निर्व्याधिर्भेषजाद्भवेत्॥ ८॥

इस प्रशस्ति से प्रतीत होता है कि यह प्रति टुंकपुर राज्य (वर्तमान टोंक स्टेट[1]) में सूर्यसेन

१—टोंक स्टेट की अतीत और वर्तमान ऐतिहासिक परिस्थिति को समझाने के लिए हमने सिरोंज निवासी श्रीमान् दानवीर सरदारीमलजी जैन, एम. एल. सी. (टोंक स्टेट) को एक पत्र लिखा था, तदनुसार उन्होंने हमारे

नरेश के राज्यकाल में वि. सं. १५७३ में लिखी गई। और मूल संघ कुन्दकुन्दाचार्य के आम्नाय, तथा सरस्वती गच्छ में जिनेन्द्रसूरि के पट्टपर प्रभाचन्द्र भट्टारक हुए, जिनके आम्नायवर्ती नरसिद्ध (सिंह) के सुपुत्र होला ने यह प्रति लिख कर किसी व्रती पात्र के लिए समर्पित की। नरसिंह खंडिल्ला वास के निवासी पांपल्य कुल के थे। इनकी पत्नी का नाम माणिका था। दोनों के होला नाम का पुत्र था, जिसकी पत्नी का नाम बाणभू था। होला के बाला और पर्वत नाम के दो भाई थे और इस प्रति के लिखाने में तथा व्रती के लिए समर्पण करने में इन दोनों भाइयो का भी सहयोग था। इस लेख से यह भी प्रतीत होता है कि बाला की पत्नी का नाम धान्या था और इसके कुंभ और ताहु नाम के दो सुपुत्र भी होगये थे।

इस प्रति में कुछ ऐसे पद्य हैं जो अन्य किसी भी प्रति में नहीं पाये जाते। उदाहरण के लिए देखिए ११ पृ. १५ श्लो., १७ पृ. ३२ श्लो., १८ पृ. १ श्लो., २१,१४ श्लो., २४ पृ. २२ श्लो., २७ पृ. ४२ श्लो०।

(६) च—यह प्रति श्री जैन सिद्धान्त भवन आरा की है। यह प्रति भी कागज पर देवनागरी लिपि में है। पत्र-संख्या ३५ है। प्रत्येक पत्र की लम्बाई १२ इंच है और चौड़ाई ६३ इंच। प्रत्येक पत्र पर २० पङ्क्तियाँ हैं और प्रत्येक पंक्ति में लगभग ५३,५४ अक्षर हैं। लिपि सुन्दर तथा सुवाच्य है। भाषा अशुद्ध है और कहीं कहीं वाक्य के वाक्य तथा श्लोक तक गायब हैं। इस प्रति का प्रारंभ इस प्रकार होता है :—

॥ श्री सरस्वत्यै नमः ॥ यदमलपदपद्मं......

और अन्त इस प्रकार होता है :—

इति श्री मदन पराजय समाप्तं। सं० १९८७ मिती आषाढ़ शुक्ला १५ गुरुवासरे तद्दिने समाप्तम् ॥ इति ॥

इस लेख से स्पष्ट होता है कि यह प्रति वि. सं. १९८७ आषाढ़ शुक्ला १५ गुरुवार के दिन लिपि बद्ध की गई है और फलतः यह सबसे अर्वाचीन प्रति है।

पास निम्नलिखित जानकारी भेजने की कृपा की है, एतदर्थ हम उनके अनुगृहीत हैं। विवरण निम्न प्रकार है :—

टोंक वि. सं. १००३ माघ बदी १३ अभिजित नक्षत्र में टोंकडे के नाम से बसाया गया था। राजाधिराज टोनल सावजीकी ओर से रामसिहजी खोजा द्वारा यह बसाया गया था। वि. स. १२१८ में टोंक, टोडे इलाके जयपुर से ताल्लुक रखता था। सं. ११५६ मे पालभाव हुए और सु. १२२४ में इस पर साऊजी व बापूजी ने कब्जा किया। फिर नाभा जी हुए और सं. १३५६ में महेशदास ने अधिकार किया। स. १५७५ में रावरतन काबिज हुए। रावरतन का पुत्र सूर्यसेन था।

टोंक में आज कल ६ जैन मन्दिर और ६ जिन चैत्यालय हैं। सबसे प्राचीन मन्दिर चौधरियों का है, जो सात सौ वर्ष पुराना है। श्याम महाराजका मंदिर ५५० वर्षका पुराना है और एक मन्दिर ३५० वर्ष प्राचीन है। वर्तमान में जैन जनसंख्या ५५० के लगभग है। एक प्राचीन शास्त्र भण्डार भी विद्यमान है, परन्तु वह व्यवस्थित नहीं है।

इस विवरण में उल्लिखित रावरतन का पुत्र वही सूर्यसेन नरेश है, जिसके राज्यकाल में 'मदन पराजय' की प्रस्तुत प्रति का लेखन हुआ है।

(७) छ—'जैन मन्दिर सेठ का कूचा देहली के शास्त्र-भण्डार की यह प्रति है। यह प्रति भी कागज पर देवनागरी लिपि में है। पत्र संख्या ६३ है। प्रत्येक पत्र की लम्बाई १३½ इंच और चौड़ाई १० इंच है। प्रत्येक पत्र में २८ पंक्तियाँ हैं और प्रति पंक्ति में ४६, ४७ अक्षर हैं। यह प्रति संस्कृत मदन पराजय की हिन्दी भाषा-वचनिका के रूप में है। इसमें संस्कृत मदन पराजय के सिर्फ श्लोक ही उद्धृत हैं, गद्य भाग नहीं। परन्तु वचनिका दोनों की है। संस्कृत के श्लोक बिलकुल गलत लिखे हैं, लेकिन श्लोकों के पहले छन्दों का नामोल्लेखन केवल इसी प्रति की विशेषता है। लिपि सुन्दर तथा सुवाच्य है। वचनिका ढूंढारी भाषा में है और खूब विस्तार के साथ लिखी गई है। इस प्रति का प्रारंभ इस प्रकार से होता है:—

॥ ओं नमः सिद्धेभ्यः ॥ श्रीवीतरागाय नमः ॥ अथ श्री मदनपराजय ग्रन्थ की वाचनिका लिख्यते ॥ दोहा ॥ चौवीसूं वृषभादि जिन, सिद्ध मुनी सिर नाय। मदन पराजय ग्रन्थ की भाषा करूं मन लाय ॥ वदमलपद...

और अन्त इस प्रकार होता है:—

आगे वचनिका ग्रन्थवार्ता का सम्बन्ध लिखते हैं।

॥ दोहा ॥

देश ढूंढाहड के विषैं, जयपुर नगर महान।
मंदिर तहां बहु जिनतनैं, अति मनोग सिव दान ॥१॥
राम स्वयं भूपति तहां, राज करै गुणवान।
ताके राज प्रतापतें, देश सुखी सुमहान ॥२॥
नगर माहीं जैन बहुत सुख सूं वसत महान।
चतुर्थ काल सम काल तहां, पूर्ण होम अभिराम ॥३॥
तामें न्याति सुगोत्र करि, शोभित जैनी लोग।
श्रावक कुल के गोत है, चोरी जुत...थोक ॥४॥
तामें गोत्र जु है भलौ, बिलाला नाम प्रसिद्ध।
ताते चिमन राम सुभ, है गुणवान सुरिद्ध ॥५॥
ताके सूरतराम अरु, रूपचन्द अभिराम।
चम्पाराम सु तृतीय सुत, सरूपचन्द चतु तास ॥६॥
सरूपचंद सुभ संग तें, पाय ग्यान को लेश।
जैन ग्रन्थ अवगाहना, करी जु कछु लवलेश ॥७॥
जिनवर भक्ति प्रभाव तैं, हरष धारि उर मांहि।
मदन पराजय ग्रन्थ कूं, लिख्यो वचनिका ताहि ॥८॥
भव्य जीव या ग्रन्थ कूं, वाचै पढ़ै सदीव।
मोक्ष मार्ग कूं पाय कर, भ्रमे नहीं जगतीय ॥९॥
तुच्छ बुद्धि मो जान कर, चूक लिखी या मांहि।
कृपा क्षमा उर धार कै, शुद्ध करो सुखदाहि ॥१०॥

संवत् सत उन्नीस अह। अधिक अठारा मांहि।
मार्गशीर्ष सुदि सप्तमी, दीतवार सुखदाहि ॥११॥
ता दिन ये पूरण कर्यो, देस वचनिका मांहि।
सकल संघ मंगल करो, ऋद्धि वृद्धि सुखदाहि ॥१२॥

इति श्रीमदनपराजय ग्रन्थ की भाषा वचनिका समाप्त ॥ ※ शुभं ※

॥ दोहा ॥ जल तैलादि लेप की परध्या कर जो मीत।
हाथ न दीजो मूढ के तथा जान अविनीत ॥१॥

मिती वैशाख सुदी ८ सं० विक्रमः १९८४ लिखितं जयपुरमध्ये।

इस विस्तृत प्रशस्ति से प्रतीत होता है कि संस्कृत मदन पराजय की भाषा वचनिका वि. सं. १९१८ मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी रविवार के दिन सम्पूर्ण हुई और इसके कर्त्ता विलाला गोत्रीय स्वरूपचन्द्र है। यह भाषा वचनिका जयपुर में उस समय लिखी जब वहाँ रामस्यंघ (सिंह) राजा का राज्य था। ग्रन्थकर्त्ता के पिता का नाम चिमनराम था और अपने चार भाइयों में से यह सबसे छोटे भाई थे। ज्येष्ठ भाइयों के नाम क्रम से सूरतराम, रूपचन्द और चम्पाराम थे।

प्रस्तुत भाषा वचनिका वाली प्रति का लेखन काल वि सं. १९८४ वैशाख वदी ८ है। यह जयपुर में लिखी गई है। हमने इस प्रति का उपयोग सिर्फ हिन्दी-अनुवाद करते समय कहीं कहीं किया है।

इस प्रकार सम्पादन में उपयुक्त हुई इन प्रतियों में लेखन काल की दृष्टि से 'ङ' प्रति ही सब से अधिक प्राचीन ठहरती है। परन्तु भाषा-शुद्धि की दृष्टि से 'ख' प्रति का नम्बर ही सर्वोच्च है। तुलना करने पर ज्ञात होता है कि (ख) और (ङ) प्रति में बहुत अधिक समानता है। कुछ इस प्रकार के पत्र भी उपलब्ध होते है, जो इन दोनों प्रतियों के सिवाय अन्य किसी तीसरी प्रति में दृष्टिगोचर नहीं हुए हैं। उदाहरण के लिए देखिये, पृ. सं. ८ पा. टि. सं. २, पृ. सं. १० पा. टि. सं. ४, पृ. सं. ३५ पा. टि. सं १५, पृ. सं. ३६ पा. टि. सं. ३ और ५, पृ. सं. ४० पा. टि. सं. १४, पृ. सं. ४८ पा. टि. सं. ९, पृ. सं. ६३ पा. टि. सं. ४ आदि।

---

२ मूलग्रन्थ का संयोजन

सम्पादन-पद्धति

(१) इस प्रकार इन छह प्रतियों के आधार से इस ग्रन्थ का सम्पादन किया गया है। ग्रन्थ अपने मूल रूप में सब से पहले प्रकाशित हो रहा है। उपर्युक्त प्रतियों में से एक भी ऐसी न निकली जो निर्दोष हो और जिसे हम आदर्श प्रति मान सकते। हमने इन सब प्रतियों को सामने रख कर मूल ग्रन्थ की संयोजना करने का प्रयत्न किया है। हमें सम्पादन में ख० और ङ० प्रतियाँ अधिक

सहायक सिद्ध हुई हैं और इन प्रतियों में जो हमें विशिष्ट और विशुद्ध पाठान्तर मिले उन्होंने हमारे श्रम को हल्का करने में काफी सहायता पहुँचायी है। फिर भी मूल ग्रन्थ में इस प्रकार की कतिपय त्रुटियाँ अन्त तक बनी रहीं जो इन प्रतियों की सहायता के बावजूद भी दूर न की जा सकीं और जिन्हें दूर करने का सम्पादक ने भी एक तुच्छ प्रयत्न किया है। जो पाठ एक या एकाधिक प्रतियों में छूट गया था उसे अन्य प्रतियों से ले लिया है और ख० तथा ङ० जैसी शुद्ध प्रतियों के साथ भी यह क्रम बरता गया। इस प्रसङ्ग में शुद्ध पाठ हमने मूल में रक्खा है और उसकी प्राप्ति की स्रोत-मूलक प्रति का निर्देश पादटिप्पण में कर दिया है।

(२) उपलब्ध प्रतियों में किसी एक को भी आदर्श प्रति न होने से जो पद्य और पाठान्तर केवल ख० प्रति में और केवल ङ० प्रति में पाये गये उन्हें भी मूल में संमिलित कर लिया। यद्यपि (पृ० ७५) हमने इस प्रकार के एक पद्य को पादटिप्पण में प्रकीर्णक पद्य के रूप में उद्धृत किया है, किन्तु आगे चल कर हमने कहीं भी इस पद्धति को प्रश्रय नहीं दिया।

(३) उपलब्ध प्रतियों के उपयोग करने पर भी जो अशुद्ध पाठ रह गये उनके स्थान पर संशोधित शुद्ध और संभव पाठ ( ) इस प्रकार के गोल ब्रेकेट में सुझाये गये हैं। ऐसा करते समय कहीं कहीं पद्य के एकाध चरण में उलट-फेर भी किया गया है (दे०, पृ० ४०, पद्य सं० २१ और पृ० ४७, पद्य सं० ४९) छन्दोभङ्ग के दोष को दूर करने के लिए कुछ शब्द भी जोड़े हैं और अर्थ संगति की दृष्टि से कुछ मूल शब्दों को भी परिवर्तित रूप में सुझाया है (दे०, पृ० ४० पद्य सं० ४८ और पृ० सं० ५७ पद्य सं० ७५), परन्तु यह करते समय हमारी दृष्टि ग्रन्थ को शुद्ध और संगत रूप में उपस्थित करने की ओर ही रही है। कहीं कहीं भाषा की दृष्टि से शुद्ध पाठ सुझाने के लिए [ ] इस प्रकार के ब्रेकिट का भी उपयोग किया गया है, परन्तु अन्य गोल ब्रेकिट में ही सब प्रकार के संशोधन सुझाये गये है।

(४) जिन त्रुटित पाठों की पूर्ति उपलब्ध प्रतियों की सहायता से भी न हो सकी उनके स्थान में······इस प्रकार के बिन्दु रख कर उन्हें वैसा ही छोड़ दिया है।

(५) कहीं कहीं अर्थशून्य पाठान्तर भी पादटिप्पण में दिये गये हैं, जिस से अन्य शुद्ध पाठान्तरों का भी अनुमान किया जा सके।

हिन्दी अनुवाद—

मदन पराजय का सब से पहला हिन्दी अनुवाद जयपुर निवासी बिलालागोत्रीय स्वरूपचन्द्रने वि० १९९८ मार्गशीर्ष शुक्ल सप्तमी के दिन सम्पूर्ण किया। परन्तु एक तो यह ढूंढारी भाषा में हुआ और दूसरे वचनिका की पद्धति पर बहुत विस्तार के साथ। तीसरे अनुवादकर्त्ता के सामने मूल ग्रन्थ भी सर्वाङ्ग और सम्पूर्ण रूप में उपस्थित न था। इस लिए इस ग्रन्थ के एक मूलानुगामी अनुवाद की, जो आधुनिक हिन्दी में किया जाता, बहुत आवश्यकता रही।

इस आवश्यकता की पूर्ति स्व० पं० गजाधरलाल जी शास्त्री ने की जो बहुत वर्ष पहले कलकत्ता की जैन सिद्धान्त प्रकाशिनी संस्था से 'मकरध्वज पराजय' के नाम से प्रकट हो चुका है। अनुवाद

में कहीं कहीं संस्कृत पद्यों का हिन्दी पद्यानुवाद किया गया है और सम्पूर्ण अनुवाद अधिकांश में नाटकीय पद्धति पर हुआ है। परन्तु यह अनुवाद एक भाषानुवाद है और वह भी एक ही प्रति के आधार से किया गया जान पड़ता है।

ऐसी स्थिति में एक इस प्रकार के हिन्दी अनुवाद को आवश्यकता थी जो मूलानुगामी हो, सम्पूर्ण हो और प्रामाणिक हो। हमने अपना प्रयत्न इसी दिशा में किया है। हमारी दृष्टि अनुवाद को मूलानुगामी रखने की ओर ही अधिक रही है। इसका यह अर्थ नहीं कि हम सम्पूर्णतया शब्द अर्थ से ही बंधे रहे। हमने शब्दानुवाद को भावानुवाद के प्रवाह में बहाने का प्रयत्न किया है और इस बात का भी ध्यान रक्खा है कि मूल कथा के आधार में कहीं भी रस-भङ्ग न हो। साथ ही हमारा अनुवाद छह प्रतियों के आधार पर सम्पादित और संशोधित किये गये मदनपराजय का है, इस लिए इस अनुवाद की अविकलता और उपयोगिता के सम्बन्ध में विज्ञ पाठक स्वयं ही विचार कर सकते हैं।

अनुवाद में हमने मूलग्रन्थकार के अनुसार नाटकीय शैली नहीं अपनाई है और न ही संस्कृत पद्यों का हिन्दी पद्यानुवाद किया है। अनुवाद को हमने आख्यान की शैली में ही रखा है और उसे यथाशक्ति सरल तथा रोचक बनाने का प्रयत्न किया है, यद्यपि मूल भाषा के रूपकों के जाल में जकड़ी रहने के कारण कहीं अनुवाद में भी अपरिहार्य दुरूहता आगई है।

टिप्पण—

ग्रन्थ-सम्पादन-पद्धति में टिप्पणों का भी एक अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। ग्रन्थगत विभिन्न तत्त्वों और प्रश्नों पर टिप्पणों द्वारा यथेष्ट प्रकाश डाला जाता है और उनसे मूल ग्रन्थ को सरल बनाने में काफी सहायता मिलती है। मदन पराजय के टिप्पण उक्त दृष्टि को ध्यान में रखते हुए ही संगृहीत किये हैं। इस ग्रन्थ में ऐसे टिप्पण चार प्रकार के हैं। एक वे हैं, जिनमें पाठान्तरों का संकलन हुआ है। दूसरे वे हैं, जिनमें ग्रन्थों के संक्षिप्त नामोल्लेख पूर्वक अवतरणों का निर्देश किया गया है। तीसरे वे हैं, जिनमें शब्द और अर्थ दोनों दृष्टियों से कतिपय स्थलों में संतुलन किया गया है और विषम स्थलों का रहस्य उद्घाटित किया गया है। और चौथे वे टिप्पण हैं, जिनमें भाषा छन्द और कोष की दृष्टि से कुछ विचार प्रस्तुत कये गये हैं।

टाइप—

प्रस्तुत संस्करण में दो प्रकार के टाइप का उपयोग किया गया है। एक ग्रेट नं० २ काला है। जिसमें मूलग्र थ और ग्रन्थकार के स्वरचित पद्य दिये गये हैं। दूसरा ग्रेट नं० चार सादा है, जिसमें ग्रन्थान्तरों के उद्धृत पद्य डवल इनवर्टेड कामा में रखे गये हैं। 'उक्तञ्च' के बाद जो पद्य आया और उसकी परम्परा में जितने पद्य आते गये उन्हें हमने उद्धृत पद्य मान कर सादे टाइप में रखा और अपनी खोज के आधार पर पाद टिप्पण में उन ग्रन्थों का संक्षिप्त नामोल्लेख भी किया। हमने इस पद्धति का इतने कठोर रूप में अनुपालन किया कि जिस पद्य के साथ हमें 'उक्तञ्च' नहीं मिला और जो

इस परम्परा में गर्भित न हुआ उस पद्य को दूसरे ग्रन्थ का जानते बूझते हुए भी हमने काले टाइप में रक्खा, यद्यपि इस प्रकार के प्रसङ्ग में हमने पादटिप्पण में उद्धृत पद्य के मूल ग्रन्थ का यथासंभव नामनिर्देश अवश्य कर दिया है। उदाहरण के लिए देखिए पृ० २३ पद्य सं० २, पृ० २९ पद्य सं० ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११, पृ० ३१ पद्य सं० १८, २२ इत्यादि।

---

३ भारतीय आख्यान-साहित्य

विश्व के साहित्य में भारतीय आख्यान-साहित्य का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह भारतीय आख्यान-साहित्य है, जिसमें मानव-जीवन के प्रत्येक पहलू का स्पर्श किया गया है, जीवन के प्रत्येक रूप का सरस और विशद विवेचन है और उसका सम्पूर्ण चित्र विविध परिस्थिति-रंगों से अनुरञ्जित होकर उद्दीप्त हो रहा है। यह भारतीय आख्यान-साहित्य है, जिसमें मानव के पहले नेत्रोन्मीलन से लेकर उसकी महासमाधि तक के नाना व्यापार जिनमें उसके हर्ष-विषाद, सुख-दुःख, हास्य-रुदन, मिलन-विछोह, चिन्ता-उत्कण्ठा और आसक्ति-अनासक्ति आदि सब कुछ संमिलित हैं—अपने प्रत्येक रूप से विश्व के वैचित्र्य का अनुभव कर रहे हैं और यह भारतीय आख्यान-साहित्य है जिसमें मानव-जीवन के उत्थान-पतन तथा उत्क्रान्ति और संक्रान्ति सम्बन्धी गौरव-गाथायें मानव के मस्तिष्क में अनेक भाँति की अनुभूतियाँ स्पन्दित किया करती हैं।

प्रस्तुत आख्यान-साहित्य में कहीं ऐहिक समस्याओं की चिन्ता की अभिव्यञ्जना है तो कहीं पारलौकिक समस्याओं की। कहीं अर्थनीति का निदर्शन है तो कहीं राजनीति का। कहीं धार्मिक परिस्थित का चित्रण है तो कहीं सामाजिक परिस्थिति का। कहीं शिल्प कला के सुन्दर चित्र हैं तो कहीं जनता की व्यापार-कुशलता के। कहीं उत्तुङ्ग गिरि, नदी-नद आदि भूवृत्त का लेखा है तो कहीं अतीत के जल और स्थल-मार्गों के संकेत। और यह वह भारतीय आख्यान-साहित्य है जिसकी धर्मकथाएँ, नीतिकथाएँ, लोककथाएँ और रूपकात्मक आख्यान कहीं जनता का मनरंजन करते हैं, कहीं उसके हृदय को उदार तथा विशुद्ध बनाते, कहीं बुद्धि में स्फूर्ति का संचार करते हैं और कहीं उसके चिर-कल्याण-मोक्ष की प्राप्ति के लिए उसे उत्प्रेरित किया करते हैं। कुल मिला कर एक यही इस प्रकार का साहित्य है जिसमें जीवन के सम्पूर्ण स्वरूप की अभिव्यञ्जना विद्यमान है।

प्रस्तुत आख्यान-साहित्य चार भागों में विभक्त किया जा सकता है:—

१. धर्मकथा साहित्य Religious Tale.

२. नीतिकथा-साहित्य Didactic Tale.

३. लोककथा-साहित्य Popular Tale.

४. रूपकात्मक साहित्य Allegorical Literature.

१, धर्मकथासाहित्य Religious Tale.

(विश्लेषण, इतिहास, और विकास)

"त एव कवयो लोके त एव च विचक्षणाः।
येषां धर्मकथाङ्गत्वं भारती प्रतिपद्यते॥
धर्मानुबन्धिनी या स्यात् कविता सैव शस्यते।
शेषा पापास्रवायैव सुप्रयुक्तापि जायते॥"

—भगवज्जिनसेनाचार्य

भारत की आत्मा में धर्म इतना घुला-मिला है कि यदि धर्म को छोड़ कर भारत का चित्राङ्कन किया जाय तो उसे कोई भी सजीव और सम्पूर्ण नहीं कहेगा। यह एक भारत है, जहाँ अनादिकाल से विभिन्न धर्म-परम्पराएँ और उनकी साहित्यिक रचनाएँ एक साथ फलती-फूलती आ रही हैं और ये भारतीय धर्मों के ही बीजाङ्कुर हैं जिनसे रस लेकर मानव अपनी शाश्वतिक शान्ति की साधना में सफल हो सका है।

भारत में वैदिक, बौद्ध और जैन मुख्यतया ये ही तीन धर्म हैं और प्रायः सम्पूर्ण भारतीय आख्यान-साहित्य इन तीन धर्मों के तात्त्विक सिद्धान्तों से अनुप्राणित और अनुरञ्जित है। जिस कथा-साहित्य पर इन धर्मों की छाप पड़ी हुई है और जो साहित्य इन धर्मों के सिद्धान्तों और संस्कृति से ओत-प्रोत है, धर्म-कथा-साहित्य से हमारा यही आशय है।

इस प्रकार धर्मकथा-साहित्य तीन विभागों में विभक्त किया जा सकता है:—

(क) वैदिक धर्मकथा-साहित्य
(ख) बौद्ध धर्मकथा-साहित्य
(ग) जैन धर्म कथा-साहित्य

(क) वैदिक धर्म-कथा-साहित्य—

भारतीय आख्यान-साहित्य के दर्शन सर्वप्रथम हमें वैदिक धर्मकथा-साहित्य में मिलते हैं। ऋग्वेद में युद्धरत इन्द्र का आख्यान है। वह सोम पीकर मरुतों को साथ लेकर वृत्र या अहि पर आक्रमण करता है। जब घनघोर युद्ध होता है, तब पृथ्वी और आकाश काँपने लगते हैं। अन्त में वज्र द्वारा वृत्र के खण्ड खण्ड होते हैं और रुका हुआ पानी मुक्त की गई गायों के समान दौड़ निकलता है। इस युद्ध में मरुत सदैव इन्द्र के साथ रहते हैं और अग्नि, सोम तथा विष्णु भी इन्द्र की बहुत सहायता करते हैं। जब अहि का विनाश किया जाता है तब प्रकाश का प्रादुर्भाव होता है।

अश्विन का आख्यान भी सुप्रसिद्ध है। इस में अश्विन ने अन्धकार को दूर कर दुष्ट राक्षसों को भगाया है। इन्होंने भुज्यु के जहाज को समुद्र में डूबने से बचाया था तथा और भी इस प्रकार के अनेक परोपकार के कार्य किये थे।

ऋग्वेद में पुरूरवस् और उर्वशी की प्रेम-गाथा का भी विशद और सुन्दर वर्णन है।

ब्राह्मण ग्रंथों में भी कुछ दन्तकथाओं और काल्पनिक आख्यानों का उल्लेख मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण (७।३) में वर्णित शुनःशेप आख्यान बहुत प्रसिद्ध है। इक्ष्वाकुवंशज हरिश्चन्द्र के कोई पुत्र नहीं था। उसने प्रतिज्ञा की कि यदि मुझे पुत्र प्राप्त हुआ तो वह उसे वरुण को यज्ञ-बलि चढ़ावेगा। उसे रोहित नामक पुत्र उत्पन्न हुआ; किन्तु जब तक वह बड़ा नहीं हुआ, हरिश्चन्द्रने वरुण के लिए यज्ञ नहीं किया। जब वह यज्ञ करने के लिए तैयार हुआ तो उसका पुत्र जंगल में भाग गया और अजीगर्ति नामक भूखे ब्राह्मण के मझले पुत्र शुनःशेप को खरीद अपने साथ लेकर घर लौटा। उधर हरिश्चन्द्र ने रोहित के बदले शुनःशेप को बलिरूप में स्वीकार कर लेने के लिए वरुण को राजी कर लिया। शुनःशेप यज्ञस्तम्भ से बाँधा गया; परन्तु वह बलि के लिए तैयार न था। उसने वरुण की स्तुति में मन्त्रों का उच्चारण करना प्रारम्भ कर दिया। धीरे धीरे उसके बन्धन शिथिल हो गये और उसे मुक्ति मिल गई।

शतपथ ब्राह्मण में पुरूरवस् और उर्वशी की प्रेम-गाथा का चित्रण है और भरत दौष्यन्ति तथा शकुन्तला का भी उल्लेख मिलता है। इसमें महाप्रलय की उस कथा का भी वर्णन है, जिसमें मनु मत्स्य के आदेशानुसार एक नाव बनाता है और उसे उस मत्स्य से बांध कर अपनी रक्षा कराता है और इस प्रकार पुनः मानव-सृष्टि के उद्योग में संलग्न होता है।

उपनिषदों में भी आख्यान-साहित्य की झाँकी दृष्टिगोचर होती है। बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य के जिज्ञासुओं के साथ किये गये दार्शनिक वाद-विवादों का तथा याज्ञवल्क्य और जनक के संवाद का सुन्दर चित्रण है। इसी प्रकार याज्ञवल्क्य और उनकी पत्नी मैत्रेयी की दार्शनिक बातचीत भी बहुत रोचक है[1]।

जब हमारा ध्यान उत्तरवैदिक आख्यान-साहित्य की ओर जाता है तो महाभारत और रामायण अपनी अद्भुत विशेषताओं के साथ उपस्थित हो जाते हैं। महाभारत का मुख्य उद्देश्य भरतवंशजों के आपसी युद्ध का वर्णन करना है। इसमें कौरवों और पाण्डवों के अठारह दिन का युद्ध-वर्णन २००००० श्लोकों में किया गया है। परीक्षित राजा के सर्पदंश से मर जाने पर उसके पुत्र सर्पों के लिए एक बड़ा यज्ञ करवाता है। उस अवसर पर वैशम्पायन यह कथा सुनाते हैं। वैशम्पायन ने यह कथा व्यासजी से सुनी थी। मुख्य कथा के अतिरिक्त महाभारत में अन्य कितने को आख्यान पाये जाते हैं। इनमें से शकुन्तला-आख्यान, मत्स्योपाख्यान, रामाख्यान, गङ्गावतरण, ऋष्यशृङ्गकथा, राजा शिवि और उसके पुत्र उशीनर आदि की कथा, सावित्री की कथा, और जलोपाख्यान आदि अनेक आख्यान हैं। इसके सिवाय १००० श्लोकों में कृष्ण की सम्पूर्ण जीवनी भी गर्भित की गई है, जिसे हरिवंश कहते हैं।

उत्तरवैदिक आख्यान-साहित्य में रामायण का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। यद्यपि इसमें महाभारत जैसे आख्यानों की राशि नहीं है, फिर भी संस्कृत साहित्य का यह "आदि काव्य" माना

---

१ दे. भारतीय संस्कृति, पृ० ११५।

गया है। इसमें आदि कवि वाल्मीकि ने जिस रामकथा का चित्रण किया गया है, उससे भारत का प्रत्येक आबाल वृद्ध परिचित है। हिन्दू समाज में दशरथ, राम, भरत और सीता आदि पुत्रप्रेम, पितृप्रेम, भ्रातृप्रेम और पतिप्रेम के आदर्श माने जाते हैं। मुख्यकथा के अतिरिक्त रामायण में बहुतसी वृन्तकथाएँ भी हैं। रावण की ब्रह्मा से वरप्राप्ति, विष्णु का राम के रूप में अवतार होना, गङ्गावतरण, विश्वामित्र और वशिष्ठ का युद्ध आदि आख्यान इसमें मनोरंजक ढंग से चित्रित किये गये हैं।

महाभारत और रामायण ही ऐसे दो महान् आख्यान ग्रन्थ हैं, जिन्हें आधार-भूमि बनाकर ही उत्तरवर्ती आख्यान-साहित्य का उत्तुङ्ग प्रासाद निर्मित किया गया है। मालतीमाधव और मुद्राराक्षस जैसी दो-चार स्वतन्त्र रचनाएँ इसका अपवाद हो सकती हैं, परन्तु अन्य सम्पूर्ण साहित्य इन दो महान् रचनाओं के प्रभाव से अछूता नहीं रहा। जहाँ किरातार्जुनीय, शिशुपालवध और नैषध जैसे महाकाव्यों की पृष्ठभूमि महाभारत की धारा से अनुप्राणित है वहाँ रघुवंश, भट्टी, रावनवहो और जानकी-हरण जैसे महाकाव्यों की आधारभूमि रामायण ही की रसवन्ती धारासे अभिषिञ्चित हो रही है।

(ख) बौद्ध धर्मकथा-साहित्य—

भारतीय आख्यान-साहित्य में बौद्ध धर्म-कथा-साहित्य भी एक अपना विशिष्ट स्थान रखता है। बौद्ध साहित्य में त्रिपिटक साहित्य का प्रमुख स्थान है। त्रिपिटक के सूत्रों को समझने के लिए और उनके अर्थों को अधिक स्पष्ट करने के लिए उनके साथ कथाएँ कहने की परिपाटी रही होगी और वे पीछे लेख-बद्ध होकर अट्ठकथाओं के रूप में आज भी उपलब्ध हैं। अट्ठकथा का मतलब है अर्थसहित कथा। इन अट्ठकथाओं में अनेक आख्यान भरे हुए हैं। उपलब्ध अट्ठकथाएँ इस प्रकार हैं[1]:-

१. समन्तपासादिका — विनय अट्ठकथा।
२. सुमङ्गलविलासिनी — दीघनिकाय अट्ठकथा।
३. पपंचसूदनी — मज्झिमनिकाय अट्ठकथा।
४. सारत्थपकासिनी — संयुक्तनिकाय अट्ठकथा।
५. मनोरथपूरिणी — अंगुत्तरनिकाय अट्ठकथा।
६. खुद्दनिकाय के ग्रन्थों पर भिन्न भिन्न नामों से अट्ठकथाएँ
७. अट्ठसालिनी — धम्मसंगणि पर अट्ठकथा।
८. सम्मोहविनोदनी — विभंग अट्ठकथा।
९. पंचप्पकरण अट्ठकथा, जिसमें निम्नलिखित पाँच अट्ठकथाएँ हैं:—
   (१) धातुकथाप्पकरण अट्ठकथा।
   (२) पुग्गलपञ्ञत्तिप्पकरण अट्ठकथा।
   (३) कथावत्थु अट्ठकथा।

---

१. दे. जातक (प्रथम खण्ड) की वस्तुकथा, पृ. सं. ६, ७ [हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग]

(४) यमकप्पकरण अट्ठकथा।

(५) पट्ठानप्पकरण अट्ठकथा।

इसके सिवाय विनय पिटक के खन्दकों में, जहाँ विभिन्न नियमोपनियम और कर्त्तव्यों का निर्देश हुआ है, अनेक आख्यानों का विधान पाया जाता है। चुल्लवग्ग में भी अनेक संवादात्मक और बुद्धचरित सम्बन्धी कथायें हैं। दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय और सुत्तपिटक में भी गौतम बुद्ध से सम्बन्ध रखने वाले बहुत से आख्यान हैं। इसी प्रकार विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरीगाथा और थेरगाथा में भी अनेक बौद्ध भिक्षु और भिक्षुणी सम्बन्धी जीवन-गाथाएँ हैं। और जातक का कथा-साहित्य तो सर्वप्रसिद्ध है। इसमें बोधिसत्त्व के पाँच सौ सैंतालीस जन्मों की जीवन-गाथाएँ ग्रथित हैं।

निःसन्देह जातक-साहित्य बहुत विशाल, उपदेशपूर्ण और मनोरञ्जक साहित्य है और उत्तरवर्त्ती आख्यान-साहित्य जहाँ कहीं इस साहित्य से प्रभावित हुआ दिखलाई देता है। जातक-साहित्य के सम्बन्ध में भदन्त आनन्द कौसल्यायन ने लिखा है[1]:—

"इन जातक कथाओं के प्रसार और प्रभाव की कथा अनन्त प्रतीत होती है। ······इस प्रकार जातक वाङ्मय चाहे उसे प्राचीनता की दृष्टि से देखें, चाहे विस्तार की और चाहे उपदेशपरक तथा मनोरञ्जक होने की दृष्टि से, वह संसार में अपना सानी नहीं रखता। जातक कथाओं के विषयों के बारे में थोड़े में कुछ भी कह सकना कठिन है। मानव-जीवन का कोई भी पहलू इन कथाओं से अछूता बचा प्रतीत नहीं होता। यही वजह है कि पिछले दो सहस्र वर्ष के इतिहास में यह जातक-कथाएँ मनुष्य-समाज पर अनेक रूप से अपनी छाप छोड़ने में समर्थ हुई हैं।"

(ग) जैन धर्मकथा-साहित्य—

जैन धर्म-कथा-साहित्य दो धाराओं में विभक्त किया जा सकता है—एक श्वेताम्बर और दूसरी दिगम्बर। इन दोनों ही परम्पराओं के वाङ्मय में जो आख्यान-साहित्य का विपुल भण्डार सन्निहित है वह बहुत ही मूल्यवान् और महत्त्व का है।

जहाँ तक श्वेताम्बर परम्परा और उसके सम्मान्य उपलब्ध अङ्गसाहित्य का सम्बन्ध है, उसमें अनेक सजीव, मनोरञ्जक और उपदेशपूर्ण आख्यानों का उल्लेख है।

आचाराङ्ग में भगवान् महावीर की जीवनगाथा है और कल्पसूत्र में तीर्थंकरों की जीवनियों का नामावली के रूप में उल्लेख है। नायाधम्मकहाओ के प्रथम श्रुतस्कन्ध के उन्नीस अध्ययनों में और दूसरे श्रुतस्कन्ध के दस वर्गों में अनेक मनोहर और उपदेशपूर्ण कथाओं का चित्रण है। भगवती के संवादों में भी शिष्यों के प्रश्नोत्तर के रूप में वीर जीवन की झाँकी विद्यमान है। सूत्रकृताङ्ग सूत्र के छठवें और सातवें अध्ययन में आर्द्रककुमार के गोशालक और वेदान्ती तथा पेढालपुत्र उदक के भगवान् गौतम स्वामी के साथ हुए संवादों का लेख है। और इसके द्वितीय खण्ड के प्रथम अध्ययन में आया हुआ पुण्डरीक का दृष्टान्त तो बहुत ही शिक्षा पूर्ण है। एक सरोवर पानी और कीचड़ से भरा हुआ है। उसमें अनेक सफेद कमल खिले हुए हैं। सबके बीच में खिला हुआ एक सफेद विशाल

---

१. दे. जातक (प्रथम खण्ड) की वस्तुकथा, पृ. २० ।

कमल बहुत ही मनोहर दिख रहा है। पूर्व दिशा से एक पुरुष आता है और इस सफेद कमल पर मोहित होकर उसे लेने जाता है, परन्तु कमल तक न पहुँच कर बीच ही में फँस कर रह जाता है! अन्य तीन दिशाओं से आये हुए पुरुषों की भी यही दुर्गति होती है। अन्त में एक वीतराग और संसार-संतरण की कला का विशेषज्ञ भिक्षु वहाँ आता है। वह कमल और इन फँसे हुए व्यक्तियों को देखकर सम्पूर्ण रहस्य हृदयंगम कर लेता है। अतः वह सरोवर के किनारे पर खड़ा होकर ही 'हे सफेद कमल, उड़कर यहाँ आ' कहकर उसे अपने पास बुलाता है और इस तरह कमल उसके पास आ गिरता है। प्रस्तुत प्रकरण में भगवान् महावीर स्वामी के द्वारा इस रहस्यपूर्ण कथा को समझाये जाने का भी उल्लेख है। भगवान ने बतलाया है कि इस पुण्डरीक दृष्टान्त में वर्णित सरोवर संसार है। पानी कर्म है। कीचड़ काम-भोग है। बड़ा सफेद कमल राजा है और अन्य कमल जनसमुदाय। चार पुरुष विभिन्न मतवादी हैं और भिक्षु सद्धर्म है। सरोवर का किनारा संघ है। भिक्षु का कमल को बुलाना धर्मोपदेश है और कमल का आ जाना निर्वाण-लाभ है।

उत्तराध्ययन में भी अनेक भावपूर्ण तथा शिक्षापूर्ण आख्यान पाये जाते हैं। नमिनाथ भगवान् की जीवन-गाथा यहाँ पहली ही बार कही गई है। बाईसवें अध्ययन में जो श्रीकृष्ण अरिष्टनेमि और राजीमती की कथा आई है, वह अनेक दृष्टियों से आकर्षक है। आठवें अध्ययन में आया हुआ कपिल का आख्यान बड़ा ही हृदयहारी है। कपिल कौशाम्बी के एक उत्तम ब्राह्मणकुल में जन्म लेता है। युवा होने पर श्रावस्ती के एक दिग्गज विद्वान् के पास विद्याध्ययन करता है। यौवन की आंधी से आहत होकर मार्गभ्रष्ट होता है और एक कामुकी के चक्र में जा फँसता है।

एक दिन इसकी प्रिया राजदरबार में जाने की इससे प्रेरणा करती है और दरिद्रता का मारा कपिल सुवर्णमुद्राओं की भीख के लिए रात के अन्तिम पहर में राज-दरबार की ओर प्रस्थान करता है; परन्तु सिपाही उसे चोर समझकर गिरफ्तार कर लेते हैं। रहस्य खुलने पर राजा के द्वारा वह मुक्त कर दिया जाता है और उससे यथेच्छ वर माँगने को कहा जाता है। कपिल तृष्णाकुल होकर राज्य मांगने के लिए उद्यत होता है, परन्तु तत्काल ही उसका विवेक जाग्रत होता है। उसका मन कहने लगता है कि दो सुवर्ण मुद्राओं को माँगने आया हुआ तू संपूर्ण राज्य की चाह करने लग गया औ फिर सम्पूर्ण राज्य के मिलने पर भी तुझे आत्म-तोष हो जावेगा? वह समस्त परिग्रह छोड़कर साधु हो जाता है। और राजा तथा उपस्थित दरबारी लोगों को आश्चर्य में डाल देता है। इसके सिवाय इस ग्रन्थ में चोर का,[1] गाड़ीवान का,[2] और तीन व्यापारियों[3] के दृष्टान्त, हरिकेश तथा ब्राह्मण के[4], पुरोहित और उसके पुत्रों के[5], भगवान पार्श्वनाथ और महावीर के शिष्यों के संवाद[6] मणिकाञ्चन-योग की तरह प्रकाशमान हैं।

उपासकदसाङ्ग के दस अध्ययनों में आनन्द, कामदेव, चुलनीपिता, सुरादेव, चुल्लशतक, कुंड-कोलिक, सद्दालपुत्र, महाशतक, नन्दिनीपिता और शालिनीपिता, इन दस श्रावकों की दिव्य जीवन-गाथाओं का चित्रण है, जो सर्वांशतः संसार को न छोड़ कर अंशतः मोक्षमार्ग की प्राप्ति में संलग्न रहे।

१, २, ३, ४, ५, ६, दे० उत्तराध्ययन सूत्र का क्रमशः २१, २७, २१, १२, १२ और २३ वाँ अध्ययन।

इसी प्रकार अन्तकृद्दशाङ्ग और अनुत्तरौपपादिकदशाङ्ग में संसार का अन्त करने वाले तथा अनुत्तरविमानवासी अनेक महापुरुषों और स्त्रियों की जीवनव्यापी साधनाओं और गाथाओं का मनोहर चित्रण है। और विपाकसूत्रके प्रथम श्रुतस्कन्ध के दस अध्ययनों में मृगापुत्र, उज्झित, अभग्नसेन, शकट, बृहस्पतिदत्त, नन्दिषेण, अम्बरदत्त, सोरियदत्त, देवदत्ता और अंजूदेवी की जीवनियों का, जिनमें पापकर्मों के परिणामों का निदर्शन है, वर्णन है। और द्वितीय श्रुतस्कन्ध के दस अध्ययनों में पुण्यकर्म के फल दिखलाने वाली सुबाहु से सम्बन्धित दस जीवन-गाथाओं का उल्लेख है। इसी प्रकार उत्तराध्ययननिर्युक्ति, दशवैकालिकनिर्युक्ति, आवश्यकनिर्युक्ति और नन्दिसूत्र में भी अनेक शिक्षाप्रद और भावपूर्ण आख्यान पाये जाते हैं।

उत्तरवर्ती आख्यान-साहित्य में इसी परम्परा से सम्बन्ध रखनेवाले विमलसूरि का पउमचरिय, लक्ष्मणगणि का सुपार्श्वचरित, गुणचन्द्र का महावीर चरिय, हरिभद्र की समराइच्चकहा, हरिवंश, प्रभावकचरित, परिशिष्ट पर्व, प्रबन्धचिन्तामणि और तीर्थकल्प जैसे अनेक आख्यान ग्रंथ हैं, जिनमें धर्म, शील, संयम, तप, पुण्य और पापके रहस्य के सूक्ष्म विवेचन के साथ मानव-जीवन और प्रकृति की सम्पूर्ण विभूति के उज्वल चित्र बड़ी निपुणता के साथ अङ्कित पड़े हुए हैं।

इसी प्रकार जब हम दूसरी दिगम्बर-परम्परा और उसके धर्म-कथा साहित्य की गंभीर धारा की ओर दृष्टिपात करते हैं तो यहाँ भी हमें जिस आख्यान-साहित्य के दर्शन करने का अवसर प्राप्त होता है वह भी भारतीय आख्यान-साहित्य में कम महत्त्व का नहीं है। दिगम्बरपरम्परा, श्वेताम्बर-परम्परा सम्बन्धी उपलब्ध अङ्ग-साहित्य को स्वीकार नहीं करती है। उसकी दृष्टि में अन्य द्वादशाङ्ग-साहित्य लुप्त हो चुका है। लुप्तप्राय अङ्गज्ञान का कुछ अंश ही शेष रहा है जो षट्खण्डागम, कसाय-पाहुड तथा महाबन्ध में सुरक्षित है। फिर भी प्राचीन ग्रन्थों में[1] इस बात का उल्लेख मिलता है कि दिगम्बरपरम्परा के अङ्ग साहित्य में भी अनेक आख्यान पाये जाते थे।

ज्ञातृधर्मकथाङ्ग में अनेक प्रकारके शिक्षाप्रद आख्यान थे। अन्तकृद्दशाङ्ग में भगवान् महावीर के तीर्थकाल में नमि, मंतग, सोमिल, रामपुत्र, सुदर्शन, यम, वाल्मीक और वलीक आदि जिन दस महापुरुषों ने संसार-बन्धन का उच्छेद करके निर्वाण लाभ किया था उनका चरित्र-चित्रण था। इसके अतिरिक्त अन्य तेईस तीर्थकरों के तीर्थकाल में भी जो जो दस प्रसिद्ध महापुरुष कर्म-बन्धन से मुक्त हुए थे और जिन्होंने दारुण उपसर्गों पर विजय पायी थी उनकी जीवन-गाथाओं का उल्लेख था।

इसी प्रकार अनुत्तरौपपादिक दशाङ्ग में भी अनुत्तर विमानवासी ऋषिदास, धन्य, सुनक्षत्र, कार्तिक, नन्द, नन्दन, शालभद्र, अभय, वारिषेण और चिलातपुत्र के उन भाव-पूर्ण आख्यानों का उल्लेख था जो भगवान् महावीर के तीर्थकालीन थे और जिन्होंने भयंकर दस दस उपसर्गों पर विजय प्राप्त की थी। इसके सिवाय इस अङ्ग में शेष तेईस तीर्थकरों के समय में भी जो जो दस प्रसिद्ध महापुरुष इस प्रकार के घोर उपसर्गों पर विजय प्राप्त करके अनुत्तरवासी हुए थे, उनके आकर्षक आख्यानों का भी विशद और विस्तृत वर्णन था।

---

१. दे० तत्त्वार्थराजवार्तिक पृ० ५१।

[1]उपलब्ध साहित्य में आचार्य कुन्दकुन्द के भावप्राभृत में बाहुबलि, मधुपिङ्ग और वशिष्ठमुनि, बाहु और दीपायन तथा शिवकुमार और भव्यसेन, आदि के भाव-पूर्ण आख्यानों का उल्लेख मिलता है। बाहुबलि निःसङ्ग होकर भी मान कषाय के कारण कुछ वर्षों तक कलुषित चित्त बने रहे। [2]मधु-पिङ्ग नाम के मुनिराज अपरिग्रही होकर भी निदान के कारण द्रव्यलिङ्गी बने रहे। इसी निदान के कारण वशिष्ठमुनि[3] की भी बड़ी दुर्गति हुई। [4]बाहु ने मुनि होकर भी अपने क्रोध से दण्डक राजा के नगर को भस्म किया और फलतः रौरव नाम के नरक में जाना पड़ा। दीपायन[5] भी द्वारका नगरी को भस्म करके अनन्त संसारी बने। भावश्रमण शिवकुमार[6] युवतियों से वेष्टित रहने पर भी विशुद्ध चित्त बने रहे और आसन्न भव्य भी। भव्यसेन[7] मुनिराज बारह अङ्ग और चौदह पूर्व के पाठी होने पर भी सम्यक्त्व के बिना भावश्रमण नहीं बन सके। शील पाहुड में सात्यकिपुत्र[8] की कथा का चित्रण है। इसी प्रकार तिलोयपण्णत्ति में ६३ शलाका महापुरुषों की जीवनी से सम्बन्ध रखनेवाली मौलिक घटनाओं का वर्णन है। वट्टकेर के मूलाचार (२, ८६-७) में एक इस प्रकार का आख्यान है, जिसमें महेन्द्रदत्त के एक ही दिन मिथिला में कनकलता आदि स्त्रियों की और सागरक आदि पुरुषों की हत्या करने का उल्लेख है। [9]शिवार्य की आराधना में भी सुरत की महादेवी, गोरसंदीव मुनि और सुभग ग्वाला आदि के अनेक प्रकार के सुन्दर आख्यान हैं, जिनका विस्तृत रूप हरिषेण और प्रभाचन्द्र के कथाकोषों में देखने को मिलता है[10]। समन्तभद्र स्वामी के रत्नकरण्डश्रावकाचार में भी सम्यक्त्व के प्रत्येक अङ्ग के पालन करने में प्रसिद्धि प्राप्त अंजनचोर, अनन्तमती, उद्दायन, रेवती, जिनेन्द्र-भक्त, वारिषेण, विष्णुकुमार और वज्रकुमार आदि के आख्यानों का तथा व्रत पालन करने और पापाचरण करने में प्रसिद्धि प्राप्त स्त्री और पुरुषों की जीवनियों के उपदेशपूर्ण वर्णन हैं। उस मेंढक की कथा का भी उल्लेख है जो भगवान् महावीर की पूजा के लिए प्रस्थान करता है और रास्ते में श्रेणिक राजा के हाथी के पैर के नीचे दबकर तुरन्त महर्द्धिकदेव हो जाता है। वसुनन्दि के उपासकाध्ययन में भी सम्यक्त्व के अङ्गों के पालन करने में प्रसिद्ध हुए प्राणियों की और प्रसिद्ध सप्त-व्यसन सेवियों के आख्यानों का केवल नामरूप से उल्लेख है।

इस परम्परा का पुराण, महाकाव्य और चरितकाव्य की धारा से सम्बन्ध रखनेवाला अन्य भी साहित्य है, जो विविध आख्यान-उपाख्यानों से परिपूर्ण है। जिनसेनाचार्य का आदिपुराण, गुणभद्र का उत्तरपुराण, पुष्पदन्त का महापुराण (अपभ्रंश), हरिश्चन्द्र का धर्म-शर्माभ्युदय और जीवन्धरचम्पू, वीरनन्दि का चन्द्रप्रभचरित, सोमदेव का यशस्तिलकचम्पू, जिनसेन का हरिवंश, रविषेण का पद्मचरित और वादीभसिंह का गद्यचिन्तामणि और अर्हद्दास

---

१. भावप्राभृतम्, गा० ४४। २. भावप्राभृतम्, गा० ४५। ३. भावप्राभृतम्, गा० ४६। ४. भावप्राभृतम्, गा० ४६। ५. भावप्राभृतम्, गा० ५०। ६. भावप्राभृतम्, गा० ५१। ७. भावप्राभृतम्, गा० ५२। ८. षट्प्राभृ-तादिसंग्रहः (शीलप्राभृतम्) गा० ५१। ९. मूलाराधना आ० ६, गा० १०६१, ६१५, ७५६ (सखाराम नेमचन्द्र ग्रन्थमाला, सोलापुर) १०. दे०, बृहत्कथाकोष डा० ए० एन० उपाध्ये द्वारा संपादित और सिंघी जैन सीरीज द्वारा प्रकाशित, की महत्त्वपूर्ण अंग्रेजी प्रस्तावना।

की पुरुदेवचम्पू आदि इस प्रकार का साहित्य है जिसमें पाये जानेवाले आख्यान और दृष्टान्त कथाएँ 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के अद्भुत आदर्श की ओर संकेत कर रही हैं।

हरिषेण, नेमिदत्त और श्रुतसागर आदि के विभिन्न कथाकोषों में आख्यानों का ही अटूट वैभव छिपा हुआ है। इसके अतिरिक्त तामिल और कन्नड़ भाषा का जैन आख्यान साहित्य भी भारतीय आख्यान-साहित्य की एक निधि है।

२. नीतिकथा-साहित्य Didactive Tales.

भारतीय आख्यान-साहित्य में नीति-कथा-साहित्य का भी अपना महत्त्व का स्थान है। नीति-कथा-साहित्य का प्रधान लक्ष्य सदाचार, राजनीति और व्यवहारशास्त्र का परिज्ञान कराते हुए सरल और मनोरञ्जक पद्धति से धर्म, अर्थ और काम को छोटी-मोटी बातों का निर्देश करना है। कोरमकोर उपदेश या सदाचार शास्त्र से हृदय पर वह बात अङ्कित नहीं होती जो कथा के पुटपाक से प्रभावित होकर चिर समय तक के लिए मानव-हृदय पर अपनी छाप छोड़ने में समर्थ होती है। नीति कथा-साहित्य का प्रमुख आदर्श यही है। मानव-जीवन को सफलता के साथ व्यतीत करने के लिए, उसे समुन्नत, सर्वश्रेष्ठ तथा लोकोपकारी बनाने के लिए जिन बातों की प्रतिदिन आवश्यकता पड़ती है और जिन बातों से मायावी तथा वंचकों का इन्द्रजाल उसे अपने में उलझा नहीं पाता, नीति-कथाओं में इन्हीं बातों का उपदेश रोचक ढंग से दिया गया है।

नीति-कथाओं के प्रमुख-पात्र पशु-पक्षी हैं और अपनी कहानियों में ये सम्पूर्ण व्यवहार मनुष्य की ही भांति करते हुए देखे जाते हैं। हास्य-रुदन, प्रेम-कलह, चिन्ता-उत्कण्ठा, हर्ष-विषाद, युद्ध-सन्धि, उपकार-अपकार आदि सारे व्यवहार मनुष्यों की तरह होते हैं। और इन्हीं पशु-पक्षियों की कहानियों में व्यवहार, राजनीति, सदाचार के गूढ से गूढ मन्त्रों का प्रतिपादन बड़े ही स्वाभाविक ढंग से कर दिया गया है!

नीति-कथाओं की एक और प्रमुख विशेषता है और वह यह है कि इसकी एक प्रधान कथा के अन्तर्गत अनेक गौण कथाएँ भी आई हुई हैं। प्रधान कथा के पात्र जब कोई विस्मयजनक बात कह जाते हैं तो उसके समर्थन में वे कुछ अन्य अवान्तर कथाओं का उपयोग करते हुए देखे जाते हैं।

नीति-कथाओं की शैली बड़ी ही प्राञ्जल, सुबोध और मुहावरेदार होती है। जहाँ इनके द्वारा राजनीति और सदाचार की उपयोगी शिक्षा मिलती है वहां संस्कृत साहित्य की सजीव, सुकुमार और मनोरञ्जक शैली के आदर्शरूप की उपलब्धि प्रस्तुत नीति-कथा-साहित्य ही की विशेषता है। कथाओं का वर्णन गद्य में है, किन्तु कथागत शिक्षा और उपदेश का समावेश पद्यों में किया गया है। कथा का आरम्भ गद्य से होता है और समाप्ति पद्य से। बीच में गद्य पद्य दोनों का प्रयोग होता रहता है। हाँ पद्यों का उपयोग प्रायः उन्हीं स्थलों में हुआ दृष्टिगोचर होता है जहां पात्र कुछ गंभीर बात कहते हैं और उन्हें उसके समर्थन की अपेक्षा पड़ती है। इन नीति कथाओं में ललित लोकोक्तियाँ, दिव्यदृष्टान्त और मधुर मुहावरों के पदे पदे दर्शन मिलते हैं। सुकुमार-मति बालक भी इन कथाओं को पढ़ कर अनायास दुर्लभ और मूल्यवान् ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं।

सृष्टि के प्रारंभ से ही भारतीय जन प्रकृति-प्रेमी रहे हैं। प्रकृति के रहस्य का साक्षात्कार प्रकृति की ही सहायता से करना उनकी प्रमुख विशेषता रही है। यही कारण है जो बालकों के शिक्षण में भी हमें उनकी इस विशेषता का उपयोग किया गया दिखलाई देता है। पशुपक्षियों के दृष्टान्त द्वारा व्यावहारिक और सदाचार के शिक्षण की पद्धति सुदूर पूर्व वैदिक-काल में प्रयुक्त होकर आज तक चली जा रही है।

ऋग्वेद में पाई जाने वाली मनु और मछली की कथा का हम पहले संकेत कर आये हैं। छान्दोग्यउपनिषद् में दृष्टान्त के रूप में उद्गीथ श्वान का आख्यान वर्णित है। पुराणों में भी नीति कथाओं के वर्णन हैं और महाभारत में भी विदुर के मुख से अनेक नीति-कथाएँ वर्णित कराई गई हैं। तृतीय शताब्दी ई. पू. के भारहुत (Bharhut) स्तूप पर अनेक नीति कथाओं के नाम उत्कीर्ण हैं[१]। बौद्धों के जातक में अनेक नीति-कथायें हैं और जैन कथा साहित्य भी नीति-कथाओं से अछूता नहीं है।

उपलब्ध नीति-कथा साहित्य में पञ्चतन्त्र और हितोपदेश का बड़ा ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनमें से पञ्चतन्त्र तो बहुत ही प्राचीन है। इसमें राजनीति और व्यवहार की बड़ी ही उपयोगी शिक्षा दी गई है। महिलारोप्य नगर के राजपुत्रों को नीतिशास्त्र का पण्डित बनाने की दृष्टि से विष्णुशर्मा ने इसका प्रणयन किया था। इसके पाँच तन्त्र (भाग) है :—मित्र-भेद, मित्रलाभ, काकोलूकीय, लब्धप्रणाश और अपरीक्षित कारक। इन पाँचो भागों में जो प्रधान कथाएँ और गौण कथाएँ दी हुई हैं, वे बड़ी ही शिक्षाप्रद और रोचक हैं। मानव-जीवन के गुण दोषों-भूलों और शोधों का जो इनमें सूक्ष्म और सरस चित्रण हुआ है वह बड़ा ही प्रभाव-पूर्ण है।

पञ्चतन्त्र का रचना-काल ३०० ई. के लगभग माना जाता है। इसकी कथाओं का विश्वव्यापी प्रचार हुआ है। अबतक भारत के बाहर लगभग ५० भाषाओं में इस ग्रन्थ के २५० विभिन्न संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं।[२]

हितोपदेश भी पञ्चतन्त्र ही की तरह नीतिकथा-ग्रन्थ है। इसकी कथाएँ और सूक्तियाँ भी नीति-शास्त्र का उतना ही बोध कराती हैं जितना पञ्चतन्त्र की। सम्पूर्ण ग्रन्थ चार भागों में विभक्त है:— मित्रलाभ, सुहृद्भेद, विग्रह और संधि। इसकी ४३ कथाओं में से प्रत्येक से हितकर उपदेश टपक रहा है। इसकी भाषा पञ्चतन्त्र से भी सरल और सुन्दर है।

३. लोक-कथा-साहित्य Popular Tales

नीतिकथा-साहित्य की तरह लोक-कथा साहित्य का भी भारतीय आख्यान साहित्य में एक विशिष्ट स्थान है। लोक कथा-साहित्य का प्रधान लक्ष्य मनोरंजन है और इसके कथा पात्र पशु-पक्षी न होकर मनुष्य रहते हैं, जब कि अन्य लक्ष्य और विशेषताओं से नीति-कथा-साहित्य और लोक-कथा-साहित्य में कोई असमानता नहीं है

---

१ दे०, श्री मेकडानल की 'इन्डियाज़ पास्ट' India's Past पृ. ११७।

२ दे०, 'संस्कृत साहित्य की रूपरेखा' पृ. ३००।

लोक-कथाओं का सबसे प्राचीन संकलन गुणाढ्य की बृहत्कथा में माना गया है। कहा जाता है कि गुणाढ्य ने अपने समय की प्रचलित लोक-कथाओं को संकलित कर बृहत्कथा का रूप दिया था।

बृहत्कथा का नायक महाराज उदयन का राजकुमार है। उसकी पत्नी मदनमञ्जूषा को मानसवेग हर ले जाता है। राजकुमार अपने विश्वस्त गोमुख मन्त्री की सहायता से उसकी प्राप्ति का प्रयत्न करता है। बृहत्कथा की मूल कथा वस्तु यही है।

मूल बृहत्कथा पैशाची प्राकृत में थी। पैशाची भाषा या तो आधुनिक दर ही की पूर्वज भाषा थी या उज्जैन के पास की एक बोली[1]। यह कितनी विशाल थी इस सम्बन्ध का अब कोई भी साक्षात् प्रमाण नहीं है हाँ, दण्डी[2], सुबन्धु[3], बाण[4], धनञ्जय[5], त्रिविक्रमभट्ट[6] और गोवर्धनाचार्य[7] जैसे अनेक विद्वानों ने गुणाढ्य की इस बृहत्कथा का अपनी रचना में आदर के साथ उल्लेख किया है।

बृहत्कथा यद्यपि आज अपने मौलिकरूप में उपलब्ध नहीं है फिर भी उसके तीन संस्कृत रूपान्तर आज भी विद्यमान पाये जाते हैं:—(१) नेपाल के बुद्ध स्वामीकृत बृहत्कथा श्लोक-संग्रह (२) क्षेमेन्द्रकृत बृहत्कथामञ्जरी और (३) सोमदेवकृत कथासरित्सागर।

बृहत्कथाश्लोकसंग्रह की रचना आठवीं या नवमी शताब्दी के लगभग मानी जाती है। यह रचना भी आंशिक रूप में ही उपलब्ध है। वर्तमान रूप में २८ सर्ग तथा ४५२४ पद्य हैं। भाषा में जहाँ कहीं प्राकृतपन भी लक्षित होता है जो मूल स्रोत बृहत्कथा से रूपान्तरित होने का सीधा संकेत करता है।

बृहत्कथामञ्जरी की रचना १०३७ ई में हुई। इसके रचयिता क्षेमेन्द्र काश्मीर के राजा अनन्त (१०२९–१०६४ ई०) के आश्रित थे। इसमें ७,५०० श्लोक हैं। सोमदेवकृत कथासरित्सागर एक सुप्रसिद्ध और महत्त्वपूर्ण कथासंग्रह है। यह संग्रह १०७० ई. के लगभग लिखा गया। इसमें १२४ तरङ्गों और २८२००० पद्य हैं। कवि ने अपनी रचना का आधार गुणाढ्यकृत बृहत्कथा बतलाई है[8]। इस संग्रह में हृदयंगम शैली में लिखे गये अनेक मनोरञ्जक और सरस आख्यान पाये जाते हैं।

बृहत्कथा के इन रूपान्तरों के सिवाय अन्य-कथा संग्रह भी लोक-कथा-साहित्य की श्रीवृद्धि कर रहे हैं। वेतालपञ्चविंशतिका एक इसी प्रकार का कथासंग्रह है। इस संग्रह में एक भूत उज्जैन के राजा विक्रमादित्य को पहेलियों के रूप में पच्चीस कथाएँ सुनाता है। सभी कथाएँ मनोरंजक शैली में वर्णित की गई हैं। इसके दो संस्करण उपलब्ध होते है। एक शिवदास का है, जो गद्यपद्य दोनों में है और दूसरा जंभलदत्त का है जो केवल गद्यमय है।

सिंहासनद्वात्रिंशिका भी इसी कोटि का कथासंग्रह है इस संग्रह में राजा विक्रम के सिंहासन की ३२ पुत्तलिकाएं राजा भोज को एक एक कहानी सुनाकर उड़ जाती हैं। ये कहानियां भी मनोरंजक

---

१ दे०, भारत भूमि और उसके निवासी, (श्री जयचन्द्र विद्यालङ्कार) पृ. सं. २४६। २ काव्यादर्श, १।३८। ३ वासवदत्ता (सुबन्धु)। ४ हर्षचरितम् (प्रस्तावना), पृ. १७। ५ दशरूपक, १।६८। ६ नलचम्पू, १।१४। ७ आर्यासप्तशती, पृ. १३। ८ प्रणम्य वाचं निःशेषपदार्थोद्योतदीपिकाम्। बृहत्कथायाः सारस्य संग्रहं रचयाम्यहम ॥ दे०, बृहत्कथासागर, पृ. १ पद्य ३।

और आकर्षक शैली में लिखी गई हैं। सभी कहानियां राजा भोज को सुनाई गई हैं। अतः इस संग्रह का रचना-काल भोज राजा के बाद का ठहरता है। सिंहासन-द्वात्रिंशिका के द्वात्रिंशत्पुत्तलिका और विक्रमचरित भी उपनाम है। इसके तीन प्रकार के संस्करण उपलब्ध हैं—एक गद्य में है, दूसरा पद्य में है और तीसरा गद्यपद्यमय है।

शुकसप्तति भी लोक-कथा-साहित्य का इसी प्रकार का मनोरंजक कथासंग्रह है। इसमें ७० लोकप्रिय और हृदयहारी कथाएँ हैं। ये समस्त कथाएँ एक शुक (तोता) के द्वारा कहीं गई हैं। मदनसेन नाम का एक युवक अपनी पत्नी से अत्यधिक स्नेह करता है। कार्यवशात् उसे घर छोड़कर प्रवास में जाना पड़ता है। उसकी पत्नी के लिए यह पति-वियोग असह्य हो जाता है और उसकी इस पीड़ा को दूर करने की दृष्टि से तोता प्रत्येक रात उसे एक एक विनोदपूर्ण कहानी सुनाता है। उसका क्रम लगातार ७० दिनों तक चलता है और इसके बाद मदनसेन घर वापिस आ जाता है। शुकसप्तति के भी तीन संस्करण पाये जाते हैं। इसका रचना काल चौदहवीं शताब्दी के पूर्व का अनुमानित किया जाता है।

पुरुषपरीक्षा भी इसी कोटि का कथा संग्रह है। इसके रचयिता मैथिल कवि विद्यापति हैं और रचना काल पन्द्रहवी शताब्दी। इसमें नीति और राजनीति से सम्बन्ध रखने वाली रोचक कथाएँ हैं। शिवदास के कथार्णव में भी चोरों और मूर्खों की ३५ कथाएँ हैं। भोज प्रबन्ध में भी अनेक महाकवियों की मनोरंजक दन्तकथाएँ वर्णित हैं। आरण्ययामिनी और ईसब्नीति कथा भी इसी प्रकार के संग्रहात्मक आख्यान-ग्रन्थ हैं।

चरित्रसुन्दर का महीपालचरित[1] बहुत ही रोचक कथाओं से भरा हुआ है। इसका नायक महीपाल विशुद्ध काल्पनिक और मनोरञ्जक कहानी गढ़ने वाला है। महीपाल समस्त कलाओं में पारंगत है और उसने अपनी इस कला-कुशलता का अनेक गंभीर परिस्थितियों के सुलझाने में पूरा परिचय दिया है। उदाहरण के लिए एक यक्ष एक स्त्री के वास्तविक पति का रूप बना लेता है। दोनों इस स्त्री के लिए झगड़ते हैं और स्त्री भी अपने वास्तविक पति को नहीं पहिचान पाती है। अन्त में चरित-नायक महीपाल इस समस्या को सुलझाता है। वह एक पानी का घड़ा मँगवाता है और उन दोनों झगड़ने वालों से कहता है कि जो इस घड़े में बैठ जावेगा उसी की यह स्त्री समझी जावेगी। यक्ष अपनी माया से घड़े में बैठ जाता है और उसे कल्पित पति करार दिया जाता है।

एक बार महीपाल अपने विश्वासघाती मन्त्री के द्वारा समुद्र में गिरा दिया जाता है, उस समय वह लम्बी मछली की पीठ के सहारे तैरता हुआ किनारे लगता है और अपने जीवन की रक्षा करता है। वहां उसे एक सुन्दर स्त्री और एक मायामय पलंग की प्राप्ति होती है, जो उसे उसको इच्छानुसार जहाँ-कहीं भी ले जा सकता है। एक जादू की छड़ी मिलती है जो उसे अदृश्य बना देती है और एक ऐसा मन्त्र मिलता है जिसके सामर्थ्य से वह किसी भी वस्तु को ठीक ठीक समझ सकता है।

---

१. श्री हीरालाल हंसराज जामनगर (१९०९ में) द्वारा सम्पादित। दे०, विन्टरनिट्ज की 'ए हिस्ट्री आफ इण्डियन कल्चर' (द्वितीय भाग) पृ० ५३६, ५३७।

एक बार महीपाल कुब्ज बन जाता है और अपने को फलित ज्योतिषी के रूप में प्रसिद्ध करता है। वह एक पुस्तक अपने हाथ में लेता है और बतलाता है कि निर्दोष जन्म वाला मनुष्य ही इसे पढ़ सकता है, व्यभिचार जन्मा नहीं। राजा, पुरोहित और प्रधान मन्त्री इस पुस्तक को देखते हैं। इनमें से कोई भी यह पुस्तक नहीं पढ़ पाता है, परन्तु पढ़ने का प्रदर्शन हर एक करता है और रचना के स्पष्ट लेख की प्रशंसा भी करता है। इसके सिवाय महीपाल इतना कला-कुशल है कि वह हाथी तौल सकता है और समुद्र को भी स्थानान्तरित कर सकता है। महीपाल अन्त में जैन साधु हो जाता है और मुक्ति-लाभ करता है।

प्रस्तुत चरित चौदह सर्गों में समाप्त हुआ है और इसका रचना-काल पन्द्रहवीं शताब्दी अनुमानित किया जाता है।

उत्तम (कुमार) चरितकथानक[1] भी एक इसी कोटि की मनोरञ्जक रचना है। प्रस्तुत कथानक में अनेक आश्चर्यपूर्ण और साहसिक घटनाओं का चित्रण है और इस प्रकार प्रत्येक कथानक जैन धर्म के किसी न किसी पवित्र आदर्श की ओर संकेत करता है। इसकी रचना गद्य-पद्यमय है। भाषा संस्कृत है, किन्तु कतिपय प्रान्तीय भाषा के शब्दों का प्रयोग इस बात को सूचित करता है कि इस कथानक की रचना गुजरात में हुई है।

पापबुद्धि-धर्मबुद्धि-कथानक[2] भी एक विनोदपूर्ण धार्मिक रचना है। प्रस्तुत कथानक में पाप-बुद्धि और धर्मबुद्धि की जीवन गाथा वर्णित की गई है। पाप-बुद्धि राजा केवल शक्ति और धन में ही विश्वास करता है, धार्मिक आचरण का कोई सत्फल मिलता है, इस सम्बन्ध में उसे जरा भी श्रद्धा नहीं है। परन्तु इसके प्रतिकूल इसका मन्त्री धर्मबुद्धि, जिसने पूर्व जन्म में धर्माचरण करके खूब पुण्य कमाया था, जादू का अनेक चीजों की सहायता से अटूट धन की प्राप्ति और अपने अद्भुत सौभाग्यशाली होने का प्रदर्शन करता है। दोनों में बड़ी ही प्रतिस्पर्धा चलती है और अन्त में एक जैन साधु उन दोनों के पूर्व भव सुना कर उन्हें प्रतिबुद्ध करते हैं और राजा तथा मन्त्री दोनों ही जैन साधु हो जाते हैं।

जिनकीर्ति का चम्पक श्रेष्ठि कथानक[3] भी एक काल्पनिक और मनोरञ्जक रचना है। इस कथानक में तीन रोचक कथाओं का वर्णन है। पहली कथा महाराज रावन की है, जो व्यर्थ ही भाग्य की रेखाओं को अन्यथा करने का प्रयत्न करता है। दूसरी उस भाग्यशाली बालक की है,

---

१. इस कथानक का गद्य भाग श्री ए० वेबर के द्वारा जर्मन भाषा में सम्पादित और अनूदित हो चुका है। इसका चारुचन्द्र विरचित और 'उत्तरकुमारचरित' नामक पद्यबद्ध रूपान्तर श्री हीरालाल हंसराज (जामनगर) द्वारा सम्पादित हो चुका है। दे०, 'ए हिस्ट्री आफ इण्डियन कल्चर' (द्वि० भा०) पृ० ५३८।

२. यह कथानक श्री ई० लवारिनी द्वारा इटालियन भाषा में अनूदित और सम्पादित हो चुका है। दे०, 'ए हिस्ट्री आफ इण्डियन कल्चर।' (द्वि० भा०), पृ० ५३८।

३. यह कथानक भी श्री हरटेल द्वारा अंग्रेजी में अनूदित और सम्पादित हो चुका है। इसका एक अनुवाद हो चुका है। दे०, 'ए हिस्ट्री आफ इण्डियन कल्चर' (द्वि० भा०), पृ० सं० ५३९।

जो एकदम अन्तिम क्षण में प्राणनाशक पत्र को बदलकर अपने प्राण बचाता है और तीसरी उस व्यापारी की है जो जीवन भर दूसरों को ठगता रहता है और अन्त में एक वेश्या के द्वारा स्वयं ही ठगाया जाता है। इस कथानक का रचना काल पन्द्रहवीं शताब्दी का मध्य भाग अनुमान किया जाता है।

जिनकीर्ति की एक इस ही कोटि की रचना भी उपलब्ध है और उसका नाम है 'पाल-गोपाल-कथानक।' प्रस्तुत कथानक में भी मनोरञ्जक कहानियों और आख्यानों के सुन्दर चित्र उपस्थित किये गये हैं। उन दो भाइयों की कथा, जो देशाटन के लिये निकलते हैं, अनेक गम्भीर घटनाओं का साहस के साथ सामना करते हैं और अन्त में प्रतिष्ठा तथा यश दोनों ही प्राप्त करते हैं, बहुत ही रोचक है। उस स्त्री की कथा भी कम मनोरंजक नहीं है जो एक पवित्र हृदय युवक का शील-भङ्ग करना चाहती है और जब वह अपने प्रयत्न में सफल नहीं होती है तो उसे इस रूप में लांछित करती है कि इसने मेरा शील भङ्ग करना चाहा था।

अघटकुमार-कथा[1] भी एक ऐसी ही मनोरञ्जक कहानी है। इसमें राजकुमार अघट की कथा को कल्पना प्रधान और विनोदपूर्ण शैली में ग्रथित किया गया है और दिखलाया गया है कि किस प्रकार एक भाग्यशाली कुमार एक प्राणघातक पत्र को परिवर्तित करके अपने जीवन की रक्षा करता है। इस कथा के दो अन्य संस्करण भी मिलते हैं। एक बहुत लम्बा है और दूसरा छोटा है। एक गद्य में है और दूसरा पद्य में।

अमरसूरि का अम्बद-चरित[2] एक जादू से भरी हुई विनोद-पूर्ण रचना है। अम्बद एक बड़ा भारी जादूगर है। वह आकाश में उड़ सकता है. मनुष्यों को जानवर बना सकता है और उन्हें फिर से मनुष्य बना सकने की सामर्थ्य रखता है तथा स्वयं भी इच्छानुसार आकृति बना सकता है। अम्बद अपनी जादू की कलाओं से वृद्धा गोरखा के सात कठिन कामों में सफलता प्राप्त करता है। बत्तीस सुन्दर स्त्रियों को जीतता है और अपरिमित सम्पत्ति तथा राज्य भी प्राप्त करता है। अम्बद शैव से जैन बनता है। एक साधारण धार्मिक वृत्ति का अम्बद साधु हो जाता है, अन्त में समाधिपूर्वक मरण करता है और स्वर्ग में पहुंचकर स्वर्गीय विभूति का स्वामी बन जाता है प्रथम उपाङ्ग में भी अम्बद की कथा है, परन्तु इस कथा का रूप आधुनिक है।

ज्ञानसागर सूरि की रत्नाच्युद-कथा[3] भी एक बहुत रोचक और हृदयरञ्जक कहानियों से पूर्ण

---

१. इस कथा के पद्य भाग का जर्मन अनुवाद श्री चारलट क्रूसे द्वारा हो चुका है। और इसका संक्षिप्त पद्य भाग 'अघटकुमारचरित' के नाम से निर्णयसागर प्रेस, बम्बई (१६१७ में) द्वारा प्रकाशित हो चुका है। दे०, 'ए हिस्ट्री आफ इण्डियन कल्चर' (द्वि० भा०), पृ० ५४०।

२. यह चरित श्री हीरालाल हंसराज जामनगर द्वारा सम्पादित तथा श्री चारलट क्रूसे द्वारा जर्मन में अनूदित हो चुका है।

३. यह ग्रन्थ 'यशोविजय जैन ग्रन्थमाला' भावनगर द्वारा (१९१७ में) प्रकाशित हो चुका है और श्री हर्टेल के द्वारा जर्मन में अनूदित भी हो चुका है। दे०, 'ए हिस्ट्री आफ इण्डियन कल्चर' (द्वि० भा०), पृ० ५४१।

रचना है। इसमें एक इस प्रकार की कथा है, जिसमें अनीतिपुर नाम की नगरी, अन्याय नाम का राजा और अज्ञान नाम के मन्त्री का चरित्र चित्रण किया गया है। उस सोमशर्मन की कथा भी है जो हवाई किले बनाता है। प्रस्तुत रचना में कुछ उपदेश पूर्ण चित्र भी उपस्थित किये गये हैं, जब कि रत्नाच्युद यात्रार्थ जाने की तैयारी करता है। प्रस्तुत कथा का रचना-काल पन्द्रहवीं शताब्दी का मध्य भाग अनुमानित किया जाता है।

सम्यक्त्वकौमुदी भी एक इसी प्रकार की धार्मिक तथा मनोरञ्जक कथाओं से परिपूर्ण रचना है। इसमें सेठ अर्हद्दास अपने सम्यक्त्व लाभ की कथा अपनी आठ पत्नियों को सुनाता है। कुन्दलता को छोड़कर सभी स्त्रियां उसके कथन पर विश्वास करती हैं। सेठ की अन्य सात स्त्रियां भी अपने अपने सम्यक्त्व-लाभ की बात सुनाती हैं। कुन्दलता उनका भी विश्वास नहीं करती है। नगर का राजा उदितोदय, मन्त्री सुबुद्धि और सुपर्णखुर चोर भी छिपकर इन कथाओं को सुनते हैं। उन्हें इन घटनाओं पर विश्वास होता जाता है और राजा को कुन्दलता के विश्वास न करने पर क्रोध भी आता है। अन्त में कुन्दलता भी इन कथाओं से प्रभावित होती है। सेठ अर्हद्दास, राजा, मन्त्री, सेठ की स्त्रियां, रानी और मन्त्रिपत्नी सब के सब जैन दीक्षा ले लेते हैं। कुन्दलता भी इनके साथ दीक्षित हो जाती है। तप करके कोई निर्वाण-लाभ करता है और कोई स्वर्गों में जाता है।

मुख्य कथा के भीतर एक सुयोधन राजा की कथा भी आई है, और उसी के अन्दर अन्य सात मनोरंजक और गंभीर संकेतपूर्ण कहानियों का भी समावेश किया गया है।

हस्तिनापुर का राजा सुयोधन अपने देश में शत्रुओं द्वारा किये जाने वाले उपद्रवों के निवारणार्थ नगर से प्रस्थान करता है और अपने स्थान पर राज्य सञ्चालन के लिए यमदण्ड कोतवाल को नियुक्त कर जाता है। वापिस आता है और अपनी जनता को यमदण्ड के स्नेहपूर्ण व्यवहार से प्रभावित पाकर उसके प्राण-घात के लिए तैयार हो जाता है। राजा मन्त्री और पुरोहित से मिलकर एक ही रात में राज-कोष को स्थानान्तरित कर देता है; परन्तु कार्य की व्यग्रता वश राजा अपनी खड़ाऊँ, मन्त्री अंगूठी और पुरोहित अपना यज्ञोपवीत वहीं पर भूल आते हैं। यमदण्ड पर राज-कोष लुटवा देने का जाली अपराध लगाया जाता है और उसे वास्तविक चोर को सात दिन के अन्दर राजा के सामने उपस्थित करने का आदेश मिलता है। यमदण्ड राज-कोष की वास्तविक स्थिति का पता लगाने जाता है और उसे राजा, मन्त्री और पुरोहित की भूल से छूटी हुई वे तीनों वस्तुएँ मिल जाती हैं। उसे सच्चे चोरों का और चोरी के यथार्थ रहस्य का पता लग जाता है और वह उन तीनों ही चीजों को अपने घर ले जाकर रख आता है। राजा यमदण्ड से एक से लेकर सातवें दिन तक प्रति दिन उससे चोर के मिलने की बात पूछता है और उत्तर में वह भी राजा के प्रतिबोध के लिए प्रतिदिन नवीन नवीन व्यङ्ग्यपूर्ण किस्सा गढ़ता है और बहाना करता है कि किस प्रकार इस रोचक कथा के सुनने में ही उसका सारा समय निकल जाता है और वह चोर का पता नहीं कर पाता है। आठवें दिन उसे प्राण-दण्ड की सजा घोषित की जाती है। यमदण्ड बाध्य होकर अपने घर से उन तीनों वस्तुओं को लाता है और महाजनों के सामने रख कर

राजा, मन्त्री और पुरोहित को ही राज-कोष को लूटने वाले चोर प्रमाणित करता है। महाजन इन तीनों को ही पदच्युत कर देते हैं और तीनों स्थानों पर उन तीनों के सुयोग्य पुत्रों को प्रतिष्ठित करते हैं।

रचना की मुख्य कथा के अन्दर आयी हुई ये अन्तर्कथाएँ एक सूत्र में पिरोये गये मणियों की तरह जगमगा रही हैं। इनमें गंभीर व्यंग्य, उन्नत आदर्श, सुन्दर व्यवहार और लोक-मङ्गलकारी सिद्धान्तों का पद पद पर अटूट वैभव बिखरा हुआ है।

सम्यक्त्वकौमुदी की रचना पञ्चतन्त्र की शैली पर की गई है। कथा का प्रारंभ गद्य से होता है और सम्पूर्ण कथावस्तु चलती भी गद्य में ही है। परन्तु पात्रविशेष की गंभीर बातों का समर्थन करने के लिए बीच बीच में पद्यों का भी प्रयोग किया गया है, और ऐसा करते समय रचयिता ने 'उक्तं च' अन्यच्च', 'तथाहि' और 'पुनश्च' आदि लिखकर इनके नीचे अनेक ग्रन्थों के पद्यों को उद्धृत किया है।

इस प्रकार सम्यक्त्वकौमुदी की मूल कथावस्तु धार्मिक होकर भी अनेक काल्पनिक आख्यानों को लेकर गढ़ी गई है। शैली हृदयंगम और विनोदपूर्ण है। रचना बहुत सरल है। इसके कर्त्ता और समय का कोई निश्चय नहीं है। फिर भी श्री ए० वेबर को जो इस ग्रन्थ की १४३३ ई० की पाण्डु लिपि[1] प्राप्त हुई थी, उसके आधार पर यह तो निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि प्रस्तुत ग्रन्थ का रचना काल १४३३ ई० से आगे का नहीं है।

वादीभसिंह की 'क्षत्रचूडामणि' भी अनेक साहसिक, धार्मिक और मनोरंजक घटनाओं तथा कथाओं से परिपूर्ण उत्कृष्ट रचना है। इसके ग्यारह लम्बों में जीवंधर कुमार का सम्पूर्ण चरित्र वर्णित किया गया है। रचना के प्रायः प्रत्येक पद्य के अन्त में जो हितकर, मार्मिक, अनुभवपूर्ण और गंभीर नीति वाक्यों का प्रयोग हुआ है, उनसे इस रचना की महत्ता बहुत अधिक बढ़ गई है और उस स्थिति में यदि इसे नीति का आकर-ग्रन्थ कहा जावे तो अत्युक्ति न होगी।

जीवन्धर का पिता राजा सत्यन्धर इसके जन्म के पहले ही वासनाओं का गुलाम बन जाता है और सारा राज्यकार्य काष्ठाङ्गार नामक मन्त्री को हस्तान्तरित कर देता है। काष्ठाङ्गार के मन में पापबुद्धि जागृत होती है, वह सत्यन्धर को मार कर निष्कंटक राज्य करना चाहता है। अचानक काष्ठाङ्गार सत्यन्धर के ऊपर आक्रमण कर बैठता है और दोनों ओर से युद्ध ठनता है। सत्यन्धर इसके पहले ही अपनी गर्भिणी महादेवी को मयूर यन्त्र में बिठाकर उड़ा देता है। वह युद्धजनित हिंसा से विरक्त होकर तपस्वी हो जाता है। जीवन्धरकुमार का श्मशान भूमि में जन्म होता है और वह सेठ गन्धोत्कट के यहां पालित पोषित होता है और आर्यनन्दी के निकट शिक्षा लेकर विद्वान् बनता है। राजपुरी के नन्दगोप की गायों को भीलों के शिकञ्जे से मुक्त कराता है और श्रीदत्त की कन्या गन्धर्वदत्ता को वीणा बजाने में परास्त करके उससे विवाह करता है। एक अधमरे कुत्ते को पञ्च नमस्कार मन्त्र सुनाता है, कुत्ता तुरन्त ही मर जाता है और यमेन्द्र[1] हो जाता है, जीवन्धर गुणमाला और सुरमंजरी के चूर्ण की परीक्षा करता है, काष्ठाङ्गार के मदोन्मत्त हाथी को

---

१. दे०, 'ए हिस्ट्री आफ इण्डियन कल्चर' (द्वि० भा०) पृ० ५४१ की टिप्पणी।

वश में करके गुणमाला के प्राण बचाता है और अन्त में उसके माता पिता के अनुरोध से उसके साथ विवाह कर लेता है।

जीवन्धर के द्वारा तिरस्कृत होने से काष्ठाङ्गार का हाथी खाना पीना छोड़ देता है। काष्ठाङ्गार जीवन्धर को पकड़ लाने के लिए सेना भेजता है और जीवन्धर भी लड़ने के लिए सेना को तैयार करता है, परन्तु गन्धोत्कट उसे इस कार्य से रोकता है और पीछे से उसके हाथ बाँध कर स्वयं ही जीवन्धर को काष्ठाङ्गार के सामने विनीत वेष में उपस्थित करता है। काष्ठाङ्गार इस पर भी जीवन्धर को मार डालने की आज्ञा देता है। परन्तु यक्षेन्द्र उसे तत्काल वहाँ से उड़ा ले जाता है और उसे चन्द्रोदय पर्वत पर छोड़ता है। यक्षेन्द्र उसका क्षीर सागर के जल से अभिषेक करता है और उसे इच्छानुसार रूप वेष धारण करने, विष दूर करने और संमोहक गीत गाने के तीन मन्त्र प्रदान करता है। जीवंधर के जिनेन्द्र स्तवन से मेघ-वृष्टि होती है और वन में लगी हुई आग बुझ जाती है। वह चन्द्राभा नरेश की पद्मा पुत्री के सर्पविष को दूर करता है। राजा उसे आधा राज्य प्रदान करता है और इसके साथ पद्मा का विवाह कर देता है। उसके स्तवन से सुदूर पूर्वकाल से बन्द पड़े हुए एक सहस्रकूट चैत्यालय के किवाड़ खुल जाते हैं। ज्योतिषियों की वाणी सत्य होती है और जीवन्धर की सुभद्र सेठ की कन्या क्षेमश्री से विवाह हो जाता है। वह एक किसान को गृहस्थ धर्म का उपदेश देता है, उसे अपने बहुमूल्य वस्त्रा-भरण दे देता है और एकान्त में उसके पास आई हुई एक स्त्री के साथ बात भी नहीं करता है। हेमाभी नगरी के राजकुमारों को अपनी धनुर्विद्या का कौशल दिखलाता है और इनकी बहिन कनक-माला के साथ विवाह करता है। उसके एक सेठ के दरवाजे पर पहुँचते ही सेठ के बहुत दिन से रक्खे हुए रत्न बिक जाते हैं और वह निमित्तज्ञों की सूचनानुसार अपनी विमला कन्या का जीवन्धर के साथ विवाह कर देता है। जीवन्धर एक वृद्ध ब्राह्मण का वेष बनाता है और मधुर संगीत द्वारा सुरमञ्जरी को मुग्ध करता है। पश्चात् अपना सच्चा रूप प्रकट करता है और सुरमञ्जरी से विवाह करता है। वह चन्द्रकयन्त्र का भेदन करता है और विदेह देश की धरणीतिलका के नरेश गोविन्दराज की पुत्री लक्ष्मणा से विवाह करता है। यहीं काष्ठाङ्गार और जीवन्धर में युद्ध छिड़ता है और जीवन्धर अपने चिर-विरोधी को मारडालता है।

जीवन्धर को राज्य मिलता है और वह सुख से राज्य करने लगता है। एक दिन वसन्तो-त्सव के समय उद्यान में वह एक बन्दर की मायापूर्ण लीला देख कर संसार से विरक्त हो जाता है और भगवान् महावीर के चरणों में दीक्षा लेकर मोक्ष को प्राप्त करता है।

मुख्य कथा के अन्दर अनेक अन्तर्कथाएं भी पाई जाती हैं जो बहुत ही रोचक है। शैली इतनी मनोरञ्जक है कि पाठक का भी जी सम्पूर्ण कथावस्तु एक ही सांस में पढ़ने को चाहता है। मुख्य कथा के तीन अन्य रूपान्तर भी उपलब्ध हैं। एक कृति इसी रचना के कर्त्ता की है और वह 'गद्य-चिन्तामणि' है। दूसरा रूपान्तर महाकवि हरिचन्द्र की 'जीवन्धरचम्पू' में है। और एक रूप

'गुणभद्राचार्य' के उत्तर पुराण में है।

बौद्धों का अवदानशतक और जातकमाला तथा जैनों के बृहत्कथाकोश, परिशिष्ट पर्व और आराधनाकथाकोश आदि इसी प्रकारके कथा संग्रह हैं, जिनमें लोककथासाहित्य की विनोद पूर्ण शैली की स्वीकृति के साथ ही जीवन की उच्चतम साधना और आदर्शों की ओर भी संकेत पाया जाता है।

इस प्रकार प्रस्तुत भारतीय आख्यान-साहित्य का विश्व के साहित्य पर काफी प्रभाव पड़ा है। भारतीय कथाएँ यात्रियों, व्यापारियों और साधु-सन्यासियों द्वारा भारत से विदेशों में भी प्रचारित की गईं और विभिन्न भाषाओं के कथा साहित्य में आज भी उनके सहज रूप के दर्शन अप्राप्य नहीं हैं।

पञ्चतन्त्र का पहला अनुवाद पल्लवी भाषा में हुआ और इस अनुवादित संस्करण के आधार पर आसुरी (Syriac) और अरबी भाषाओं में इसके अनुवाद किये गये। ग्यारहवीं शताब्दी में इसका एक अनुवाद ग्रीक भाषा में हुआ और इस अनुवाद के आश्रय से लैटिन, जर्मन, स्लावेक तथा अन्यान्य युरोपीय भाषाओं में इसके अनुवाद प्रस्तुत किये गये। इसी प्रकार वेतालपञ्चविंशतिका का अनुवाद भी विभिन्न प्रान्तीय भाषाओं के साथ जर्मन और अंग्रेजी में भी हुआ है। मंगोलियन कहानी की एक पुस्तक (सिसहीकूर) में इस ग्रन्थ के अनेक अनूदित अंश पाये जाते हैं। सिंहासन-द्वात्रिंशिका के भी फारसी में, स्याम तथा मंगोलिया की भाषाओं में अनुवाद उपलब्ध हैं। शुकसप्तति का 'तूतिनामह' के नाम से फारसी में अनुवाद हुआ और इसके आधार पर अनेक भारतीय कथाओं का एशिया और यूरोप भर में प्रसार हुआ।[1] अवदानशतक का चीनी अनुवाद तीसरी शताब्दी में हो चुका था और कथासरित्सागर तथा परिशिष्ट पर्व की अनेक कथाओं के रूपान्तर चीनी कहानियों में दृष्टिगोचर होते हैं। सन्त जान की 'बरलाम एण्ड जोसफ' (Barlaam and Joasaph) नाम की ग्रीक भाषा की पुस्तक में बुद्ध का आंशिक चरित्र और अनेक जातक कथाओं के रूपान्तर पाये जाते हैं। यह ग्रन्थ लातीनी, फ्रेंच, इटालियन, स्पैनिश, जर्मन, अंग्रेजी, स्वेडिन और डच में भी प्राप्य है।[2]

इस प्रकार इस अनुवाद परम्परा द्वारा जो विदेशों में भारतीय आख्यान साहित्य का प्रसार हुआ है वह इस साहित्य की महत्ता के साथ इसकी लोकप्रियता, रोचकता और जीवन कल्याण-कारिता की ओर एक स्पष्ट संकेत कर रहा है।

४. रूपकात्मक कथा साहित्य Allegorical Tales.

भारतीय आख्यान साहित्य में रूपकात्मक साहित्य एक विशेष प्रभावपूर्ण स्थान रखता है। प्रस्तुत साहित्य में अमूर्त भावों को मूर्त रूप में चित्रित किया गया है। जब तक हृदय के अमूर्त भाव अपने अमूर्त रूप में रहते हैं वे इतने सूक्ष्म होते हैं कि इन्द्रियों के द्वारा उनका सजीव रूप में साक्षात्कार नहीं हो पाता, परन्तु ज्यों ही उन्हें रूपक और उपमा के सांचे में ढालकर मूर्त रूप दे दिया

१ दे०, 'संस्कृत साहित्य की रूप-रेखा' पृ० १०७।

२ दे०, जातक (प्रथम खण्ड) की कथा वस्तु, पृ० २९।

जाता है, इन्द्रियों के द्वारा उनका इतने सजीव रूप में प्रत्यक्षीकरण होता है कि उन्हीं भावों में एक अद्भुत शक्ति संचरित हुई प्रतीत होने लगती है। और उस समय यही भाव हृदय पर सर्वाधिक गंभीर प्रभाव छोड़ने में समर्थ होते देखे जाते हैं। काव्य में अरूपभाव के रूपविधान के प्रचलन का यही मुख्य कारण है।

इस प्रकार हम सम्पूर्ण रूपकात्मक साहित्य का सृजन अमूर्त्त का मूर्त्तविधान करने वाली शैली के आधार पर हुआ उपलब्ध पाते हैं। और जब हमारा ध्यान इस मूर्त्तविधान करने वाली शैली के उपकरणों की ओर जाता है तो रूपक, उपमा, अतिशयोक्ति, सारोपा और साध्यवसाना लक्षणा भी इस शैली के प्रमुख उपकरणों के रूप में हमारे सामने उपस्थित होते हैं। सारोपा लक्षणा[1] में उपमान और उपमेय एक समान अधिकरण वाली भूमिका में उपस्थित रहते हैं और साध्यवसाना[2] में उपमेय का उपमान में अन्तर्भाव हो जाता है। सादृश्यमूलक सारोपा की भूमिका पर रूपकालङ्कार का प्रासाद खड़ा होता है और सादृश्यमूलक साध्यवसाना की भूमिका पर अतिशयोक्ति अलङ्कार का।[3]

यद्यपि अमूर्त्त को मूर्त्तविधान करने वाली शैली का संकेत उपनिषदों,[4] बौद्धसाहित्य[5] और जैन साहित्य[6] में भी पाया जाता है, परन्तु सिद्धर्षि ने (वि० ९६२ में) 'उपमितिभवप्रपञ्चकथा' लिख कर सर्व प्रथम इस शैली की काव्यपरम्परा का सूत्रपात किया। और आज यह ग्रन्थ भारतीय

१ "सारोपाऽन्या तु यत्रोक्तौ विषयी विषयस्तथा।" दे०, काव्यप्रकाश (भाण्डारकर ओ०रि०इ०, पूना। पृ०४७।)

२ "विषय्यन्तःकृतेऽन्यस्मिन् सा स्यात् साध्यवसानिका।" दे०, काव्यप्रकाश, पृ० ४८।

३ "एवं च गौणसारोपालक्षणासंभवस्थले रूपकम्, गौणसाध्यवसानलक्षणासंभवस्थले त्वतिशयोक्तिरिति फलितम्।" दे०, काव्यप्रकाश (वामनी टीका) पृ० ५६३।

४ बृहदारण्यक उपनिषद् के उद्गीथब्राह्मण (१, ३) में और छान्दोग्य उपनिषद् (१, २) में एक रूपकात्मक आख्यायिका चित्रण है। गीता के सोलहवें अध्याय में इन्द्रियों की पुण्य तथा पापात्मक वृत्ति का दैवी तथा आसुरी सम्पत्ति के रूप में उल्लेख किया गया है।

५ जातक निदानकथा के 'अविदुरे निदान' की मार विजय सम्बन्धी आख्यायिका में और 'सन्तिके निदान' की अजपाल वादि के नीचे वाली आख्यायिका में भी रूपकात्मक शैली का स्पष्ट निदर्शन है।

६ सूत्रकृताङ्ग में रूपकात्मक शैली के संकेत मिलते है। जैनधर्म कथा-साहित्य के विवरण में रूपकात्मक शैली पर लिखे गये इस ग्रन्थ के पुण्डरीक दृष्टान्त का और उसमें प्रयुक्त रूपकमाला का उल्लेख किया जा चुका है। उत्तराध्ययन के शुष्कपत्र और बकरे का दृष्टान्त भी इसी शैली में चित्रित हुआ है। उत्तराध्ययन के नवमें अध्ययन (नमि प्रव्रज्या) में अनेक रूपकों का उल्लेख हुआ है। भगवान् नमिनाथ विरक्त होकर ज्यों ही अभिनिष्क्रमण में संलग्न होते हैं। सम्पूर्ण मिथिलानगरी में हाहाकार मच जाता है। उस समय इन्द्र ब्राह्मण का वेष बनाता है और भगवान् के पास पहुंच कर प्रश्न करता है—भगवन्, आज मिथिलानगरी में यह क्या कोलाहल सुनाई पड़ रहा है? भगवान् उत्तर में कहते हैं—आज मिथिला का पत्र पुष्पों से मनोहर एक चैत्यवृक्ष प्रचण्ड आँधी से गिरा जा रहा है, ये पक्षी शोकाकुल हो रहे हैं। इस कथानक में भगवान् नमिनाथ चैत्य वृक्ष के रूपमें तथा मिथिला की जनता पक्षियों के रूप में रूपित की गई है। उत्तराध्ययन के प्रस्तुत अध्ययन में श्रद्धारूपी नगर, संवर रूपी किला, क्षमा रूपी सुन्दर गढ़, तीन गुप्तिरूपी शतघ्नी, पुरुषार्थरूपी धनुष, ईर्यारूपी प्रत्यंचा, धैर्यरूपी तूणीर,

रूपक साहित्य का सर्वप्रथम[1] और अनुपम[2] ग्रन्थ माना जाता है। यद्यपि इसके पहले की 'मदन जुज्झ' नाम की एक रूपकात्मक संक्षिप्त अपभ्रंश-रचना भी उपलब्ध है, जिसमें उसकी रचना का काल वि० सं० ९३२ चैत्र शुक्ला त्रयोदशी गुरुवार अङ्कित है, परन्तु इसकी भाषा की प्राचीनता में सन्देह होने से उसका सर्वप्रथम रूपकात्मक ग्रन्थ के रूप में हम यहां उल्लेख नहीं कर रहे हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में जीव के संसार-परिभ्रमण की कष्ट गाथा और उसके कारणों का उपमा के सहारे बड़े ही सुन्दर ढंग से चित्रण किया गया है। भाषा संस्कृत होने पर भी बहुत सरल और प्राञ्जल है और शैली इतनी आकर्षक है कि ग्रन्थ को एक बार प्रारंभ करके अन्त तक पढ़े बिना छोड़ने को जी नहीं चाहता। ग्रन्थगत विविध विशेषताओं का निर्देश करने के लिए न यहां स्थान है और न प्रसङ्ग ही। उनका परिज्ञान तो ग्रन्थ को सम्पूर्ण बाचने पर ही हो सकता है। हम यहां इस ग्रन्थ को भारतीय साहित्य का सर्व-प्रथम रूपक ग्रन्थ बतला कर यह दिखाना चाहते हैं कि इस रूपक कथा के कर्त्ता ने अपनी रचना में स्वीकृत शैली का प्रमुख उपकरण उपमा[3] को बतलाया है और आवश्यकचूर्णि, पिण्डैषणा तथा उत्तराध्ययन के प्रसङ्गों का उल्लेख करते हुए यह भी सूचित किया है कि हमारी रचना की शैली पूर्वाचार्य-परम्परा सम्मत भी है।[4]

उत्तरवर्त्ती रूपकात्मक साहित्य की शैली के सृजन में रूपक, सारोपा और साध्यवसाना लक्षणा

तपस्यारूपी बाण और कर्मरूपी कवच आदि अनेक रूपकों का उल्लेख है। प्रस्तुत ग्रन्थ के सत्ताईसवें अध्ययन में गरयाल बैलों के साथ स्वच्छन्द प्रवृत्ति करने वाले शिष्यों की तुलना की गई है। समराइच्च कहा (हरिभद्रसूरि) का मधुबिन्दु-दृष्टान्त विशुद्ध रूपकात्मक शैली में लिखा हुआ है।

पिण्डैषणा और आवश्यक में पाये जाने वाले रूपकों का निर्देश स्वयं सिद्धर्षि ने ही अपनी 'उपमितिभव प्रपंच कथा' में किया है।

१. डा. जेकोबी ने उपमितिभवप्रपंचा की अंग्रेजी प्रस्तावना में लिखा है—"I did find something still more important: the great literary value of the U. Katha and the fact that is the first allegorical work in Indian literature."

२. सिद्धव्याख्यातुराख्यातुं महिमानं हि तस्य कः। समस्त्युपमितिर्नाम यस्यानुपमितिः कथा॥ दे०, प्रद्युम्न सूरि का समरादित्य-संक्षेप।

३. दृष्टान्तरज्ञलोकानां ज्ञानं जल्पं गमागमम्। विवाहो बन्धुतेत्यादिः सर्वा लोकस्थितिः कृता॥७८॥ सा च दुष्टा न विज्ञेया यतोऽपेक्ष्य गुणान्तरम्। उपमाद्वारतः सर्वा बोधार्थे सा निवेदिता॥ ७९॥ दे०, उपमितिभवप्रपञ्च का पीठबन्ध।

४. प्रत्यक्षानुभवात् सिद्धं युक्तितो यन्न दुष्यति। सत्कल्पितोपमानं तत् प्रत्यक्षेऽप्युपलभ्यते॥ ८०॥ तथाहि यथाऽऽवश्यके—साक्षेपं मुद्गशैलस्य पुष्कलावर्तकस्य च। स्पर्द्धा सर्पाश्च कोपाद्याः नागदत्तकथानके॥ ८१॥

तथा—पिण्डैषणाया मत्स्येन कथितं निजचेष्टितम्।
उत्तराध्ययनेऽप्येवं संदिष्टं शुष्कपत्रकैः॥ ८२॥
अतस्तदनुसारेण सर्वं यदभिधास्यते।
अत्रापि युक्तियुक्तं तद्विज्ञेयमुपमा यतः॥ ८३॥

दे०, उपमितिभवप्रपञ्चकथा का पीठबन्ध।

ही उपादन उपकरण के रूप में स्वीकृत दिखलाई देती है। प्रबोधचिन्तामणि के कर्त्ता जयशेखर सूरि ने अपने प्रबन्ध-काव्य के निर्माण में स्पष्ट रूप से सारोपा और साध्यवसाना लक्षणा[1] को प्रमुख समर्थक माना है। इसके सिवाय अपनी कल्पना और पूर्ववर्त्ती आगमों की रूपकात्मक शैली को भी अपनी प्रबन्ध-पद्धति का बीज बतलाया है।[2]

अमूर्त्त का मूर्त्तविधान करने वाली लाक्षणिक शैली में लिखा गया दूसरा ग्रन्थ कृष्णमिश्र का 'प्रबोधचन्द्रोदय' है। इसमें मोह, विवेक, ज्ञान, विद्या, बुद्धि, दम्भ, श्रद्धा, भक्ति, उपनिषद् आदि अमूर्त्त भावों को स्त्री और पुरुष-पात्रों के रूप में मूर्त्तविधान करके आध्यात्मिक अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया गया है।

प्रस्तुत नाटक के तीसरे अङ्क में क्षपणक (दिगम्बर जैनमुनि) नामक पात्र को बहुत ही घृणित और भ्रष्ट रूप में चित्रित किया है। बौद्ध भिक्षु का चित्रण भी इसी पद्धति पर किया गया है।

विभिन्न धार्मिक सिद्धान्तों के आधार पर आक्रमणात्मक साहित्यसृजन की शैली आधुनिक नहीं है।[3] संभव है, कृष्णमिश्र ने हरिभद्रसूरि का 'धूर्ताख्यान' और हरिषेण तथा अमितगति की 'धर्मपरीक्षाओं' का वाचन किया हो और उसके पश्चात् 'प्रबोधचन्द्रोदय' लिखने की तरङ्ग उनके मनमें उठी हो। जो कुछ हो, 'प्रबोधचन्द्रोदय' की यह आक्रमणात्मक शैली किसी प्रतिशोधात्मक भाव-बीज से उत्पन्न हुई मालूम देती है। फिर भी कविने अद्वैतवाद और अध्यात्मविद्या जैसे नीरस और शुष्क दार्शनिक विषय को जिस नाटकीय मनोरञ्जक शैली में चित्रित किया है, निःसन्देह उनका यह प्रयत्न सर्वप्रथम और सर्वोत्तम है।

यद्यपि कृष्णमिश्र के द्वारा अपने नाटक में रूपकात्मक शैली की स्वीकृति का स्रोत और उसे लिखने की मूल प्रेरणा बृहदारण्यक उपनिषद् के उद्गीथ ब्राह्मण (१, ३) में वर्णित आख्यायिका के आधार पर गृहीत कही जा सकती है, परन्तु अधिक संभव है कि उन्होंने प्रस्तुत शैली के महान् मूर्तरूप के दर्शन 'उपमितिभवप्रपञ्चकथा' में भी किये हों।

बुन्देलखण्ड के चंदेल राजा कीर्तिवर्मा के समय में इस नाटक की रचना हुई और वि० सं० १२२२ में उक्त राजा के सामने यह नाटक अभिनीत हुआ भी बतलाया जाता है।

---

१. सारोपा लक्षणा क्वापि क्वापि साध्यवसानिका। धौरेयतां प्रपद्येते ग्रन्थस्यास्य समर्थने ॥ ५० ॥
दे०, प्रबोधचिन्तामणि का प्रथम अधिकार

२. अनात्मचेतनादीनां यद् दाम्पत्यादिवर्णनम्। तत्सर्वं कल्पनामूलं सापि श्रेयस्करी क्वचित् ॥ ४७ ॥
मीनमैनिकयोः पाण्डुपत्रपल्लवयोरपि। या मिथः संकथा सूत्रे बद्धा सा किं न बोधये ॥ ४८ ॥
नायकत्वं कषायाणां कर्मणां रिपुसैन्यताम्। आदिशन्नागमोऽप्यस्य प्रबन्धस्येति बीजताम् ॥ ४७ ॥
दे०, प्रबोध चिन्तामणि, प्रथम अधिकार।

३. विशेष जानकारी-प्राप्त करने के लिए देखिए, मुनि जिनविजय द्वारा सम्पादित 'धूर्ताख्यान' की डॉ० ए० एन० उपाध्ये द्वारा लिखित THE DHURTAKHYANA: A CRITICAL STUDY "धूर्ताख्यानः-एक आलोचनात्मक अध्ययन" शीर्षक महत्त्वपूर्ण अंग्रेजी प्रस्तावना।

रूपकात्मक शैली में लिखा गया तीसरा ग्रन्थ 'मयण पराजय चरिउ'[1] है। यह अपभ्रंश-प्राकृत की रचना है और इसके कर्त्ता चङ्गदेव के पुत्र हरिदेव हैं। इसका रचना-काल सुनिश्चित नहीं है, फिर भी यह सुनिश्चित है कि इसकी रचना यशःपाल के 'मोहराज-पराजय' के पहले हो चुकी थी[2]। इसकी रचना पांच सन्धियों में समाप्त हुई है और इनमें मुक्ति कन्या को वशी करने के लिए कामदेव और जिनराज के बीच जो संग्राम छिड़ता है, जिनराज के द्वारा कामदेव को पराजित किया जाता है और स्वयंवर में मुक्ति-कन्या जा जिनराज को वरण करती है-आदि घटनाओं का चित्रण अनेक रूपकों के आधार पर बड़े ही आकर्षक ढग से हुआ है। नागदेव-विरचित संस्कृत का 'मदनपराजय' इसी प्राकृत-रचना के आधार पर ग्रथित किया गया है।

रूपकात्मक शैली में लिखा गया कवि यशःपाल का 'मोहपराजय'[3] नाटक एक बड़ी ही महत्त्वपूर्ण रचना है। इसमें ऐतिहासिक नामों के साथ लाक्षणिक चरित्रों का संमिश्रण और मोहपराजय का चित्रण बड़ी ही कुशलता और निपुणता के साथ किया गया है। सम्पूर्ण रचना में कहीं भी क्लिष्ट कल्पना और बन्ध की विषमता दिखलाई नहीं देती।

इसके प्रथमाङ्क में मोहराज के सन्देश लेने के लिए भेजा गया ज्ञानदर्पण नामक गुप्तचर समाचार देता है कि मोहराज ने मनुष्य के मानस नगर को घेर लिया है और उसका राजा विवेकचन्द्र, अपनी शान्ति नामक पत्नी और कृपासुन्दरी नाम की कन्या के साथ वहां से निकल भागा है। ज्ञानदर्पण शिष्टाचार और सुनीति की कीर्तिमञ्जरी नामकी कन्या—जो कुमारपाल की स्त्री है—से भेंट होने का भी समाचार सुनाता है और बतलाता है कि पति-परित्यक्ता कुमारपाल की स्त्री ने अपने पति द्वारा स्वयं को और अपने भाई प्रताप को छोड़ देने के कारण मोहराज से सहायता की प्रार्थना की है जो शीघ्र ही कुमारपाल पर चढ़ाई करने के प्रयत्न में है।

दूसरे अङ्क में हेमचन्द्र आचार्य के तपोवन में कुमारपाल की विवेकचन्द्र के साथ भेंट का उल्लेख और कुमारपाल का विवेकचन्द्र की कन्या कृपासुन्दरी के प्रति आसक्ति-भाव का प्रदर्शन है। दोनों के पारस्परिक संवाद के समय महारानी राज्यश्री अपनी रौद्रता नाम की सखी के साथ उपस्थित होती हैं और यह दृश्य देख राजा से रूठ जाती है।

तीसरे अङ्क में पुण्यकेतु की नीति से स्वयं महारानी कृपासुन्दरी की मांग करने के लिए बाध्य होती है। विवेकचन्द्र इस प्रार्थना को स्वीकार करता है, परन्तु इस शर्त पर कि सात व्यसनों को प्रश्रय नहीं दिया जायगा तथा जनता के निःसन्तान अवस्था में दिवगत होने पर राजा उसकी सम्पत्ति को आत्मसात् नहीं करेगा।

---

१. इस ग्रन्थ का सम्पादन प्रो० प्रफुल्लचन्द्र जैन, एम० ए० कर रहे हैं, जो शीघ्र ही भारतीय ज्ञानपीठ, काशी द्वारा प्रकाशित होगा।

२ इस संबन्ध का विस्तृत विवेचन नागदेव के समयनिर्णय के प्रसङ्ग में आगे किया है।

३. यह नाटक 'गायकवाड़ बड़ौदा सीरीज' में प्रकाशित हो चुका है।

चौथे अङ्क में द्यूत, मद्य, मांस, आखेट, परस्त्रीसेवन आदि सभी व्यसनों को निर्वासित कर दिया जाता है और पञ्चम अङ्क में मोहराज पराजित होते हैं और विवेकचन्द्र पुनः सिंहासनासीन होते हैं।

'मोहपराजय' तेरहवीं शताब्दी की रचना है। इसका कर्त्ता यशःपाल चक्रवर्ती अभयदेव का राजकर्मचारी था, जिसने कुमारपाल के पश्चात् १२२९ से १२३२ A. D. तक राज्य किया। धारापद में जिस समय कुमारविहार में भगवान् महावीर की मूर्ति की स्थापना की गई थी, उसी समय उक्त रूपक का अभिनय हुआ था।

यशःपाल के मोहपराजय से मिलता-जुलता एक रूपकात्मक प्रबन्ध मेरुतुङ्गसूरि की प्रबन्धचिन्तामणि[1] के परिशिष्ट भाग में पाया जाता है। प्रबन्धचिन्तामणि में विभिन्न महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक प्रबन्धों का संकलन किया गया है। इसकी रचना वि० सं० १३६१ वैशाख शुक्ला-पूर्णिमा रविवार के दिन सम्पूर्ण हुई है। अतः इस रूपकात्मक प्रबन्ध का रचना-काल भी प्रबन्ध-चिन्तामणि का रचना-काल ही ठहरता है।

प्रस्तुत रूपकात्मक प्रबन्ध की रचना उस समय के दृश्य को ध्यान में रख कर की गई है, जब महाराजा कुमारपाल ने अपने धर्मगुरु आचार्य हेमचन्द्र के निकट जैनधर्म की दीक्षा लेकर अहिंसाव्रत को अङ्गीकार किया था।

मोहपराजय और इस रूपकात्मक प्रबन्ध के तुलनात्मक अध्ययन करने से ऐसा मालूम देता है कि मेरुतुङ्गसूरि ने यशःपाल के मोहपराजय से प्रेरणा लेकर ही अपने इस रूपकात्मक प्रबन्ध का प्रणयन किया है।

इस प्रबन्ध में कुमारपाल राजा और अहिंसा के विवाह-सम्बन्ध का रूपकात्मक ढंग से चित्रण किया है। त्रिलोकी सम्राट् अर्हद्धर्म की अनुकम्पा देवी से अहिंसा कन्या की उत्पत्ति होती है। आचार्य हेमचन्द्र के आश्रम में पालित-पोषित होकर यह वृद्धकुमारी हो जाती है। कुमारपाल घुड़दौड़ की क्रीड़ा करने के लिए जाते समय इसे देखते हैं और उसके अनिन्द्य सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाते हैं। राजा आचार्य हेमचन्द्र से इस कुमारी की याचना करते हैं। आचार्य इस की दुष्पूरणीय प्रतिज्ञा[2] की ओर संकेत करते हैं। कुमारपाल अहिंसा कुमारी की प्रियसखी सुबुद्धि और स्वयं

---

१. यह ग्रन्थ मुनि श्री जिनविजय जी द्वारा सम्पादित हो कर हिन्दी भाषान्तर के साथ (वि० १९९७ में) 'सिंघी जैन ग्रन्थमाला' में प्रकाशित हो चुका है। इस ग्रन्थ के रूपकात्मक प्रबन्ध की पाद-टिप्पणी (पृ० १५३) में विद्वान् सम्पादक ने लिखा है कि यह परिशिष्टात्मक प्रबन्ध, इस ग्रन्थ की बहुसंख्यक पोथियों में लिखा हुआ मिलता है। इससे ज्ञात होता है कि मेरुतुङ्गसूरिने ही इसकी रचना की है—पर ऐतिहासिक न होकर यह एक रूपकात्मक प्रबन्ध है। इस लिए इसको परिशिष्ट के रूपमें ग्रन्थ के अन्त में जोड़ दिया जाता है।

२. सत्यवाक् परलक्ष्मीभुक् सर्वभूताभयप्रदः।
सदा स्वदारसंतुष्टस्तुष्टो मे स पतिर्भवेत् ॥ ५ ॥

हेमचन्द्राचार्य के द्वारा प्रतिबुद्ध किये जाने पर प्रतिज्ञा-पूर्ति शर्त को स्वीकार करते हैं और इस वृद्धकुमारी के साथ उनका पाणिग्रहण हो जाता है। इस प्रबन्ध की संक्षिप्त कथा-वस्तु यही है।

यदि हम प्रस्तुत प्रबन्ध की कथा-वस्तु का यशःपाल के मोहपराजय के द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अङ्कों में वर्णित कथा-वस्तु से तुलना करें तो दोनों में पात्रों के कुछ परिवर्तित नामों के अतिरिक्त अधिक अन्तर प्रतीत नहीं होता। वहाँ कुमारपाल विनयचन्द्र की कृपासुन्दरी नाम की कन्या पर मोहित होते हैं तो यहाँ भी अर्हद्धर्म की अहिंसा कुमारी पर। वहां की कृपासुन्दरी विवेकचन्द्र की सहधर्मिणी शान्ति की कन्या है तो यहाँ की अहिंसाकुमारी अर्हद्धर्म की धर्मपत्नी अनुकम्पा देवी की। वहाँ कृपासुन्दरी की मांग के समय विनयचन्द्र के द्वारा शर्त रक्खी जाती है और उसी शर्त से मिलती-जुलती शर्त यहां भी अहिंसाकुमारी की सखी सुबुद्धिद्वारा उपस्थित की जाती है। सात व्यसनों का निष्कासन दोनों का एकसा ही है। मोहपराजय के प्रथमाङ्क में वर्णित पतिपरित्यक्ता कुमारपाल की पत्नी कीर्तिमञ्जरी का नामोल्लेख प्रस्तुत प्रबन्ध में भी पाया जाता है। हाँ दोनों के इस वर्णन में इतना अन्तर अवश्य है कि वहाँ की कीर्तिमञ्जरी कुमारपाल से रुष्ट हो कर मोहराज से सहायता मांगती हुई चित्रित की गई है और यहां कुमारपाल के स्वर्गवास के अवसर पर वह (अकेली कीर्ति, कीर्तिमञ्जरी नहीं) देशान्तर में जाती हुई। इसके सिवाय वहां का शिष्टाचार कीर्तिमञ्जरी का पिता है तो यहां का सदाचार अहिंसाकुमारी का सहोदर भाई।

उल्लिखित विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि यशःपाल के मोहपराजय को मेरुतुङ्गसूरि के प्रस्तुत-प्रबन्ध का प्रेरणात्मक आधार बतलाना कहाँ तक संगत है और यह भी उस स्थिति में जब कि मोहपराजय की रचना प्रबन्धचिन्तामणि से लगभग सवा सौ वर्ष से भी अधिक पूर्व में हो चुकी थी।

वेङ्कटनाथ का 'संकल्पसूर्योदय' भी एक सुन्दर रूपकात्मक नाटक है। इसका रचनाकाल चौदहवीं शताब्दी है। 'संकल्प सूर्योदय' में वेदान्तविद्या की ही प्रतिष्ठा और महत्ता दिखलाई गई है। श्री कृष्ण भगवान् का संकल्प है कि "मैं संसार के समस्त व्याकुल और दुःखी प्राणियों को संसार के दुःखों से मुक्त करूँगा।" इसी संकल्प रूपी सूर्य के उदय की अवतारणा की दृष्टि से प्रस्तुत नाटक का प्रणयन हुआ है। परन्तु सम्पूर्ण नाटक को वाचने पर प्रतीत होता है कि पाँच अङ्क की इस रचना[१]

सुदूरं दुर्गतेर्बन्धून् द्यूतान् सप्त पौरुषान्।
निर्वासयति यश्चित्तात् स शिष्टो मे पतिर्भवेत् ॥ ६ ॥
मत्सोदरं सदाचारं संस्थाप्य हृदयासने।
तदेकचित्तः सेवेत स कृती मे पतिर्भवेत् ॥ ७ ॥—दे०, प्रबन्धचिन्तामणि (संस्कृत) पृ० १२७।

१ प्रस्तुत नाटक का सम्पादन आर० कृष्णमाचारि बी० ए० बी० एल० मदुरा ने किया है और एच० एम० बागुची ने 'मैडिकल हाल प्रेस, बनारस द्वारा इसे प्रकाशित किया है। इस संस्करण में केवल पाँच अङ्क हैं। नाटक के अन्य किसी संस्करण का प्रयत्न करने पर भी हमें पता नहीं चल सका है। इसलिए यह कहना कठिन है कि नाटककार स्वयं ही इस रचना को पूर्ण नहीं कर सके और अकाल में ही काल-कवलित हो गये या किसी असम्पूर्ण प्रति के आधार से ही इसका प्रकाशन हुआ है। विद्वानों को इस दिशा में खोज करनेकी जरूरत है।

में नाटककार अपने लक्ष्य में सफल नहीं दिखलाई दे रहे हैं उनका 'संकल्पसूर्योदय' हो ही नहीं सका है। हम देखते हैं कि पञ्चम अङ्क के अन्त में विवेक के विपक्षी राजा महामोह की ही तूती बोल रही है। वह दुर्वासना को आज्ञा दे रहा है[1] कि वह ज्योतिषियों से कह दे कि महामोह ने अपने काम, क्रोध, लोभ, मद, मात्सर्य, दंभ और स्तंभ नामक सात मन्त्रियों को मुक्ति क्षेत्र रूप से प्रसिद्ध सात राजधानियाँ और सातों समुद्र सहित महाद्वीप शासन करने के लिए दान में दे दिये हैं और आज का संसार देवताओं का बहिष्कार करके उनके स्थान पर हमारी ही पूजा करेगा और अब से नमः, स्वस्ति, स्वाहा शब्दों का प्रयोग—'महामोहाय नमः,' महामोहाय स्वस्ति' 'महामोहाय स्वाहा'—के रूप में हमारे साथ ही हुआ करेगा। महामोह कह रहा है कि दुर्वासने, तुम ज्योतिषियों से कह दो कि वे इस बात को अपनी नोटबुक में अच्छी तरह दर्ज कर लें।

इस नाटक में भी हमें स्थान स्थान पर आक्रमणात्मक शैली के दर्शन मिलते हैं। दूसरे अङ्क में आर्हत, बौद्ध, सांख्य, आक्षपाद, सौत्रान्तिक, योगाचार, वैभाषिक, माध्यमिक आदि के मतों का खण्डन किया गया है, उनका परिहास किया गया है और उनके साथ मूर्ख और पापी जैसे अपशब्दों का प्रयोग किया गया है।

श्री जयशेखर सूरि का प्रबोधचिन्तामणि' भी बड़ा ही महत्त्वपूर्ण और रोचक रूपकात्मक प्रबन्ध है। वि० सं० १४६२ में स्तम्भनक नरेश की राजधानी में ग्रन्थकार ने प्रस्तुत प्रबन्ध की रचना की।[2] जयशेखर सूरि ने अपने प्रबन्ध के प्रथमाधिकार में ही इस बात का निर्देश किया है कि उनके प्रबन्धगत कथावस्तु के विवरण का आधार भगवान् पद्मनाभ के शिष्य धर्मरुचि मुनि द्वारा निरूपित आत्म-स्वरूप का चित्रण है और उसे लेकर ही उन्होंने रूपकात्मक प्रबन्ध में पल्लवित किया है।[3]

प्रबोधचिन्तामणि सात अधिकारों में समाप्त हुआ है। पहले अधिकार में परमात्मा के स्वरूप का वर्णन है। दूसरे में भगवान् पद्मनाभ का चरित्र और धर्मरुचि मुनि का चित्रण है। तीसरे में मोह और विवेक की उत्पत्ति तथा मोह को राज्य-प्राप्ति दिखलाई गई है। चौथे में मोह का राज्य, संयमश्री के साथ विवेक का पाणिग्रहण और विवेक को राज्य-लाभ का निरूपण किया गया है। पाँचवें में काम के दिग्विजय का विवेचन है। छठे में विजय के लिए विवेक की यात्रा का वर्णन है और सातवें अधिकार में मोह और विवेक का युद्ध, विवेक की विजय और मोह का पराजय तथा परमात्मस्वरूप का हृदयग्राही चित्रण किया गया है। छठे अधिकार में कलि कृत प्रभाव के निरूपण के अवसर पर तत्कालीन सामाजिक दशा का बहुत ही यथार्थ और मार्मिक निरूपण हुआ है। इसी अवसर पर कही गई जयशेखर सूरि की यह उक्ति कितनी मर्मस्पर्शी है कि "भगवान् महावीर की सन्तान होने पर भी आज के साधु विभिन्न गच्छों में विभक्त हैं और पारस्परिक सौहार्द के स्थान पर

---

१ संकल्पसूर्योदय, पृ० २५०, २५१।

२ यमरसभुवनमिताब्दे (१४६२) स्तम्भनकाधीशभूषिते नगरे।
श्रीजयशेखरसूरिः प्रबोधचिन्तामणिमकार्षीत् ॥ ५ ॥—दे०, प्र० चि० प्र०।

३ प्र० चि० २।१०।

एक दूसरे के दुश्मन बने हुए हैं[1]।" जयशेखर सूरि के हृदय की वह गंभीर टीस आज भी ज्यों की त्यों ताजी बनी हुई है।

बुचराय का '[2]मयणजुज्झ' भी एक रोचक रूपकात्मक प्रबन्ध है। यह अपभ्रंश भाषा में निबद्ध किया गया है और इसकी रचना १५८९ (वि० स०) आश्विन शुक्ला प्रतिपद्, शनिवार हस्तनक्षत्र में समाप्त हुई है। प्रस्तुत प्रबन्ध में भगवान् पुरुदेव द्वारा किये गये मदनपराजय का बहुत ही सुन्दर ढंग से चित्रण किया गया है। रचना का प्रारम्भ निम्न प्रकार से होता है :—

जो सव्वट्ठविमणहुंन्ति चवीयो तिन्नाणचित्तन्तरे
इचवहो सुरदेवकूसरवणो इक्खागकुलमंडणो।
भुत्तं भोगसरज्जदेसविमले पाळी पवज्जा पुणो
संपत्ते निरवाण देव रिसहो काऊण सो मंगलं ॥ १ ॥

गाथा ॥　　जिणवरइ वाकवाणी प्रणमउं सुहमसदेहजइजणणी।
वन्नउं सुमयणजुज्झं किमजियउ रिसह जिणनाह ॥ २ ॥

रिसह जिणवर पढम तित्थयर,
जिणधम्मउ धरण, कुगकधम्म सव्वह निवारण,
नाभिरायकुक्खिकवक, सव्वाणि संसारतारण ॥
जो सुर इंदह वंदीयउ सदा चकण सिर धारि।
कहि किउ रतिपति जित्तियउ ते गुण कहउ विचारि ॥ ३ ॥

सुणहु भवीयण एहु परमत्थु,
तजि चिंता परिकथा, इक ध्यान हुइ कन्नु दिज्जइ,
मनु विहसइ कवळ जिवु, हुइ समाधियहु अमीय पिज्जइ,
परचइ जिन्ह। चित एहु रसु घालइ कसमक कोइ।
पुनरपि तिन्ह संसारमहि जम्मणमरण न होइ ॥ ४ ॥

और अन्त निम्न प्रकार होता है :—

राय विक्कमतणउ संवतु,
नवासी पनरसइ सरदरितु आसू वखाणउ,
तिथि पडिवा सुकिकपखु सनिसवार करनखतु जाणउ,
तिनु दिन बवहपि संठियउ, मयणजुज्झ सुविसेसु।
करत पढति सुणत नरहु जपउ सामि रिसहेसु ॥

---

१ एकश्रीवीरमूलत्वात् सौहृदयस्योचितैरपि।
सापत्न्यं धारितं तेन पृथग्गच्छीयसाधुभिः ॥—दे०, प्र० चि० ६।८६।

२ यह रचना हमें श्री अगर चन्द्रजी नाहटा की कृपा से प्राप्त हुई है। इसकी पाण्डु-लिपि पौष शुक्ल द्वादशी वि० सं० १७६७ में पं० दानधर्म द्वारा मरोट्टकोट्ट में की गई। प्रति के अन्त में इस तथ्य का निम्न प्रकार उल्लेख हुआ है:—

"सं० १७६७ वर्षे पौषमासे शुक्लपक्षे १२ तिथौ पं० दानधर्मलिखितं श्रीमरोट्टकोट्टमध्ये।"

भूदेव शुक्ल का 'धर्म विजय'[1] नाटक भी रूपकात्मक साहित्य की एक छोटी सी भावपूर्ण रचना है। श्री पं० नारायण शास्त्री खिस्ते का अनुमान है कि प्रस्तुत नाटक की रचना १६ वीं शताब्दी में हुई है और भूदेव शुक्ल अकबर के समकालीन रहे हैं। धर्मविजय पाँच अङ्कों में समाप्त हुआ है। इसमें धर्म और अधर्म को नायक तथा प्रतिनायक बनाया गया है। अधम अपने परिवार-दुराचार, क्रोध, असत्य, प्राणिहिंसा, लोभ, परस्परप्रीति और व्यभिचार—के द्वारा लोक की समस्त धार्मिक वृत्तियों पर आक्रमण कर लेता है; परन्तु अन्त में धर्म स्वयं अपने और अपने परिवार के द्वारा अधर्म और उसके परिवार का मूलोच्छेद कर डालता है और इस प्रकार अन्त में धर्म की विजय होती है।

नाटक के तुलनात्मक अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि नाटककारने अपने समय के समाज की प्रवृत्तियों का सम्पूर्ण प्रतिबिम्ब नाटकीय कथावस्तु में बड़ी ही कुशलता के साथ उड़ेल दिया है। उस समय विभिन्न प्रदेशों में अनाचार, व्यभिचार, झूठ, हिंसा और चोरी आदि अमानवीय वृत्तियों का कितना अधिक और भयङ्कर प्रचार था—यह बात प्रस्तुत नाटक के अध्ययन से भलीभांति जानी जा सकती है। जगह जगह द्यूत-क्रीड़ाएँ हुआ करती थीं, पान-गोष्ठियों में खुले-आम मदिरा-पान होता था, वैभव की अट्टालिकाएँ और प्राङ्गण वेश्याओं के नृत्य से मुखरित रहते थे, परकीयाओं को स्वाधीन और स्वीय बनाया जाता था तथा धर्माधिकारी धर्म के नाम विधवाओं का सतीत्व भंग किया करते थे। अधर्म के प्रश्न के उत्तर में पौराणिक ने उस समय की देश की परिस्थिति को पद्यों में सम्पूर्ण रूप से उपस्थित कर दिया है। पौराणिक अधर्म से कहता है महाराज, इस समय समस्त देशों की नदियों में बहुत ही थोड़ा पानी रह गया है। सज्जनों का भाग्य मन्द हो चुका है, दुर्जन को अनेक प्रकार से आराम मिल रहा है, वृक्षों में फल बहुत ही कम आ रहे हैं, कुलीन स्त्रियों ने मर्यादा तोड़ दी है और पाखण्डो की पूजा हो रही है। मेघ कहीं कहीं ही पानी बरसाता है, पृथ्वी की उर्वरा शक्ति क्षीण हो गई है—धान्य कम पैदा होने लगा है। युवतियाँ अपने पति से द्रोह करने लगी हैं, गृहस्थ युवक परस्त्री-लम्पट हो गये हैं। पिता अपने नालायक पुत्रों का जीवित अवस्था में ही श्राद्ध करना चाहता है। राजाओं में क्रोध और लोभ की वासनाएँ घर कर चुकी हैं और चोर तथा हिंसक जंगलों की प्रत्येक दिशा में अपना डेरा डाले हुए हैं।[2]

कवि कर्णपूर के द्वारा विरचित 'चैतन्यचन्द्रोदय' भी रूपकात्मक शैली से लिखा गया नाटक है। इस नाटक की रचना शक सं० १४०७ में[3] नीलगिरि-नरेश गजपति प्रतापरुद्रदेव की आज्ञा से

---

१ यह नाटक 'प्रिन्स आफ वेल्स सरस्वती-भवन सीरिज' बनारस से राजकीय संस्कृत कालेज के सरस्वती भवन के उपाध्यक्ष, साहित्याचार्य नारायण शास्त्री खिस्ते द्वारा सम्पादित होकर सन् १६३० में प्रकाशित हो चुका है।

२ ध० वि० ना० द्वि० अं०।

३ शाके चतुर्दशशते रविवाजियुक्ते
गौरो हरिर्धरणिमण्डल आवीरासीत्।
तस्मिंश्चतुर्नवतिभाजि तदीयलीला-
ग्रन्थोऽयमाविर्भवत्कतमस्य वक्त्रात्॥—चै० च०, पृ० सं० २०-१०।

हुई थी। प्रस्तुत नाटक दस अङ्कों में समाप्त हुआ है और श्रीकृष्ण चैतन्य[1] के माहात्म्य को दिखलाने की दृष्टि से ही इसका प्रणयन हुआ है। फलतः नाटकीय घटनावैचित्र्य का इसमें एकदम अभाव है और इसे पढ़ते पढ़ते पाठक का जी ऊब जाता है। हां, भाषा की दृष्टि से अवश्य ही रचना सरस और सुन्दर बन पड़ी है। दस अङ्कों में चैतन्यदेव के स्वानन्दावेश, सर्वावतार दर्शन, दानविनोद, संन्यास-परिग्रह, अद्वैतपुरविलास, सार्वभौम अनुग्रह, तीर्थाटन, प्रतापरुद्र-अनुग्रह, मथुरागमन और महामहोत्सव का अपने ढंग का अद्भुत वर्णन किया गया है।

वादिचन्द्रसूरि का 'ज्ञानसूर्योदय' नाटक भी एक सुप्रसिद्ध रूपकात्मक रचना है। वादिचन्द्रसूरि मूलसंघी ज्ञानभूषण भट्टारक के प्रशिष्य थे और प्रभाचन्द्र भट्टारक के शिष्य। प्रस्तुत नाटक की रचना माघ सुदी अष्टमी वि० सं० १६४८ के दिन मधूकनगर में हुई थी।[2]

ज्ञानसूर्योदय के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि इसकी रचना कृष्णमिश्र के प्रबोधचन्द्रोदय के आधार पर हुई है और उसमें अपनाई गई आक्रमणात्मक शैली की प्रतिक्रियापूर्ण झाँकी इसमें दिखलाई देती है। प्रबोधचन्द्रोदय में जैन मुनि का घृणित चरित्र चित्रित किया गया है तो ज्ञानसूर्योदय में बौद्धों का और श्वेताम्बरों का उपहास किया गया है। प्रबोधचन्द्रोदय की 'उपनिषत्' ज्ञानसूर्योदय की 'अष्टशती' है। वहाँ उपनिषत् का पति 'पुरुष' है तो यहां अष्टशती का पति 'प्रबोध' है। प्रबोधचन्द्रोदय की 'श्रद्धा' ज्ञानसूर्योदय की 'दया' है। चन्द्रोदय में श्रद्धा खोई गई है तो सूर्योदय में दया। शेष काम, क्रोध, लोभ, अहंकार, दंभ, विवेक आदि आदि पात्रों के चित्रण में विशेष अन्तर नहीं है।

नाटक भी प्रस्तावना में कमलसागर और कीर्तिसागर नामके दो ब्रह्मचारियों का निर्देश है जिनकी आज्ञा से सूत्रधार प्रस्तुत नाटक का अभिनय करना चाहता है।

---

१ चैतन्यदेव सर्व प्रथम माध्वाचार्य द्वारा प्रवर्तित ब्राह्म-सम्प्रदाय में दीक्षित हुए थे; परन्तु बाद में इन्होंने गौडीय वैष्णव मत का प्रवर्त्तन किया, जिसका रुद्रसम्प्रदाय के अन्तर्गत वल्लभाचार्य के मत से अधिक साम्य है। चैतन्यदेव की शिष्य-परम्परा में अनेक वैष्णव कवि बंगला और हिन्दी में मधुर पदावली की रचना कर गये हैं।

—दे० हि० सा० भू०, पृ० ५२।

२ मूलसंघे समासाद्य ज्ञानभूषं बुधोत्तमः।
दुस्तरं हि भवाम्भोधिं सुतरं मन्वते हृदि ॥ १ ॥
तत्पट्टामलभूषणं समभवद्दैगम्बरीये मते
चञ्चद्बर्हकरः सभातिचतुरः श्रीमत्प्रभाचन्द्रमाः।
तत्पट्टेऽजनि वादिवृन्दतिलकः श्रीवादिचन्द्रो यति-
स्तेनायं व्यरचि प्रबोधतरणिर्भव्याब्जसम्बोधनः ॥ २ ॥
वसु वेद-रसाब्जाङ्के वर्षे माघे सिताष्टमीदिवसे।
श्रीमन्मधूकनगरे सिद्धोऽयं बोधसंरम्भः ॥ ३ ॥—दे० ज्ञान० सू० प्र०।

ज्ञानसूर्योदय के सिवाय वादिचन्द्र सूरि की अन्य रचनाएं भी उपलब्ध हैं। इनमें से पवनदूत नामक खण्डकाव्य ही अब तक प्रकाशित हुआ है। श्री पं० नाथूरामजी प्रेमी का ज्ञानसूर्योदय नाटक का हिन्दी अनुवाद १९०९ में जैनग्रन्थरत्नाकर कार्यालय द्वारा प्रकाशित भी हो चुका है। पाण्डवपुराण, यशोधरचरित, होलिका-चरित्र आदि रचनाएँ किसी भी रूप में अब तक प्रकाशित नहीं हैं।

इनके अतिरिक्त 'विद्यापरिणयन' (१७ वीं शताब्दी का अन्त), 'जीवानन्दन' (१८ वीं शताब्दी का आदि) और अनन्तनारायणकृत मायाविजय भी रूपक-प्रधान रचनाएँ हैं। पद्मसुन्दर का 'ज्ञान-चन्द्रोदय' नाटक अब तक प्रकाशित नहीं हुआ है और प्रयत्न करने पर भी हम इसकी पाण्डु लिपि प्राप्त नहीं कर सके। हमारा अनुमान है कि प्रस्तुत नाटक भी प्रबोधचन्द्रोदय की शैली में लिखा गया रूपकात्मक नाटक होगा और संभव है कि पद्मसुन्दर के 'ज्ञानचन्द्रोदय' ने ही वादिचन्द्रसूरि के 'ज्ञान-सूर्योदय' को जन्म दिया हो। 'भुवनभानुकेवलिचरित' तथा वाचक यशोविजयकृत 'वैराग्यकल्पलता' इसी प्रकार रूपक प्रधान रचनाएँ हैं।

'वैराग्य कल्पलता', सिद्धर्षि की उपमितिभवप्रपञ्चकथा के आधार से तैयार की गई है इसके ९ स्तबकों में अनुसुन्दर चक्रवर्ती की कथा के व्याज से संसारी जीव के संसारभ्रमण की करुण कहानी और उससे उन्मुक्ति लाभ के रूपकात्मक शैली में लिखे गये बड़े ही हृदयग्राही चित्रण विद्यमान हैं।

इसके सिवा अन्य प्राच्य भाषाओं का साहित्य भी रूपकात्मक साहित्य से अछूता नहीं है। मलयानिल में लिखा गया 'कामदहनम्' सुप्रसिद्ध रूपकात्मक रचना है। हिन्दी में भी इस कोटि का साहित्य है; परन्तु बहुत अल्प। हस्तलिखित ग्रन्थों की विधिवत् खोज होने पर इस प्रकार का अन्य भी बहुत सा साहित्य उपलब्ध हो सकता है।

हिन्दी में लिखी गई 'मोह विवेक की कथा' एक संक्षिप्त रूपकात्मक रचना है। दामोदरदास इसके रचयिता हैं। इसकी एक पाण्डुलिपि काशी-नागरी-प्रचारिणी-सभा के पुस्तकालय में सुरक्षित है। लिपिकाल १८६१ है और इसे पिरानसुखजी ने फीरोजाबाद में लिखा है—"लिखितं पिरानसुखजी फिरोजाबाद में सं. १८६१"

प्रस्तुत रचना में मोह और विवेक, क्रोध और क्षमा, काम और लोभ आदि में पारस्परिक युद्ध दिखलाते हुए अन्त में विवेक की विजय दिखलाई गई है।

इसी प्रकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की 'भारतदुर्दशा' और 'भारतजननी', श्रीजयशङ्कर प्रसादजी की 'कामना' और 'कामायिनी' भी हिन्दी की उत्तम रूपकात्मक रचनाएँ हैं।

---

४ मदनपराजय—एक अध्ययन

१ मदनकी मूलात्मा और उसका विस्तार

संसार के समस्त व्यापार और प्रवृत्तियों में कामना के ही बीज वर्त्तमान हैं।[1] जगत् का ऐसा कोई भी व्यापार नहीं है, जिसके मूलमें कामना का अस्तित्व न हो। एक जीव का दूसरे के साथ राग करना और द्वेष करना—इस रागात्मक और द्वेषात्मक व्यापार के मूल में भी कामवृत्ति ही काम करती

---

१ "अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।"
यद्यद्धि कुरुते किञ्चित् तत्तत् कामस्य चेष्टितम्॥ मनुः।
[निष्काम व्यक्ति कभी भी और कोई भी काम नहीं कर सकता। काम के कारण ही यह जगत् के व्यापार हो रहे हैं।]

दिखलाई देती है[1]। संज्ञा, एषणा, तृष्णा, इच्छा—ये सब कामवृत्ति के ही रूपान्तर हैं। आहार, भय परिग्रह और मैथुन—इन चार संज्ञाओं में, लोक, वित्त और स्त्री-पुत्र—इन एषणाओं में, भव, विभव और काम—इन तृष्णाओं में कामवृत्ति ही फल-फूल रही है। आधुनिक मनोविज्ञान के आचार्यों ने भी जगत् के नाना व्यापारों के मूल में कामवृत्ति की ही प्रमुखता प्रतिपादित की है। मदन भी इसी कामवृत्ति का एक व्यापारविशेष है। ऋग्वेद में काम से ही सृष्टि की उत्पत्ति का प्रतिपादन किया गया है:—

"कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।
सतो बन्धुमसति निरविन्दन् हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा॥" (ऋ० १०।१२९।४)

[इस ब्रह्म के मन का जो रेत—बीज पहले निकला, वही आरम्भ में काम—सृष्टि की प्रवृत्ति या शक्ति हुआ। ज्ञाताओं ने अन्तःकरण में विचार-बुद्धि से निश्चय किया कि यही असत् में सत् का पहला सम्बन्ध है।]

वेदोपनिषद् में भी इसी तत्त्व को निम्न प्रकार बतलाया है:—

"एकाकी नारमत, आत्मानं द्वेधा व्यभजत्, पतिश्च पत्नी चाभवत्।"

[एक में वह नहीं रमा, पति और पत्नी के रूप में उसने अपने दो भेद किये।]

बृहदारण्यकोपनिषद् (४।३।३२) में भी रसोद्भूत आनन्द को जगत् और जीवन की प्रतिष्ठा का कारण बतलाया है—

"एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति।"

[इस आनन्द के अंशमात्र के आश्रय से ही समस्त प्राणी जीवित रहते हैं।]

इस आनन्द का लौकिक रूप वासना-प्रधान ही माना गया है।

जैन आगम में आहार, भय, परिग्रह और मैथुन संज्ञाओं में विभक्त होने पर भी कामवृत्ति का नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव रूपसे भी निक्षेप किया गया है। शब्द, रस, रूप, गन्ध और स्पर्श-द्रव्य काम हैं और इच्छा काम तथा मदन काम के भेद से दो प्रकार के भाव काम माने गये हैं। इनमें से प्रशस्त और अप्रशस्त इच्छा—इच्छाकाम है और वेदोपयोग रमणेच्छा—मदन काम है[2]।

काम की, धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप पुरुषार्थचतुष्टय में गणना की गई है और काम, क्रोध, लोभ, मद, मान, हर्ष भूत अरिषड्वर्ग में भी। इस प्रकार कामवृत्ति के तथोक्त इच्छा-सामान्य अर्थ में

१—"इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।"
[राग और द्वेष प्रत्येक इन्द्रिय के विषय के साथ सम्बन्धित हैं।]

२. "नामं ठवणा कामा, दव्वं कामा य भावकामा य।
एसो खलु कामाणं निक्खेवो चदुविहो होइ॥ १६७॥
सद्दरसरूवगंधप्फासा उदयंकरा य जे दव्वा।
दुविहा य भावकामा, इच्छाकामा य मयणकामा य॥ १६८॥
इच्छा पसत्थमपसत्थिगा य मयणम्मि वेय उवओगे।
तेणहिगारो तस्सउ, वयंति धीरा निरुत्तमिणं॥ १६९॥"
(दश० २ अ०)

रूढ होने पर भी स्त्री और पुरुष की पारस्परिक रतीच्छारूप विशेष अर्थ में भी इसका व्यवहार देखा जाता है और 'कामदेव' रूप एक अन्य विशेष अर्थ में इसकी चरितार्थता विख्यात है। 'मदनपराजय' के 'मदन' आगमिक भावकाम और प्रस्तुत कामदेव से ही विशेषतः सम्बन्धित है।

२ कामदेव की उत्पत्ति और उसका रूप-वैचित्र्य

शिवपुराण में कामदेव की उत्पत्ति के सम्बन्ध में एक विवरण चर्चित पाया जाता है। ब्रह्मा जब सन्ध्या को उत्पन्न कर चुके और उसके सौन्दर्य को देखते देखते कुछ भाव-मग्न हुए तो उनके मन से एक महान् अद्भुत और दिव्य पुरुष की उत्पत्ति हुई। उसके शरीर की कान्ति सोने की तरह कमनीय थी। वक्षःस्थल पुष्ट था। नाक सौम्य थी। कटिभाग और जंघाएं गोल थीं, भौंहें चपल थीं और मुख पूर्ण चन्द्र की तरह प्रसन्न था। नीले वस्त्र पहिने था। हाथ, नेत्र, मुख और चरण लाल हो रहे थे। मध्य भाग क्षीण था। दाँत शुभ्र और सुन्दर थे। मदोन्मत्त हाथी-जैसी गन्ध थी। विकसित कमल के समान विशाल और दीर्घ नेत्र थे। केशर से घ्राणेन्द्रिय को सुवासित कर रहा था। शंख के समान गला था। उसकी ध्वजा में मीन थी और वाहन मकर का था। पुष्पमय पाँच बाण थे। तथा धनुष भी पुष्पों का ही था। दोनों नेत्रों को घुमाते हुए कटाक्षपात से मनोहर था और शरीर से सुगन्धित वायु निकल रही थी। इसके सिवाय शृङ्गार रस उसकी सेवा में संलग्न था[१]।

कामदेव ने इस प्रकार उत्पन्न होते ही ब्रह्मा से अपने अनुरूप कर्म और पत्नी आदि के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करनी चाही। ब्रह्मा ने कामदेव से कहा कि तुम इसी रूप से और अपने इन्हीं पुष्पमय बाणों से संसार के स्त्री और पुरुषों को मोहित करते हुए सनातन सृष्टि को चरितार्थ करो। कामदेव और ब्रह्मा के इस प्रश्नोत्तर के पहले ही दक्ष आदिक समस्त ब्रह्मपुत्र काम को देखते ही मोहित हो गये और उनके मन विकृत हो गये। ब्रह्मा ने कामदेव से उसके कर्मविधान को समझाकर बतलाया कि कामदेव, तुम्हारे अन्य नाम अब ये हमारे पुत्र बतलावेंगे। तत्पश्चात् मरीचि आदि ने कामदेव के इस प्रकार नामान्तर दिखलाये—

"कामदेव, तुम प्राणियों के चित्त का मन्थन करते हो, अतः संसार में तुम्हारी 'मन्मथ' के नाम से प्रसिद्धि होगी। लोक में तुम्हारे जैसा अन्य कोई कामरूपी नहीं है, अतः 'काम' के नाम से भी तुम विख्यात होगे। तुम जीवों के चित्त को उन्मत्त करते हो, इसलिए तुम्हारा नाम 'मदन' भी होगा। तुम एक अद्भुत दर्पमय हो, अतः 'कन्दर्प' के नाम से तुम प्रसिद्ध रहोगे। कोई भी देव तुम्हारे-जैसा वीर्यवान न होगा, इसलिए तुम सर्वगामी और सर्वव्यापी रहोगे[२]।"

कामदेव ने अपने पौरुष की परीक्षा करनी चाही। उसने अपने बाणों को ब्रह्मा और उपस्थित मुनिमण्डली के ऊपर छोड़ा। समस्त मुनिजन एकदम मोहित हो गये। स्वयं ब्रह्मा का चित्त भी अपनी कन्या सन्ध्या के ऊपर चलित हो गया। इस पाप-वृत्ति को देखकर धर्म ने शंभु का स्मरण किया। वे आये और उन्होंने सब ही का उपहास और भर्त्सना की। ब्रह्मा ने काम को शिव के निमित्त से

---

१ (दे० शिवपुराण, रु० सं० सं० २, सती खं० १, अ० २ श्लोक २३-२९)

२ (दे०, शिवपुराण, रू० सं० सती० ख० तृ० अ० श्लो० ४—७)।

अग्निसात् होने की शाप दे दी; परन्तु काम की प्रार्थना पर उसे क्षमा कर दिया कि रति के निमित्त से वह पुनरपि जीवित हो सकेगा।

कालिकापुराण में[1] भी इसी आख्यान से मिलता-जुलता एक आख्यान है। उसमें बतलाया है कि ज्यों ही ब्रह्मा ने सन्ध्या को उत्पन्न किया, काम ने सन्ध्या और ब्रह्मा दोनों के चित्त को चलित कर दिया इस कारण दोनों ही लज्जित हुए और चतुरानन को तो काम के ऊपर बहुत ही क्रोध आया। परन्तु सन्ध्या ने घोर तपस्या के पश्चात् विष्णु महाराज से यह वर माँग लिया कि काम आगामी किसी को पैदा होते ही चंचल न कर सके। तब से विष्णु ने व्यवस्था कर दी कि कामदेव केवल युवकों का मन ही विक्षुब्ध कर सकता है और कभी कहीं किशोर-किशोरियों का भी।

पूर्वोक्त शाप के कारण जब कामदेव महादेव की नेत्राग्नि की ज्वाला में भस्मसात् हो गया तो रति ने उग्र तप किया और शिव को सन्तुष्ट करके वर प्राप्त किया कि कामदेव अब अमूर्तरूप से ही देहधारियों में विद्यमान रहेगा और द्वापर में श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न के रूप में मूर्त रूप प्राप्त करेगा।

हरिवंश और भागवत के अनुसार श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न कामदेव के अवतार हैं। विष्णुधर्मोत्तर (३–५८) के अनुसार कामदेव और उनकी स्त्री रति क्रमशः वरुण और उनकी पत्नी गौरी के अवतार हैं। बेस नगर में शुंगकाल (तृतीय शताब्दी ईसवी पूर्व) का एक तीन फुट ऊँचा मकरध्वज-स्तम्भ पाया गया है, जो ग्वालियर म्यूजियम में सुरक्षित है।[2] बादामी में रति के साथ मकरवाहन और मकरकेतन काम-मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं। तथा समुद्र और जल के देवता होने के कारण वरुण का वाहन मकर है। उनकी स्त्री गौरी का वाहन भी मकर है। अग्निपुराण (५१ अध्याय) में वरुण को मकरवाहन कहा गया है और विष्णुधर्मोत्तर (३–५२) में मकरकेतन। वरुण का मकरवाहन होना अनेक प्राचीन मूर्तियों और चित्रों में अङ्कित है।[3] बादामी, मैसूर और भुवनेश्वर के लिङ्गराज मन्दिर की अनेक मूर्तियाँ इस बात का प्रमाण हैं। अतः पंडितों का अनुमान है कि कामदेव और यक्षाधिपति वरुण मूलतः एक ही देवता हैं। और नहीं तो कम से कम एक ही देवता के दो विभिन्न रूप तो हैं ही।[4] बौद्ध मार यक्ष कामदेव का रूप है ही।[5]

जैन सम्प्रदाय में कुछ अतिशय रूपवान् महापुरुषों को कामदेव बतलाया गया है। गत अवसर्पिणी के चतुर्थ काल में भरत क्षेत्र में २४ कामदेव महापुरुष हुए। इनमें से कुछ तो उसी भव से मुक्त हुए और शेष आगामी भव से मुक्त होंगे। वे कामदेव निम्न प्रकार हैं :—

१ बाहुबलि, २ अमिततेज, ३ श्रीधर, ४ दशभद्र, ५ प्रसेनजित, ६ चन्द्रवर्ण, ७ अग्निमुक्ति ८ सनत्कुमार चक्रवर्ती, ९ वत्सराज, १० कनकप्रभु, ११ मेघवर्ण, १२ शान्तिनाथ तीर्थंकर,

---

१ कालिकापुराण, अ० १९—२२।

२ Cunninghan : A. S. Reports P. 42-43 और Plate XIV.

३ R. D. Banerji : Bas Reliefs of Badami, Mem, A. S. J. 25, 1928 P. 34. तथा Plates XIo. XXIc, XXXIIIa और c आदि।

४ बुद्धचरित, १३–२।

५ हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० २०६–२१०।

१३ कुन्थुनाथ तीर्थंकर, १४ अरनाथ तीर्थंकर, १५ विजयराज, १६ श्रीचन्द्र, १७ राजा नल, १८ हनूमान्, १९ बलराजा, २० वसुदेव, २१ प्रद्युम्नकुमार, २२ नागकुमार, २३ श्रीपाल और २४ जम्बूस्वामी।[1]

उत्तराध्ययन टीका[2] में कामदेव को यक्षाधिप बतलाया गया है।

कामदेव के धनुष और बाण पुष्पमय हैं, धनुष की मौर्वी रोलम्बमाला या भ्रमरश्रेणी की है, और इनके बाणों से युवकों का हृदय विदीर्ण हो जाया करता है।[3]

वामन पुराण में आख्यान है कि कामदेव को जब महादेव ने भस्म किया तो उनका मणिखचित धनुष पाँच टुकड़ों में विभक्त होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। रुक्मविभूषित पृष्ठवाला मुष्टिबन्ध (मूठ) चम्पा का फूल होकर पैदा हुआ। वज्र (हीरा) का बना हुआ नाह स्थान बकुल पुष्प हुआ। इन्द्रनीलशोभित कोटि-देश पाटल-पुष्प में परिवर्तित हो गया। नाह और मुष्टिबन्ध का मध्यवर्ती स्थान, जो चन्द्रकान्तमणि की प्रभा से प्रदीप्त था, जातीपुष्प हुआ और मूठ के ऊपर तथा कोटि के नीचे का हिस्सा, जिसमें विद्रुम मणि जड़ी गयी थी, मल्ली के रूप में पृथ्वी पर पैदा हुआ।[4] तब से काम का धनुष पुष्पमय होकर ही पृथ्वी पर विराजमान है। कामदेव के पुष्पमय पाँच बाणों में अरविन्द (कमल), अशोक, आम, नवमल्लिका, और नीलोत्पल हैं। किसी किसी के मत से द्रावण, शोषण, तापन, मोहन और उन्मादन, या सम्मोहन, समुद्वेगबीज, स्तम्भनकारण, उन्मादन, ज्वलन और चेतनाहरण ये काम-बाण हैं; या सम्मोहन, उन्मादन, शोषण, तापन और स्तम्भन ये ही काम-बाण हैं। एक और मत है कि पांचों इन्द्रियों के विषय अर्थात् शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध ये ही पाँच कामदेव के बाण हैं।[5]

३ मदन-पराजय के रूपान्तर

काम जहाँ एक ओर इस प्रकार विभिन्न एवं विचित्र रूपों से सम्पन्न दिखलाई देता है, दूसरी ओर उसकी माया का वैचित्र्य भी कम प्रभाव-पूर्ण नहीं है। सृष्टि के अणु अणु में उसकी मोहनी माया समाई हुई है और चराचर प्राणि जगत् में ऐसा एक भी न होगा जो इसकी मनहर माया से प्रभावित न हुआ। परन्तु शाश्वत सुख का अभिलाषी मनुष्य निवृत्ति मार्ग का अनुसरण करके उसके प्रभाव से सर्वथा अस्पृष्ट बने रहने का प्रयत्न करता है और एक दिन उसे एक दम पराजित करके निष्कलङ्क और निष्काम परमात्मा हो जाता है।

निवृत्तिमार्ग की सीमा को पार करते समय काम को जो इस प्रकार पराजित किया जाता है, उसके विभिन्न रूप हमें भारतीय साहित्य में देखने को मिलते हैं। शङ्कर के कामदाह का अनेक पुराणों और काव्यों में चित्रण हुआ है (उदाहरण के लिए देखिए, शिवपुराण रुद्रसंहिता, द्वि० खं०, अध्याय

१ बृहज्जैनशब्दार्णव, पृ० ४१९। २ उत्तराध्ययनटीका, जेकोबी पृ० ३९। ३ "मौर्वी रोलम्बमाला, धनुरथ विशिखाः, कौसुमाः पुष्पकेतोः, भिन्नं स्यादस्य बाणैर्युवजनहृदयं स्त्रीकटाक्षेण तद्वत्॥ ६११॥"—साहित्य दर्पण, सप्तम परिच्छेद। ४ वामनपुराण, अध्याय ६। ५ हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृ० २१५।

१९ और महाकवि कालिदासकृत कुमारसंभव का ३रा सर्ग) तथा महात्मा बुद्ध की मार-विजय भी बहुत ही प्रसिद्ध है ।[1]

जैन सम्प्रदाय में भी प्रत्येक जिन काम-विजय करके ही मुक्ति-लाभ करता है । परन्तु जिन की काम-विजय शङ्कर और बुद्ध की काम-विजय की तरह नहीं होती । जिन की काम-विजय के प्रसङ्ग में समस्त प्रकार की इच्छाओं का एकदम उन्मूलन कर दिया जाता है और वही सम्पूर्ण काम-विजयी जिन कहलाते हैं । उसके बाद न उन्हें भूख की इच्छा सताती है और न प्यास की पीडा तकलीफ दे पाती है । उस समय वे समस्त कामनाओं से रहित होकर अनन्तसुख, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन और अनन्तवीर्य से सम्पन्न अर्हत् हो जाते हैं तथा अठारह प्रकार के दोष[2] उनके अन्तस् से कपूर की भांति उड़ जाते हैं ।

४. मदनपराजय और उसके नामान्तर

मदनपराजय एक रूपकात्मक आख्यान है । प्रस्तुत रचना के आधारभूत 'मदनपराजय चरिउ' के कर्त्ता हरिदेव ने अपनी रचना को काव्य[3] बतलाया ; परन्तु इस रचना के रचयिता नागदेव ने इसका कथा[4] के रूप में उल्लेख किया है । इसके सिवा दूसरी जगह उन्होंने एक स्तोत्र[5] के रूप में भी लिखा है ।

मदन पराजय के नामान्तर की भी यही कथा है । नागदेव ने प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में मदनपराजय का 'स्मरपराजय' के नाम से ही उल्लेख किया है । परन्तु प्रशस्ति के पद्य में स्मरपराजय के साथ मारपराजय[6] का भी एक स्थान पर नामोल्लेख हुआ है । इस प्रकार प्रस्तुत रचना 'स्मर-पराजय' अथवा 'मारपराजय' के नाम से ही प्रसिद्ध होनी चाहिए थी, परन्तु मालूम देता है कि प्राकृत 'मयणपराजयचरिउ', जो इस रचना का मूलाधार है, के आधार पर ही इसका 'मदनपराजय' नामकरण सुप्रसिद्ध हुआ है ।

---

१ देखिए, जातक, प्रथम खण्ड (हिन्दी सा० सं० प्रयाग) के अविदूरेनिदान का 'मारविजय' तथा अश्व-घोषकृत बुद्धचरित का १३ वाँ सर्ग ।

२ जन्म, जरा, तृषा, क्षुधा, विस्मय, आतङ्क, मरण, भय, अहंकार, राग, द्वेष, मोह, चिन्ता, रति, निद्रा, मद, स्वेद और खेद ।

३ "णविवि जिणपय विग्धविद्दवण,
पणमामि इंदियदलण विसहसेण तह भत्तिभारिण ।
कहकहमि भवियणजणह रइमिकव्वु जिणवयणसारिण ॥
सद्दासद्द विसेसयरु लक्खणु णउ जाणेमि ।
छंदुवि सालंकारु तह थिहिम कव्वु करेमि ॥ ३ ॥"—दे०, मयणपराजयचरिउ, प० सं० ।

४ "कथा प्राकृतबन्धेन हरिदेवेन या कृता ।" तथा
'वक्ष्ये कथां तामहम् ।'—दे०, म० परा० प्रस्ता०, पद्य ५, ६ तथा प्रश० पं० सं० २ ।

५ "साद्यन्तं यः शृणोतीदं स्तोत्रं स्मरपराजयम् ।
तस्य ज्ञानं च मोक्षः स्यात् स्वर्गादीनां च का कथा ? ॥ १ ॥"
—दे०, म० परा० प्रश०, तथा म० परा०, प्रश० ४ ।

६ दे० म० परा० प्रश० प० सं० २ ।

५. मदनपराजय की संक्षिप्त कथा

मदनपराजय की संक्षिप्त कथा निम्न प्रकार है:—

भव नामक नगर में मकरध्वज नाम का राजा राज्य करता था। एक दिन की बात है—उसके सभाभवन में शल्य, गारव, कर्म, दण्ड, दोष और आस्रव आदि सभी योधा उपस्थित थे। प्रधान सचिव मोह भी मौजूद था। मकरध्वज ने वार्तालाप के प्रसङ्ग में मोह से किसी अपूर्व समाचार को सुनाने की बात छेड़ी। उत्तर में उसने मकरध्वज से कहा—राजन्! आज का एक ही नया समाचार है और वह यह है कि जिनराज का बहुत ही शीघ्र मुक्ति-कन्या के साथ विवाह होने जा रहा है। मकरध्वज ने जिनराज का अब तक नाम नहीं सुना था और मुक्ति-कन्या से भी उसका कोई परिचय नहीं था। सो ज्यों ही उसने अपने प्रधान सचिव से जिनराज के सम्बन्ध में जानकारी हासिल की, उसे बड़ा ही आश्चर्य हुआ और मुक्ति-कन्या का परिचय प्राप्त करके तो वह उस पर एकदम मोहित हो गया। उसने विचार किया कि इस प्रकार की मनोरम मुक्ति-कन्या के साथ तो मेरा ही विवाह होना चाहिए; परन्तु यह तब ही संभव है जब पहले संग्राम-भूमि में जिनराज को पछाड़ दिया जावे। यह सोचते ही वह जिनराज के साथ लड़ाई लड़ने के लिए चल दिया। परन्तु मोह ने अपने नीतिकौशल से उसे अकेले संग्रामभूमि में उतरने से रोक दिया। मकरध्वज ने मोह की बात मान ली; किन्तु उसने मोह को आज्ञा दी कि वह जिनराज पर चढ़ाई करने के लिए शीघ्र ही अपनी समस्त सेना तैयार करके ले आवे।

मकरध्वज की रति और प्रीति नामक दो पत्नियाँ थीं। मकरध्वज की चिन्तित और विषण्ण दशा से इन्हें बहुत ही दुःख और आश्चर्य था। एक रात रति ने साहसपूर्वक मकरध्वज से उसकी इस सचिन्त और दीन दशा का कारण पूछा। मोह ने अपने मन की बात उसे बतला दी और उससे कहा कि तुम भी मुक्ति-कन्या के निकट जाकर इस प्रकार का यत्न करो जिससे वह जिनराज के प्रति उदासीन हो जावे और अपने विवाहोत्सव के अवसर पर मुझे ही अपना जीवन संगी चुने। रति को मकरध्वज की इस प्रवृत्ति से बड़ा ही आघात पहुँचा। उसने अपनी शक्तिभर मकरध्वज को लाख समझाया; परन्तु जब उसे कुछ भी समझ में न आया और इसके विपरीत जब वह रति के चरित्र पर ही लांछना लगाने को उद्यत हो उठा तो रति ने विवश होकर मकरध्वज की बात अङ्गीकार कर ली। उसने आर्यिका का वेष धारण किया और मकरध्वज को प्रणाम करके वह जिनराज के पास चल पड़ी। रास्ते में रति की मोह से भेट हो गई। मोह ने रति के इस वेष का कारण पूछा। उसने मोह के सामने सारी स्थिति ज्यों की त्यों रख दी। मोह को इस समाचार से बड़ा दुःख हुआ। उसने रति को लौटा लिया और वह उसे अपने साथ लेकर मकरध्वज के निकट जा पहुंचा। मोह ने मकरध्वज की इस रीति-नीति की निन्दा करते हुए उसे बहुत ही लज्जित किया। तदनन्तर मोह की संमति के अनुसार राग और द्वेष के लिए दूतत्व का भार सौंप कर उन्हें जिनराज के पास भेजा गया। राग और द्वेष संज्वलन की सहायता से जिनराज के दरबार में पहुँचे और उनसे मकरध्वज का संदेश जा सुनाया। वे कहने लगे—"देव, महाराज मकरध्वज का आदेश है कि आपको मुक्ति-कन्या के

साथ विवाह करने की अनुमति नहीं दी जा रही है, आप अपने तीनों रत्न महाराज मकरध्वज के लिए दे दीजिए और उनकी अधीनता स्वीकार कीजिए।" राग-द्वेष की बात सुनकर जिनराज ने उन्हें बुरी तरह फटकारा और मकरध्वज की प्रत्येक बात को स्वीकार करने से इन्कार कर दिया। इतना ही नहीं, जिनराज कहने लगे—"मैं मुक्ति कन्या के साथ अवश्य ही विवाह करूँगा और यदि मकरध्वज ने इस कार्य में जरा भी बाधा डाली तो उसे सपरिकर उन्मूलित कर दूँगा।" जिनराज के उत्तर को सुनकर रागद्वेष कुछ घट-बढ़ बात करने लगे तो संयम ने उन्हें एक एक चाँटा लगाकर दरबार से बाहर निकाल दिया।

संयम से अपमानित होकर राग-द्वेष मकरध्वज के निकट पहुंचे और उसे जिनराज का उत्तर जा सुनाया। मकरध्वज को इस समाचार से बहुत ही क्रोध हो आया। उसने अन्यायकाहलिक को बुलाकर उसे समस्त सैन्य तैयार करने के लिए आदेश दिया और सेनापति के रूप में मोह को पट्ट-बन्ध कर दिया। मकरध्वज की सेना एकत्रित होने लगी।

इधर ज्यों ही राग-द्वेष दूत जिनराज के निकट से चले, उन्होंने संवेग को तुरन्त ही अपने सैन्य को तैयार करने की आज्ञा दी। संवेग की घोषणा के अनुसार बात की बात में जिनराज की सेना के समस्त वीर सेनानी एकत्रित हो गये। जिनराज ने अपनी सेना को सब तरह से सुसज्जित देखा और मकरध्वज, जिनराज के ऊपर चढ़ाई करे, इसके पहले ही जिनराज ने अपने सैन्य के साथ मकरध्वज के ऊपर चढ़ाई कर दी।

मकरध्वज को जब इस समाचार का पता चला तो उसने मोह के सामने, आज की लड़ाई में जिनराज को पराजित करने की प्रतिज्ञा की और बन्दी बहिरात्मा को जिनराज के पास भेजा। मकरध्वज ने बहिरात्मा द्वारा यह समाचार भेजा कि या तो जिनराज आज की लड़ाई में उसकी, बाणावली का सामना करे अथवा उसकी अधीनता स्वीकार करे।

बहिरात्मा मकरध्वज के इस सन्देश को जिनराज से सुना ही रहा था कि निर्वेग को इस अभद्र बात से बड़ा ही क्रोध हो आया। उसने बहिरात्मा का सिर मूड़कर, उसकी नाक काट डाली और उसे सभा-भवन के द्वार से बाहर कर दिया। बहिरात्मा मकरध्वज के पास पहुँचा और उसने उसके सामने जिनराज की प्रबल स्थिति का यथार्थ चित्र रख दिया।

बन्दी बहिरात्मा के मुँह से यह समाचार जानकर और उसकी इस प्रकार की दुर्दशा देखकर मकरध्वज को बड़ा ही क्रोध आया और वह तत्काल ही जिनराज की सेना के साथ युद्ध करने के लिए चल दिया। दोनो ओर से तुमुल युद्ध हुआ। ब्रह्मा और इन्द्र ने भी आकाश में विराजमान होकर इस युद्ध को देखा। प्रस्तुत युद्ध में जिनराज के धर्मध्यान योद्धा के द्वारा मोह का संहार कर दिया गया और जिनराज ने मकरध्वज को भी पराजित कर दिया। मकरध्वज की पत्नी रति और प्रीति ने जिनराज की सेवा में मकरध्वज के प्राणों की भीख माँगी। जिनराज ने एक सीमा-पत्र देकर मकरध्वज के क्षेत्र-प्रवेश की सीमा निर्धारित कर दी और उसे चेतावनी दी गई कि इस सीमा को उल्लंघन करने पर उसे प्राणदण्ड दिया जावेगा। रति और प्रीति के प्रार्थनानुसार उन्हें अपने स्थान तक सुरक्षित रीति से भेजने के लिए शुक्लध्यान वीर साथी दिया गया; परन्तु काम को शुक्लध्यान वीर

की नियत पर विश्वास नहीं हुआ। उसने आत्म-हत्या कर ली और वह सबके देखते देखते ही अनङ्ग होकर अदृश्य हो गया।

इस दृश्य को देखकर इन्द्र को बहुत प्रसन्नता हुई। उसने दया के द्वारा मोक्षपुर में रहनेवाले सिद्धसेन के निकट यह समाचार भेजा कि वह शीघ्र ही अपनी मुक्ति-कन्या के विवाह के लिए आवें। सिद्धसेन ने दया से प्रस्तावित वर की योग्यता के सम्बन्ध में पूछताछ की और सन्तुष्ट होकर इन्द्र के पास सन्देश भेजा कि वह शीघ्र ही स्वयंवर की तैयारी करें।

इन्द्र की आज्ञानुसार कुबेर ने मुक्ति-कन्या के स्वयंवर के लिए एक सुन्दर समवसरण मण्डप की रचना कर दी। इस मण्डप में एक कर्म-धनुष लाकर रक्खा गया और घोषणा की गई कि इस कर्म धनुष को भग करने वाले के गले में ही मुक्ति-कन्या वरमाला पहिनावेगी। जब उपस्थित जन-समूह में से कोई भी इस धनुष को तोड़ने के लिए उद्यत नहीं हुआ तो जिनराज ने उसे हाथ में लिया और बात की बात में उसे भंग कर दिया। यह दृश्य देख कर मुक्तिश्री को बड़ी ही प्रसन्नता हुई और उसने तत्काल जिनराज के कण्ठ में तत्त्वमय वरमाला डाल दी। इस उपलक्ष्य में देवों ने एक महामहोत्सव किया और मुक्तिश्री से अलंकृत जिनराज सानन्द मोक्षपुर चले गये।

६. चरित्रचित्रण

मदनपराजय कोई नाटक नहीं है और न नाटकीय शैली से इसकी कथावस्तु का विस्तार ही किया गया है। इसलिए यद्यपि इसमें नाटक जैसी पात्रों के चरित्र-चित्रण की विचित्रता लक्षित नहीं होती है फिर भी मदनपराजय की वस्तु को अपने अपूर्व ढंग से पल्लवित करके घटना वैचित्र्य और चरित्र-चित्रण का जो इसमें संगठन हुआ है, वह कम महत्त्व का नहीं है और उसमें कलाकार ने अपनी सूक्ष्म निपुणता का पूरा उपयोग किया है।

जिनराज

यद्यपि मदनपराजय जिनराज की एक बहुत बड़ी जीवनव्यापी साधन का परिणाम है; परन्तु नागदेव ने उनके चरित्राङ्कन में अपनी रचना के बहुत ही कम भाग का उपयोग किया है। पाठक के लिए जिनराज के सम्बन्ध में सर्व-प्रथम जानकारी मकरध्वज के प्रधान सचिव मोह से प्राप्त होती है। मोह मकरध्वज से कहता है—"देव, यह वही जिनराज है जो पहले अपने भवनगर में रहता और दुर्गति-वेश्या के यहाँ पड़ा रहता था। यह बड़ा भारी पापी और दुष्कर्मी था, जिसके कारण इसे भयङ्कर दण्ड भी दिये जाते थे। परन्तु काललब्धि बड़ी ही प्रबल है। एक दिन की बात है। यह जिनराज दुर्गति-वेश्या से विरक्त हो गया और अपने श्रुतमन्दिर में के तीन रत्नों को लेकर चारित्रपुर का मालिक बन बैठा।"

इस उल्लेख में नागदेव ने जिनराज के अतीत भव और उनकी वर्तमान महत् साधना का मनोरम चित्र उपस्थित किया है और दिखलाया है कि किस प्रकार जिनराज आज रंक से राजा बन बैठा है। इस चित्र में जिनराज का वास्तविक परिचय नहीं मिलता है। यद्यपि यह परिचय भी अपूर्ण नहीं कहा जा सकता और जिनराज सामान्य की दृष्टि से काफी परिपूर्ण है; क्योंकि जैनधर्म

के सिद्धान्त के अनुसार संसार का पापी से पापी भी प्राणी अपनी सत्य साधना से जिनराज और यहां तक कि मुक्त की श्रेणी को भी प्राप्त कर सकता है। परन्तु मदनपराजय के नायकस्वरूप जिनराज के परिचय का यहाँ आभासमात्र ही दिया गया है। उनका विशेष और सम्पूर्ण परिचय हमें पञ्चम परिच्छेद में देखने को मिलता है, जहाँ जिनराज के द्वारा मदनपराजय हो चुका है और दया मुक्ति-कन्या के लायक वर की सुयोग्यता के सम्बन्ध में सिद्धसेन को उनका परिचय करा रही है। पाठक को वहाँ पहुँचने पर ही मदनपराजय के नायक जिनराज के सम्बन्ध में विशेष परिचय प्राप्त होता है कि श्री नाभिराजा के पुत्र आदिनाथ-वृषभनाथ ही इस धर्मकथा के नायक हैं। तीर्थकरत्व उनका गोत्र है। रूप में वे सुवर्ण की तरह सुन्दर हैं। उनका वक्षःस्थल विशाल है। वे सबके प्रिय हैं और उनका शरीर १००८ लक्षणों से अलंकृत है। वे चौरासी लाख उत्तर गुणों से सम्पन्न और शाश्वत सम्पत्ति से संयुक्त हैं। उनके नेत्र कानों तक पहुँचे हुए और कमल के समान मनोरम हैं। भुजाएँ घुटनों तक लम्बी है और शरीर की ऊँचाई पाँच सौ धनुष प्रमाण है।[१]

दूसरे परिच्छेद के अन्त में जिनराज एक महान वीरनरेश के रूप में दिखलाई देते हैं। मकरध्वज के राग और द्वेष नामक दूतों के द्वारा लायी उसकी आज्ञा को वे बुरी तरह ठुकरा देते हैं और प्रतिज्ञा करते हैं कि—

"समोहं सशर कामं ससैन्यं कथमप्यहम्।
प्राप्नोमि यदि सङ्ग्रामे वधिष्यामि न संशयः॥"

[यदि मुझे लड़ाई के मैदान में मोह और सेना के साथ धनुष-बाण लिए हुए मकरध्वज मिल गया तो मै निःसदेह उसका बध कर डालूँगा।]

चतुर्थ परिच्छेद के प्रारंभ में ही हमें देखने को मिलता है कि जिनराज अपनी प्रतिज्ञा के निर्वाह के लिए कितने तैयार हैं। उस समय प्रतीत होता है कि उनकी प्रतिज्ञा वर्षाकालीन क्षुद्रनद की वह धारा नहीं है जो प्रारंभ में बड़े ही वेग के साथ एकदम उमड़ती है और वसन्त में ही जिसका नामचिह्न तक लुप्त हो जाता है। वह अपने संकल्प के अनुसार तुरन्त ही सवेग को सैन्य-संमेलन करने का आदेश देते है और सेना के संमिलित होते ही उसे साथ लेकर मकरध्वज के ऊपर चढ़ाई कर देते हैं। युद्धकाल में आशिनी मकरध्वज की ओर से जिनराज को ललकारती हुई लड़ाई के लिए जिनराज का आह्वान करती है; परन्तु वे पहले "गर्हितः स्त्रीवधो यतः" की नीति के अनुसार उसे स्त्री के साथ संग्राम करने के अनौचित्य को ही बतलाते हैं। लेकिन जब वह उद्धत होकर जिनराज के ऊपर आक्रमण करने पर उतारू होती है तो उन्हें विवश होकर उसे भूसात् कर देना पड़ता है।

यह बात जिनराज के लोकोत्तर चरित्र की परिचायक है कि वे मकरध्वज को पराजित करने पर भी उसे मार नहीं डालते। रति और प्रीति की प्रार्थना पर वे मकरध्वज को प्रवेश-सीमा निर्धारित करके उसे जीवन-दान दे देते हैं और जब शुक्लध्यानवीर उनसे मकरध्वज को मार डालने के लिए कहता है तो वे कहते हैं—

१ म० प० ५।९।११।

"अरे शुक्लध्यानवीर, शृणु—"शरणागतमपि वैरिणं न हन्यते (हन्ति)" इति राजधर्मः।"

[अरे शुक्लध्यानवीर, सुनो—राजनीति का सिद्धान्त है कि शरण में आये हुए शत्रु को भी नहीं मारना चाहिए।]

मोक्षपुर की प्रयाण-वेला में भी जिनराज को अपने चारित्रपुर के निवासियों की सुरक्षा की पूरी चिन्ता है। संयमश्री की प्रार्थना पर वे तुरन्त ही वृषभसेन गणधर को बुलवाते हैं और अपनी प्रजा के संरक्षण का सम्पूर्ण दायित्व उन्हें सौंप कर ही मोक्षपुर के लिए प्रथान करते हैं।

मकरध्वज

मदनपराजयके प्रारंभ में ही पाठक को मकरध्वज का परिचय प्राप्त हो जाता है। मकरध्वज भव नामक नगर का राजा है। वह साधारण राजा नहीं है। समस्त देव-देवेन्द्र, नर-नरेन्द्र और नाग-नागेन्द्र आदि देवताओं के ऊपर उसका अप्रतिहत शासन है। उसने तीनों लोकों पर विजय प्राप्त कर ली है। वह युवा है। रुपवान् है, महान् प्रतापी है। दानी है। बिलासी है। रति और प्रीति नामक उसकी दो पत्नियाँ हैं और उसके प्रधान मन्त्री का नाम मोह है, जिसकी सहायता से वह बड़े ही आराम के साथ अपने राज्य कार्य का संचालन किया करता है।[1]

एक दिन अपनी भरी सभा में वह मोह से किसी नूतन समाचार को सुनाने के लिए अनुरोध करता है और मोह के द्वारा बतलाये गये मुक्ति-कन्या के सौन्दर्य-वर्णन और जिनराज के साथ होनेवाले उसके विवाह के समाचार को सुनकर उसके मन में आश्चर्य और मोह-दोनों उत्पन्न हो जाते हैं। जिनराज का अश्रुतपूर्व नाम सुनकर वह आश्चर्यान्वित होता है और मुक्ति कन्या की सौन्दर्य वर्णना उसे मोहित कर देती है। इतना ही नहीं, वह इतना विवेक-विकल हो जाता है कि अकेले ही जिनराज के साथ संग्राम करने के लिए चल पड़ता है और मोह के द्वारा समझाये जाने पर ही वह अपनी इस अज्ञवृत्ति से विरत होता है।

उपलब्ध संस्कृत-साहित्य में शायद यह पहला उदाहरण है जिसमें पति ने अपनी पत्नी को दूत बनाकर किसी परकीया या कुमारी को अपने प्रति आकर्षित करने का यत्न किया हो। परन्तु यहाँ मकरध्वज ने ऐसी ही एक मूर्खता करने का दुःसाहस किया है। वह अपनी पत्नी रति के सामने प्रस्ताव रखता है कि वह मुक्ति कन्या के पास जाकर उसकी मनोवृत्ति को मकरध्वज के प्रति आकर्षित करे। ऐसा करते समय उसे तनिक भी लज्जा नहीं लगती है और रति के लाख समझाने पर भी वह जरा भी नहीं समझता है। इसके विपरीत वह रति के सतीत्व पर लांछना लगाता है और ऐसा मिथ्यारोप करते हुए उसे अणुमात्र भी संकोच नहीं होता है कि—रति, तूने अपने मन में किसी दूसरे पति की तजबीज कर ली है। इसीलिए तू मुझे इस शोक-सागर में डुबो कर मार डालना चाहती है ! स्त्रियाँ, भला कब एक से प्रेम कर सकती हैं।[2]

मकरध्वज ने स्वय उन्मार्ग में अग्रसर होते हुए भी रति के सतीत्व पर जिस बुरी तरह से आक्रमण किया है, उसका दूसरा उदाहरण कदाचित् ही कहीं देखने को मिले ! परन्तु उसका यह मोह तब दूर होता है जब मोह उसे बुरी तरह से डाटता है।

---

१ दे०, म० प०, प्र० प०, पृ० २। २ दे० म० प०, प्र० प०, पृ० १४।

इतना होने पर भी हम देखते हैं कि मकरध्वज का स्वाभिमान सुप्त नहीं है। जिनराज के निकट से जब राग और द्वेष दोनों दूत वापिस आते हैं और उसे बतलाते हैं कि महाबली जिनेद्र तुम्हारी तनिक भी आज्ञा मानने को तैयार नहीं है तो उसके मन में प्रतिशोध की अग्नि प्रज्वलित हो उठती है और वह तत्काल ही जिनराज के विरुद्ध लड़ाई छेड़ने के लिए अपनी सेना को एकत्रित करने की आज्ञा दे देता है। इतना ही नहीं, वह प्रतिज्ञा करता है कि "प्रभात होते ही यदि मैंने जिनराज की वही दशा न की जो हरि, हर और ब्रह्मा की की है तो मैं जाज्वल्यमान आग में प्रवेश कर जाऊँगा।"

मकरध्वज की प्रतिशोधवृत्ति और जिनराज को पराजित करने का संकल्प कितने गहरे रूप में मूर्तिमान् हो उठा है!

एक और जगह मकरध्वज की वीरोचितवृत्ति देखने को मिलती है। जिनराज की बलवत् सेना को देखकर संज्वलन के मन में यह विश्वास हो जाता है कि इस संग्राम में निश्चय ही मकरध्वज को पराजित होना पड़ेगा। वह मकरध्वज से निवेदन करता है—'महाराज, जिनराज की सेना उतनी समर्थ है कि आप उसे पराजित नहीं कर सकते। अतः उसके विरुद्ध लड़ाई लड़ने के छल से कोई अर्थ सिद्ध होनेवाला नहीं है।' इतना सुनते ही मकरध्वज की वीरवृत्ति पुनः सजग हो उठती है। वह कड़ककर कहता है—

अरे मूढ, क्षत्रियों की वृत्ति को तू छल बतला रहा है? वह कहता है—"मैं जीवन की परिभाषा से बहुत अच्छी तरह परिचित हूँ और मनुष्य जो थोड़े समय तक भी विज्ञान, शूरवीरता और विभव आदि आर्योचित गुणों के साथ प्रसिद्ध होकर जीवित रहता है, सच्चे अर्थ में जीवन इसी का नाम है। वैसे तो कौवे का भी एक जीवन है और वह भी अपना पेट भर ही लेता है।"[1]

मकरध्वज का आवेश अभी उपशान्त नहीं हुआ है। वह कहता है—जिनराज ने अपने घर के भीतर गरजते हुए बहुत दिन तक चैन की वंसी बजा ली। अब वह हमारे बन्धन में आ फँसा है। देखते हैं, कैसे और कहाँ निकल कर भागता है?

जिनराज के साथ युद्ध करते हुए भी वह अपने मुँह से ही अपनी पौरुष-वर्णना से बाज नहीं आता है। वह जिनराज से कहता है—

अरे जिनराज, क्या तुम मेरा चरित्र नहीं जानते हो? रुद्र का गंगा को लाँघना, विष्णु का समुद्र में वास करना, इन्द्र का स्वर्ग में रहना, शेषनाग का पाताल में प्रवेश करना, सूर्य का मेरु के निकट छिपना और ब्रह्मा का मेरा सेवक होना—यह सब मेरा ही तो प्रताप है। तीनों लोक में ऐसा कौन है, जो मेरा सामना कर सके?

परन्तु चतुर्थ परिच्छेद के अन्त तक पहुँचते पहुँचते मकरध्वज को अपने पौरुष का बिलकुल ही भरोसा नहीं रह जाता है। जिनराज के द्वारा पराजित होने से उसका हृदय इतना टूट जाता है कि उनके द्वारा उसे प्राण-दान देने पर भी वह अपने ही रक्षक शुक्लध्यानवीर का विश्वास नहीं करता है और आत्म-घात कर डालता है।

---

१ म० प०, च० प०।

मोह

मोह मकरध्वज का प्रधान सचिव है। एक सच्चे मन्त्री में जो बातें पाई जानी चाहिए, वे सब उसमें विद्यमान हैं। वह मकरध्वज का सच्चा हितैषी है और उसके सन्मार्ग प्रदर्शन का एक भी अवसर उसने अपने हाथ से नहीं जाने दिया है। मकरध्वज मुक्ति-कन्या की रूप-माधुरी पर मोहित होकर जब अकेले ही जिनराज के साथ लड़ाई लड़ने जाने के लिए तैयार होता है तो मोह ही उसे इस अविचारित प्रवृत्ति से रोकता है। मुक्ति-कन्या के निकट आर्यिका वेष में जाती हुई रति को मोह ही वापिस लौटा लाता है और मकरध्वज के इस अन्याय का खुल कर विरोध करता है। ऐसा करते समय वह भूल जाता है कि वह एक त्रैलोक्याधिपति राजा को डाट लगा रहा है। वह कहता है—"देव, बतलाइए तो, यह किस प्रकार की उत्सुकता तुम्हारे मन में समाई? तुम में इतनी भी सहनशीलता न निकली जो मै वापिस तो आ जाता! भला, कभी किसी ने अपनी पत्नी को भी दूत बना कर भेजा है? यदि जिनराज के रक्षक रति को मार डालते तो इस स्त्रीहत्या का पाप कौन अपने सिर पर लेता? संसार भर में जो अपयश फैलता, वह अलग। खेद है कि मेरी अनुपस्थिति में तुम इतना भी विचार न कर सके!"

मोह की मकरध्वज के प्रति बहुत ही उत्कट भक्ति और निष्ठा है और वह अपनी बुद्धिपूर्वक किये गये प्रत्येक प्रयत्न को मकरध्वज के प्रभाव से ही सफल हुआ बतलाता है। आत्म-प्रशंसा सुनने का उसे तनिक भी व्यामोह नहीं है। जब मोह मकरध्वज को सुनाता है कि मैने समस्त सैन्य का सम्मेलन कर लिया है और इस प्रकार का भी यत्न किया है जिससे मुक्ति-कन्या तुम्हारे साथ विवाह करने के लिए तैयार हो जावे तो मकरध्वज उसकी दिल खोलकर प्रशंसा करता है, परन्तु वह उत्तर में यही कहता है:—

"देव, अहमिति स्तुतियोग्यो न भवामि। यन्मया स्वामिकार्यं क्रियते स स्वामिनः प्रभाव।"

यह मोह का ही सुझाव था कि जिनराज के ऊपर आक्रमण करने के पहले उसके सैन्यबल आदि के परिज्ञान के लिए जिनराज के पास दूत भेजा जाना चाहिए। और यह भी मोह का ही प्रस्ताव था कि दूतत्व का दायित्व राग और द्वेष के ऊपर ही छोड़ा जाना चाहिए।

यद्यपि मोह ने मकरध्वज के सामने इस प्रकार का कोई विचार व्यक्त नहीं किया है कि उसे जिनराज के विरुद्ध संग्राम छेड़ने की कोई तैयारी नहीं करनी चाहिए और न ऐसा करने से उसे सफलता ही मिलेगी; परन्तु जब मिथ्यात्व वीर अकेले ही जिनराज को पराजित कर देने का दुःसाहस प्रकट करता है तो मोह के मुँह से उसका हार्दिक भाव व्यक्त हो ही जाता है और तब मिथ्यात्ववीर से वह बलपूर्वक कहता है—

ऐसा कौन बलवान् है जो संग्राम में जिनराज का सामना कर सके?

इस घटना के पहले ही हमें एक बार और देखने को मिलता है कि मकरध्वज के उज्ज्वल भविष्य के सम्बन्ध में मोह की कोई अच्छी धारणा नहीं है। जिस समय मुक्ति-कन्या के निकट जाते हुए मार्ग में रति की मोह से भेंट हो जाती है और वह काम की इस मदान्ध वृत्ति का चित्र

उसके सामने उपस्थित करती है, तब वह रति से स्पष्ट शब्दों में अपना हार्दिक भाव प्रकट कर देता है। वह कहता है—

देवि, आपने बिलकुल ठीक कहा है। परन्तु होनहार दुर्निवार है।

मोह ने "होनहार दुर्निवार है" कह कर बहुत ही साफ कर दिया कि अब मकरध्वज महाराज का बहुत ही शीघ्र पतन होने वाला है।

यह एक आश्चर्य की बात है कि इस प्रकार तथा अन्य प्रकारों से भी मकरध्वज के बलाबल के सम्बन्ध में पूरी जानकारी रखते हुए और उसका अनन्य हितैषी होते हुए भी मोह ने मकरध्वज के सामने एक भी बार अपना यह हार्द नहीं रक्खा है कि उसे जिनराज-जैसे बलवान नरेश के साथ कदापि संग्राम नहीं करना चाहिए।

मोह अपनी नाथ-निष्ठा का अन्त तक निर्वाह करता है। वह जिनराज के विरुद्ध लड़ाई लड़ने के लिए बराबर मकरध्वज को प्रोत्साहित करता रहता है और अन्त में स्वामी की विजय के पीछे अपने प्राणों की आहुति तक दे डालता है।

रति और प्रीति

मकरध्वज की रति और प्रीति नामक दो पत्नियाँ हैं। इन दोनों में रति बहुत ही कुशल मालूम देती है। वह मकरध्वज के मुख-मण्डल पर अङ्कित भाव-भङ्गिमा देखकर ही जान लेती है कि उसके स्वामी को किसी गहरी चिन्ता ने व्याकुल कर दिया है। वह अपनी सखी प्रीति से इस बात की चर्चा करती है, परन्तु वह उसे "अव्यापारेषु व्यापार" कह कर टाल देती है। अन्त में रति ही अपने सम्पूर्ण साहस को समेट कर मकरध्वज से उसकी चिन्ता का कारण पूछती है। वह पर-दुःखकातर होकर अपने स्वामी की चिन्ता दूर करना चाहती है, परन्तु विधि का विधान, जो उसके स्वामी की ओर से ही उसके ऊपर चिन्ता और दुःख का पहाड़ टूट पड़ता है। मकरध्वज रति से प्रस्ताव करता है कि यदि तुम्हें हमारा तनिक भी दुःख-दर्द है तो तुम्हें इस प्रकार का यत्न करना चाहिए, जिससे अपने विवाह के अवसरपर मुक्ति-कन्या मुझे ही अपना जीवन-संगी चुने।

रति अनेक प्रकार के दृष्टान्तों से, नीतियों से और आर्ष कथाओं से मकरध्वज के इस विचार को बदलने का प्रयत्न करती है; परन्तु उसका कोई परिणाम नहीं निकलता है। इसके विपरीत मकरध्वज की ओर से ही रति को एक और असह्य लाञ्छना का पात्र होना पड़ता है जो उसने किसी अन्य पति की तलाश कर ली है और वह मकरध्वज को इस शोकाग्नि में तिल-तिल जलाकर मार डालना चाहती है! रति इस समय लज्जा, घृणा और रोष की प्रतिमूर्ति बन जाती है और जोरदार शब्दों में मकरध्वज के इस अपवाद का प्रतिवाद करती है। रति के प्रतिवाद को पढ़ते समय हमें 'अभिज्ञान शाकुन्तल' की शकुन्तला की वह उक्ति ध्यान में आ जाती है, जो उसने शापान्ध दुष्यन्त के प्रति तब सुनाई थी जब उसने पूर्व में स्वीकृत किये गये शकुन्तला के पत्नीत्व-सम्बन्ध को मानने से एकदम इनकार कर दिया था और इस प्रकार का अभियोग सूचित किया था मानो परकीय पुरुष की आकांक्षा से ही उसने यह काण्ड खड़ा कर दिया है। शकुन्तला ने क्रोध से काँपते हुए स्वर में कहा था—

"तुम्हे ज्जेव पमाणं जानव धम्मरिथदिं च कोभस्स।
कुजाविणिज्जिदाओ जाणंति ण किंपि महिलाओ॥"

[राजन्, तुमने जो मेरा पाणिग्रहण किया है, उसका साक्षी धर्म के सिवा और कोई नहीं है। कुल-ललनाएँ क्या कभी इस प्रकार निर्लज्ज होकर पर पुरुष की आकांक्षा किया करती हैं ?]

परन्तु इतने मात्र से रति को छुटकारा नहीं मिलता है। मकरध्वज से उसकी चिन्ता के कारण को पूछने के आरम्भ में ही रति का यह अप्रकट मानसिक संकल्प था कि वह अपने स्वामी को चिन्तामुक्त करने का यथाशक्ति प्रयत्न करेगी और अपने पातिव्रत्यको सफल करेगी। अत: मकरध्वज की प्रस्तुत कार्य-सिद्धि के लिए रति को अपनी प्रिय सखी प्रीति का भी समर्थन प्राप्त होता है उसे आर्यिका का वेष बना कर मुक्ति-कन्या के निकट प्रस्थान कर ही देना पड़ता है। रति की इस प्रकार की व्यथा का दूसरा उदाहरण कदाचित् ही उपलब्ध संस्कृत साहित्य में कहीं अन्यत्र देखने को मिले। उसकी इस व्यथा की सच्ची अनुभूति इस प्रकार की परिस्थिति के चक्र में पड़ी हुई एक कुलाङ्गना ही कर सकती है। पर इस परिताप की अनुभूति उसे अधिक समय तक पीडित नहीं कर पाती। उसके पातिव्रत्य का प्रताप जोर लगाता है, कुछ दूर चलने पर ही उसकी मोह से भेंट हो जाती है और वह उसे वापिस ले आता है।

एक भारतीय पतिव्रता नारी की भांति मकरध्वज की हित-चिन्ता रति के मन को सदैव कुरेदती रहती है। मोह के धराशायी हो जाने पर जिस समय बहिरात्मा मकरध्वज के सामने रणस्थली से भाग चलने का प्रस्ताव उपस्थित करता है, रति तुरन्त ही उसका समर्थन करती है। वह कहती है— "देव, बन्दी का कहना बिलकुल यथार्थ है। अब इसी में कल्याण है कि हम लोग यहाँ से भाग चलें। इस समय आपको व्यर्थ का अभिमान नहीं करना चाहिए।"

प्रीति की प्रकृति में रति की तरह मकरध्वज के लिए इस प्रकार की सक्रिय चिन्ता कहीं भी देखने को नहीं मिलती है। पहली बार जब मकरध्वज मुक्ति-कन्या की प्राप्ति की उत्सुकता में सचिन्त दिखलाई देता है और रति उसकी इस मानसिक चिन्ता के कारण को जानने की उत्सुकता प्रकट करती है तो प्रीति इसे "अव्यापारेषु व्यापार" बतला कर तटस्थ रह जाती है। यहाँ पर भी हमें प्रीति रति की तरह सचिन्त और उसके कल्याणाचरण में तत्पर दिखलाई नहीं देती है। जब रति मकरध्वज के सामने बन्दी के रणस्थली से भाग चलने के प्रस्ताव के औचित्यका समर्थन करती है तो प्रीति एक मध्यस्थ की तरह इतना ही कह कर रह जाती है—

"सखि, बेकार बात क्यों करती हो ? मकरध्वज एकदम मूर्ख, पापी और महान् आग्रही हैं— वह हम लोगों की बात सुन नहीं सकते। अब जिनराज को जयश्री की प्राप्ति और हमारे वैधव्य योग को कौन टाल सकता है ?"

मालूम होता है, जैसे प्रीति मकरध्वज के स्वभाव से पूरी तरह परिचित है और उसके मत-परिवर्तन के सम्बन्ध में वह एकदम निराश हो चुकी है।

मकरध्वज के पराजित हो जाने पर यह रति और प्रीति का ही प्रयत्न है कि वे जिनराज से प्रार्थना करके मकरध्वज के प्राणों की अभय माँग लेती हैं। परन्तु नियति का नियोग, जिस संभावित

वैधव्य योग को टालने के लिए रति और प्रीति इतनी दौड़-धूप करती हैं, वह मकरध्वज के आत्म-घात कर लेने से व्यर्थ हो जाती है और वैधव्य का राहु इनके सौभाग्य सूर्य को बलात् आक्रान्त कर के ही छोड़ता है।

राग और द्वेष

राग और द्वेष मकरध्वज के दूत हैं। यह इतने स्वामिभक्त हैं कि इनमें यथेष्ट वीरोचित पौरुष होने पर भी जिनराज के निकट मकरध्वज का संदेश पहुँचाने के लिए सहर्ष दूतत्व का भार स्वीकार कर लेते हैं। इतना ही नहीं, वे इस स्वीकृत भार को उठाकर उसमें सफलता प्राप्त करने का भी भरसक प्रयत्न करते हैं। वे इस बात को अच्छी तरह से जानते हैं कि स्वामी का आदेश, चाहे वह अच्छा हो चाहे बुरा हो, जरूर ही पालन करना चाहिए। अन्यथा सेवक राजा का प्रेम-पात्र नहीं हो सकता। जब ये दोनों जिनराज के दरबार में जाने के पहले संज्वलन से भेंट करते हैं और संज्वलन इन दोनों से इस दूतत्व के भार को वहन करने के कारण को पूछता है तो ये उसे उक्त उत्तर देकर ही मौन कर देते हैं।

राग-द्वेष वस्तुतः अपनी दूत-कला में पूरे कुशल है। एक सफल दूत में जो गुण पाये जाने चाहिए, वे सब इनमें विद्यमान हैं। जब संज्वलन इनसे कहता है कि तुम लोगों का जिनराज के दरबार में जाना हितकर न होगा, यह इतने से ही भयभीत नहीं हो जाते। इसके विपरीत वे संज्वलन से यही कहते है कि अभ्यागतों के साथ तो आपको ऐसा व्यवहार नहीं ही करना चाहिए।

परन्तु इन सब गुणों के बावजूद भी इनमें एक दोष है और वह है इनकी उद्धतता। जब ये स्वामी की इच्छा के प्रतिकूल जिनराज का प्रतिवाद सुनते हैं तो इन्हें रोष हो आता है और जिनराज के सामने ही ये अपनी चपलता प्रकट करने लगत हैं। यही कारण है जो संयम के द्वारा इन्हें कठोर-तम दण्ड दिया जाता है और जिनराज के दरबार से ये निकाल दिये जाते है।

मकरध्वज, बन्दी बहिरात्मा को भी कुछ समय के लिए अपना दूत बनाता है; परन्तु अपनी वाचालता के कारण उसकी भी इसी प्रकार की दुर्गति की जाती है।

७. रूपक-योजना

मदनपराजय यद्यपि एक रूपकात्मक कथा-ग्रन्थ है; परन्तु नागदेवने इसमें हृदयहारी रूपकों की इतनी योजना की है कि यदि इसे 'रूपकभण्डार' कहा जावे तो अतिशयोक्ति न होगी। इन रूपकों के निर्माण में सचमुच नागदेव ने अपनी एक गंभीर कलापूर्ण सुरुचि का परिचय दिया है और ऐसा करते समय उन्होंने अपनी कल्पना और प्रतिभा का बड़ी ही सावधानी के साथ बहुत सूक्ष्म और गहरा उपयोग किया है। इस प्रकार एक एक रूपक एक एक जीवन्त चित्र का प्रतीक हो उठा है। मुक्ति-कन्या का रूपक देखिए—

"उसका केशपाश मयूर के गले के समान नीला है, फूलों के समान कोमल है और सघन तथा कुटिल है। उसमें अनेक प्रकार के सुगन्धित कुसुम गुंथे हुए हैं, जिनपर यमुनाजल की तरह काले काले भ्रमर गुनगुनाया करते हैं। उसका मुख सोलह कलाओं से पूर्ण एवं उदित हुए चन्द्र-जैसा

है और भ्रू लता इन्द्र के प्रचण्ड भुज-दण्ड में स्थित टेढ़े धनुष के समान है। उसके नेत्र विशाल हैं और वे विकसित एवं वायु-विकम्पित नील कमलों से स्पर्धा करते हैं। उसकी नासिका कान्तियुक्त है, सुवर्ण और मोतियों के आभूषणों से भूषित है तथा तिलक वृक्ष के कुसुम के समान सुन्दर है। उसका अधर-बिम्ब अमृत रस से परिपूर्ण है और मन्द तथा शुभ्र स्मित से विलसित हो रहा है। उसका कण्ठ तीन रेखाओं से मण्डित है और उसमें अनेक प्रकार के नीले, हरे मणियों तथा सुन्दर, उज्ज्वल एवं गोल-गोल मोतियों से अलङ्कृत हार पड़े हुए हैं। उसका शरीर चम्पा के अभिनव प्रसून की तरह स्वच्छ और तपाये गये सोने की कान्ति के समान गौर है। उसकी बाहु-लता नूतन शिरीष की पुष्पमाला की तरह मृदुल है और मध्यभाग प्रथम यौवन से विकसित तथा कठोर स्तन कलश के भार से झुका हुआ और कृश है। उसकी नाभि, जघन, घुटने, चरण और चरण-ग्रन्थियाँ लावण्य से निखर रहीं हैं।"

नागदेव की कल्पना की सूक्ष्म तूलिका से चित्रित किया गया मुक्ति-कन्या का यह चित्र एकदम अपूर्व और मनोहर है। कलाकार, मुक्ति-कन्या के इस चित्र को कतिपय विभिन्न रंगो से अनुरञ्जित करके एक दूसरे आकार में भी उपस्थित कर सकता था, परन्तु मालूम देता है, मकरध्वज को रिझाने की दृष्टि से ही उसने इस चटकीले चित्र को तैयार किया है। जो हो, नागदेव द्वारा चित्रित किया गया मुक्ति-कन्या का यह चित्र उपलब्ध सस्कृत साहित्य में बेजोड़ है।

तृतीय परिच्छेद में रेखाङ्कित किये गये मकरध्वज की सैन्य का एक चित्र देखिए—

"मकरध्वज का सैन्य, दुष्ट लेश्यारूपी पताका-पटों से सघन था। इन पताकाओं में कुकथारूपी उन्नत दण्ड लगे हुए थे, और ये आकाश में आन्दोलित होकर दर्शकों के मनमें आह्लाद उत्पन्न कर रही थीं। इसके सिवा यह सैन्य जाति, जरा और मरणरूपी स्तम्भों से सुशोभित था। मिथ्यादर्शनरूपी पाँच प्रकार के शब्दों से जगत् को बहरा कर रहा था और दश कामावस्थारूपी छत्रों के कारण इसमें सर्वत्र अन्धकार घनीभूत हो रहा था।"

इस चित्र-दर्शन के साथ जिनराज के सैन्य-चित्र के भी दर्शन कीजिए:—

"जीव के स्वाभाविक गुणरूपी अश्वों के खुराघात से उठी हुई धूलि से आकाश-मण्डल आच्छन्न हो गया है। चार प्रमाण और सप्तभंगी रूप महान् गजों के चीत्कार के सुनने से दिग्गजों को भी भय होने लगा है। चौरासी लक्षणरूपी महारथ के कोलाहल ने समुद्र के गर्जन को भी अभिभूत कर दिया है। पाँच समिति और पाँच महाव्रतों के संदेश ने तथा स्याद्वादभेरी के शब्द ने दिङ्मण्डल को बहरा कर दिया है। गगनचुम्बी शुभलेश्या रूपी विशाल दण्डों से अनङ्ग की सेना को भी भय होने लगा है। लब्धिरूपी पताकाओं की छाया से दिक्चक्र भी आच्छन्न हो गया है और विविध व्रतरूपी स्तंभों से सैन्य की शोभा और अधिक निखर आई है।"

इन असमान सैन्य चित्रों के चित्रण में नागदेव ने जिस कुशलता का उपयोग किया है, उससे उनकी सूक्ष्म कल्पना-शक्ति का सहज ही आभास प्राप्त होता है।

शङ्का शक्ति का चित्र देखिए:—

"शङ्का शक्ति वीरश्री की वेणी है। कामदेव के भुजबल से उपार्जित द्रव्य की रक्षा के लिए नागिन है। शत्रु-भुजाओं की सेना के भक्षण के लिए यमराज की जिह्वा है। क्रोधाग्नि की कील है।

विजय की वधू है और मूर्तिमान् मन्त्रसिद्धि है।"

देखिए, जिनराज का यह चित्र कितना सजीव बन पड़ा है—

"वह मोक्षरूपी नद के राजहंस हैं। साधुरूपी पक्षियों के विश्राम-स्थान हैं। मुक्ति-वधू के पति हैं। काम-सागर के मथन के लिए मन्दराचल हैं। भव्यजनों के कुलरूपी कमलों को विकसित करने के लिए सूर्य तुल्य हैं। मोक्ष के दरवाजे के किवाड़ तोड़ने के लिए कुठार हैं। विषयरूपी विषधर के लिए गरुड़ हैं। साधुरूपी सरोवर के विकास के लिए चन्द्रमा हैं। और मायारूपी हथिनी के लिए सिंह हैं।

मकरध्वज के मनोगज का चित्र भी अपूर्व दिख रहा है—

मनोगज की सूँड़ विशाल संसार है। चारों पैर कषाय हैं। दाँत राग और द्वेष हैं और मनोहर नेत्र दो आशाएँ हैं।

वृषभसेन गणधर का यह शब्द-चित्र भी देखिए—

"वे शास्त्ररूपी समुद्र के पारगामी है। चन्द्रमा की तरह मनुष्यों को आल्हादित करते है। मदनरूपी हाथी के लिए सिंह की तरह है। दोषरूपी दैत्यों के लिए अमरेन्द्र है। समस्त मुनियों के नायक हैं। कर्मों को नाश करने में कुशल हैं। कुगति के नाशक हैं। दया तथा लक्ष्मी के लीलायतन हैं। संसार के पङ्क को प्रक्षालित करनेवाले है। याचकों के मनोरथ पूर्ण करनेवाले हैं। समस्त गणधरों के ईश हैं और ज्ञान के प्रकाश हैं।"

इनके अतिरिक्त बहिरात्मा बन्दी, *अन्याय* काहलिक, मद-कुञ्जर, धर्म-वीर, अविचार-कारावास, सम्यक्त्ववीर, षडायतन-बाण, आकांक्षा आयुध, आवश्यक-बाण, स्याद्वाद्-भेरी, कर्म-धनुष और तत्त्व-माला, आदि अनेक अद्भुत रूपक, समुद्र में रत्नों की तरह स्थान-स्थान पर इसमें बिखरे हुए दृष्टि-गोचर होते हैं।

८. भाषा

मदनपराजय की भाषा रूपकों के जाल में जकड़ी हुई होने पर भी दुरूह नहीं है। सुबोध होने पर भी परिष्कृत नहीं है और कहीं कहीं वह इतनी शिथिल मालूम देती है, मानो नागदेव ने उसे संवारने का तनिक भी यत्न नहीं किया है। यही कारण है जो हमें इस ग्रन्थ में कुछ ऐसे स्थल देखने को मिलते हैं, जो भाषाशास्त्र की दृष्टि से स्खलित और असंगत हैं।

(१) निम्नलिखित धातुओं के प्रयोग विचारणीय है—

मिमिलतुः के स्थान पर 'अनुमिलतुः का प्रयोग किया गया है (पृ० ३३, प० २५)। निरीक्ष्यसे के स्थान पर 'निरीक्ष्यसि' का प्रयोग हुआ है (पृ० ५९ प० २४), और आकर्षति के स्थान पर 'आकर्षते' प्रयुक्त किया गया है (पृ० ६६ प० २५)।

(२) निम्नलिखित कृदन्त के तथा साधारण प्रयोग विचारणीय है—

आह्वान के स्थान पर 'आह्वानन' का प्रयोग किया गया है (पृ० ६२ प० १४)। अव-गणयमानः के स्थान पर 'अवगणय्यमाण' का प्रयोग किया गया है (पृ० ४४ प० ११)। लम्ब-

मान के स्थान पर 'लम्भ्यमान' प्रयुक्त हुआ है (पृ० ४७ प० १)। व्यक्त्वा के स्थान पर 'त्यक्त्य' का प्रयोग हुआ है (पृ० ४७ प० १८)। सन्धाय के स्थान पर 'सन्धित्वा' का (पृ० ५५ प० २१), आहूता के स्थान पर 'आह्वानिता' का (पृ० ५७ प० २३), एभिः के स्थान पर 'इमैः' का (पृ० ९ प० १०), चङ्क्रमित्वा या प्रचङ्क्रम्य के स्थान पर 'चङ्क्राम्य' का (पृ० १२ प० १७), जीव्यमानः के स्थान पर 'जीवमानः' का (पृ० २३ प० ९, २०), क्रुद्ध्यन्तौ के स्थान पर 'क्रुद्ध्यमानौ' का (पृ० ३२ प० २०), और संक्रुद्ध्यन् के स्थान पर 'संक्रुद्ध्यमानः' का प्रयोग किया गया है।

(३) निम्नलिखित स्थलों पर लोट् के अर्थ में वर्तमान लकार का प्रयोग किया गया है—

क्रियते (पृ० २१ प० ८ पृ० २९ प० १), प्रक्षिप्यते (पृ० ४१ प० १७), क्रियते जीव्यते (पृ० ४३ प० ६), क्रियते गम्यते (पृ० ५५ प० ७,८) और (पृ० ५६ प० २०,) संस्मर्यते (पृ० ५८ प० १६), बध्यते–क्रियते (पृ० ६१, प० ९, ११) तथा कथ्यते (पृ० ६२ प० ६)।

(४) निम्नलिखित सन्धिस्थल विचारणीय हैं—

'यतो कुमारी' (पृ० ४० प० ११) में हश् और अत् के परे न होने पर भी उत्व और पश्चात् ओत्व कर दिया गया है। 'चन्द्रमार्कौ' में चन्द्रमस शब्द के अदन्त न होने पर भी सवर्ण दीर्घ किया गया है (पृ० ४१ प० ६)। इसी प्रकार 'हृष्टमनाब्रवीत्' (पृ० ६५ प० १३) में मनस् शब्द के सान्त होने पर भी सवर्ण दीर्घ कर दिया गया है तथा 'वस्थित कीदृशोऽसौ' (पृ० ६७ प० ८) में नियम-प्राप्त न होने पर भी विसर्ग का लोप कर दिया गया है। इस प्रकार छन्दोभङ्ग की सुरक्षा तो कर ली गई है, परन्तु सन्धिगत नियमानुसार प्रयोगों में स्खलना आ गई है।

(५) निम्नाङ्कित वाक्यासंगतियाँ ध्यान देने योग्य हैं—

(१) अथाऽसौ जीव (व्य) मानो भूत्वा······त्रयाणामभिमुखो भूत्वा यथासङ्ख्यं निपातिताः (पृ० २३, प० २२)। (२) तस्य नाशो विजानीयात् (पृ० २० प० ३)। (३) रक्ष मे वैधव्यम् (पृ० ४९ प० ४)। (४) ततोऽनन्तरं सम्यक्त्ववीरेण यावत् स्वसैन्यं भज्यमानं दृष्टं तावद्धावन्नागत्य··· जिनराजं प्रति प्रतिज्ञां गृहीतवान् (पृ० ५० प० ३)। (५) तत्त्वया तद्विद्याबलेनाभीष्टसिद्धिर्भवति (पृ० ५७ प० २२)। (६) तावद्धर्मध्यानेन समरक्रुद्धेनाग्रतः स्थित्वा मोहमल्ल······शतखण्डमकार्षीत् (पृ० ६० प० १९, २०)। (७) शरणागतमपि वैरिणं न हन्यते (पृ० ६३ प० ९)। (८) त्वया तपः-श्रीगुणतत्त्वमुद्रान्, महाव्रताचारदयानयादीन्, एते ह्यवश्यं प्रतिप लनीयान् (पृ० ६९, ७० प० २६, २७, ८)। (९) तेन मोहेन तां रतिरमणीमतिक्षं णां चिन्तापरिपूर्णिं दृष्ट्वा विस्मितमनाः स मोहः प्रोवाच (पृ० १६ प० २२, २३) 'तेन मोहेन' इन दो पदों के आधिक्य से ही यह वाक्यासंगति बन पड़ी है। (१०) न (ननु) मे कृष्णमांसानि करालाश्च दन्ताः (पृ० ५२ प० १९)। यह वाक्यासंगति भाषा की दृष्टि से नहीं अपितु अर्थदृष्टि से है। (११) सम्प्राप्तस्तत्र शीघ्रं जिनवरयात्रामङ्गलं गायनार्थम् (पृ० ६८ प० १७)।

(६) निम्नलिखित विशेषण-विशेष्यभाव की असंगति ध्यान देने योग्य है—

(१) प्राप्तो मूढनृपैस्त्रय (त्रिभि) श्च सहितं (तः) (पृ० ३५ प० १२)। (२) ततः स

केवलज्ञानवीरः क्रुद्धमनो (ना) भूत्वाऽवोचत (पृ० ५४ प० ८)। (३) नरकगति की उक्ति में "मया विरहभीरुणा (पृ० ५२ प० ६) । (४) निर्घोषै रथजैः स्वनः प्रपतितम (पृ० ४४ प० २३) ।

(७) निम्न लिखित पुल्लिङ्ग शब्दों का नपुंसक लिङ्ग में किया गया प्रयोग भी ध्यान देने योग्य है:—

उपाय—"तथोपायं (यः) कर्तुमीरव्यम (ष्योऽ) स्ति" (पृ० ५, प० ४, ५)। श्वापद—"श्वापदमेकमागतमस्ति (पृ० २२ प० २५), तथा "एतच्छ्वापदं मया मन्त्रेण कीलितमस्ति", (पृ० २२ प० २७) । अभिलाष—तत्किं परदाराभिलाषं कर्तुं युज्यते ? (पृ० १७ प० ७)। वृत्तान्त—"तदेतद् वृत्तान्तं त्वां प्रति कथ्यते" (पृ० ४९ प० ७) तथा "वृत्तान्तमुक्त स पुनर्बवाद" (पृ० ६४ प० २१) । भङ्ग—"तावद्भङ्गमागतं त्वत्सैन्यस्य" (पृ० ५३ प० २०)। पोत—"पोतानीव विभान्ति तानि रुधिरे" (पृ० सं० ४७ प० १६) इनमें से महाकवि जयसिंहनन्दि के वराङ्गचरित में भो (१५ सर्ग का प्रथम पद्य) वृत्तान्त शब्द को नपुंसक लिङ्ग में प्रयुक्त किया गया है ।

(८) इसी प्रकार कतिपय पुल्लिङ्ग शब्दों का स्त्रीलिङ्ग में भी प्रयोग हुआ है। यथा—

जिनराजस्य बाणवर्षा न स्थिरा दृश्यते (पृ० ५९ प० २५) । काय—क्षणविध्वंसिनी काया (पृ० ६० प० १२)

एक स्थान पर नपुंसक लिङ्ग स्वन शब्द का भी पुल्लिङ्ग में प्रयोग हुआ है । यथा—"निर्घोषै रथ जैः स्वनः प्रपतितम्" (पृ० ४४ प० २३) ।

(९) निम्नलिखित कारक की असंगति भी विचारणीय है—

"किमर्थमेतस्य युष्माक मनसि भीतिर्भ्रियते ? (पृ० ६२ प० २४) ।

(१०) नीचे लिखी हुई समास असंगति भो विचारणीय है ।—

(१) ब्रह्माविष्णुमहेश्वरैरपि (पृ० २९ प० ५) ।

(२) यथाशक्त्या (पृ० ६७ प० १७) ।

इनके सिवाय कुछ अन्य विशिष्ट प्रयोग भी विचारणीय हैं। शिवासखः के स्थान पर 'शिवासखा' का प्रयोग किया गया है (पृ० ४४ प० ५) और पाणिनीय के "राजाहःसखिभ्यष्टच्" को बिलकुल उपेक्षा की गई है । सिकता शब्द के स्थान पर "शिक्ता" का प्रयोग किया गया है (पृ० ४७ प० ११) और मालूम देता है कि छन्दोभङ्ग के दोष को बचाने की दृष्टि से ही यह किया गया है। 'काया' शब्द देशी भाषा का है और यहाँ (पृ० ६० प० १२) जो उसका स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग हुआ है, वह इस भाषा के प्रबल प्रचार के कारण ही प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है । एक स्थान पर काव्यगत प्रसिद्धित्याग दोष भी दिखलाई देता है। यथा—"स्वनान्मृगेन्द्रस्य यथा गजादयः" (पृ० ५१ प० १५) । यहाँ सिंहनाद के अर्थ में प्रयुक्त हुआ स्वन शब्द मध्यम ही है। इसके अतिरिक्त युद्धविस्तारेण के स्थान पर "युद्धविस्तरेण" (पृ० ५७ प० १२) का भो प्रयोग किया गया है । और शिल्पकारक के स्थान में 'शिल्पिकारक' का ही सर्वत्र—आठ जगह प्रयोग हुआ है (पृ० १९, २०, २१, २२, २३, २४) । 'परं किन्तु' का एक साथ प्रयोग किया गया है और वह दो स्थलों में हुआ है (दे०, पृ० १७ प० २३ तथा पृ० १०) । एक स्थान पर 'इत्य-

मेषं' का भी साथ-साथ प्रयोग हुआ है (पृ० ४३ प० ३) और जगह 'नानाविधैः प्रकारैः' का भी उल्लेख किया गया है (पृ० ६१ प० २५)।

इसके सिवा एक स्थान पर 'पञ्चेषुना' में णत्व की उपेक्षा की गई है (पृ० ४१ प० १८), तथा फाल के अर्थ में 'फरी' शब्द प्रयुक्त हुआ है (पृ० ५५ प० १)।

९ शैली

मदनपराजय रूपक-प्रधान एवं रूपकात्मक ग्रन्थ होने पर भी पञ्चतन्त्र और सम्यक्त्वकौमुदी की शैली पर लिखा गया है। यद्यपि पञ्चतन्त्र की तरह मदनपराजय में मूलकथा के अन्तर्गत अवान्तर कथाओं की एक बहुत लम्बी संख्या नहीं पाई जाती है; परन्तु इसमें भी मूलकथावस्तु की चर्चा को प्रामाणिक और प्रभावोत्पादक बनाने की दृष्टि से कतिपय स्थलों में पञ्चतन्त्र की तरह अवान्तर कथाओं का भी समावेश किया गया है। मदनपराजय पञ्चतन्त्र की ही तरह गद्य-पद्य दोनों में लिखा गया है और इसमें भी पात्रों की उक्तियों को प्रभावपूर्ण और जोरदार बनाने की दृष्टि से प्रत्येक स्थल पर सुन्दर सुभाषित और समुचित नीतियों का प्रयोग हुआ है। मूल-कथा-वस्तु गद्य से प्रारम्भ होती है, परन्तु कथा-पात्रों के वार्तालाप को समर्थित करने के लिए सुभाषित और नीतियों के रूप में पद्यों का भी प्रचुरता से व्यवहार किया गया है। पर पञ्चतन्त्र की इस तथोक्त शैली की दृष्टि से मदनपराजय की शैली में एक और विशेषता है। और वह यह है कि जहाँ पञ्चतन्त्र की मूल कथा वस्तु गद्य में ही चलती है और पात्रों की उक्तियों को प्रभावक और बलवत् बनाने की दृष्टि से ही पद्य प्रयुक्त किये गये दिखलाई देते हैं, वहाँ मदनपराजय में मूल-कथा-वस्तु को गद्य और पद्य-दोनों ही में चलाया है।

मदनपराजय से पहले लिखे गये किसी भी रूपकात्मक—Allegorical ग्रन्थ में मदन-पराजय जैसी सूक्तियों और सुभाषितों की भरमार नहीं देखी जाती है। जान पड़ता है कि नागदेव पञ्चतन्त्र की शैली से बहुत अधिक प्रभावित थे। यही कारण है जो उन्होंने मदन-पराजय सम्बन्धी अपनी रूपकात्मक रचना को सर्वप्रथम पञ्चतन्त्र की शैली पर लिखा और प्रधान कथा वस्तु के प्रथन-काल में जहाँ तक उनसे बन पड़ा उन्हों ने सुभाषितों और सूक्तियों को प्रयुक्त करने का एक भी अवसर अपने हाथ से नहीं जाने दिया।

मदनपराजय के तुलनात्मक अध्ययन करने से प्रतीत होता है कि नागदेव की चित्रण-शैली भारतीय पुण्य पुरातन से पूर्णतः प्रभावित और आकर्षित है। यही कारण है जो हमें जिनराज और मकरध्वज के बीच होने वाले युद्ध में भारतीय आदर्श यौद्धिक पद्धति की झाँकी दिखलाई देती है और जिनराज तथा मुक्ति-कन्या के स्वयंवर की सुन्दर वर्णना हमें स्वयंवर के उस भारतीय आदर्श वैवाहिक युग में ला छोड़ती है। मदनपराजय की समर पद्धति में कोई नवीनता नहीं है। भारतीय प्राचीन युद्धपद्धति के अनुसार युद्ध के पूर्व यहाँ भी प्रतिपक्षी के पास दूत भेजा गया है और समरकालीन अस्त्रों में भी वही पुराने तीर, भाला, परशु, गदा, शक्ति, कुन्त, कृपाण, पट्टिश और चक्र आदि अस्त्र-शस्त्रों का ही उपयोग हुआ है। स्वयंवर पद्धति से विवाह होना और उसमें भी धनुर्भङ्ग को स्थान दिया जाना भारतकी एकदम प्राचीन कल्पना है।

इसी प्रकार प्राचीन परम्परा को ध्यान में रखते हुए नागदेव ने स्त्री-निन्दा के काण्ड को अपनी रचना में भी समाविष्ट कर दिखाया है। यद्यपि नागदेव ने इस काण्ड को मुक्तिकन्या की प्राप्ति के लिए पागल मकरध्वज के द्वारा रति की निन्दा करने के प्रसङ्ग में उपस्थित किया है; परन्तु इतने मात्र से हम उन्हें स्त्री-निन्दा करने वाले प्राचीन आचार्य वर्ग की परम्परा से विभक्त नहीं कर सकते। यदि मदनपराजय के कर्त्ता को स्त्री-निन्दा का पक्ष इष्ट न होता तो उस प्रसङ्ग में उन्हें एक दो सुभाषितों को उद्धृत करके ही विरत हो जाना चाहिए था; परन्तु हम देखते हैं कि उन्होंने अपने इस पक्ष की पुष्टि में लगातार दस पद्यों का उद्धरण दिया है, वहाँ उन्होंने वेश्या की निन्दा को सूचित करने वाले 'मृच्छकटिक' नाटक के एक पद्य में हेरफेर करके उसे सामान्य स्त्री-निन्दापरक करने का भी साहस किया है। (दे० म० परा०, पृ० १५ पद्य ३१)!

संसार में सभी पुरुषों और स्त्रियों को एकान्ततः अच्छा और बुरा नहीं कहा जा सकता। अच्छाई और बुराई दोनों ही में समान रूप से पाई जाती हैं। कुछ पुरुष अच्छे होते हैं तो कुछ स्त्रियाँ अच्छी होती हैं और कुछ स्त्रियाँ बुरी होती हैं तो कुछ पुरुष बुरे होते हैं। ऐसी स्थिति में जहाँ एक स्त्रीलेखक के द्वारा समग्र पुरुष जाति पर किया गया निन्दात्मक आक्रमण समुचित नहीं कहा जा सकता, उसी प्रकार वहाँ पुरुष-लेखकों के द्वारा समग्र नारी जाति पर किया गया यह निन्दात्मक आक्रमण भी समुचित नहीं है। यह दलील युक्ति-युक्त नहीं कही जा सकती कि नारी पुरुष के साधना-मार्ग में बाधक चट्टान है। क्यों कि नारी के साधन-मार्ग में पुरुष के भी बाधक होने की दलील उसी आसानी के साथ उपस्थित की जा सकती है। संस्कृत साहित्य में स्त्री-निन्दा की परम्परा प्राचीन है। उसके मूल में कौनसी मनोवृत्ति काम करती रही, इसे ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता। परन्तु इतना सुनिश्चित है कि पुरुष ने अपनी साधना सम्पत्ति को सुरक्षित रखने के लिए ही यह किलेबन्दी करने का आयोजन किया है। यह परम्परा काफी अर्से तक चलती रही और यहाँ तक कि अठारहवीं शताब्दी के हिन्दी साहित्य में भी हम इसकी झाकियाँ ले सकते हैं। यद्यपि आधुनिक आलोचकों ने इस परम्परा को समाहित करने का एक नवीन प्रयत्न किया है[1], परन्तु तथ्य यही है कि यह एक इस प्रकार की पुरानी परम्परा रही है, जिसके संस्कार से उत्तरवर्ती साहित्य भी अछूता नहीं रह सका। और कवि-सम्प्रदायगत विभिन्न विशेषताओं की तरह वह भी निरूढ रूप में इस अवधि तक चलती रही।

१०. मदनपराजयगत अन्तर्कथाएँ

मदनपराजय की मूल कथा के भीतर जिन अन्य कथाओं का समावेश हुआ है, उनका निर्देश ही हम अन्तर्कथाओं के नाम से कर रहे हैं। इस तरह की अन्तर्कथाएँ निम्न प्रकार हैं—

१—"जैसे एक आलोचक कहता है कि गोसाईं जी ने स्त्रियों की बड़ी निन्दा की है—

नारि स्वभाव सत्य कवि कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं ॥

इन पङ्क्तियों से निन्दा मालूम पड़ती है, पर यदि यह देखा जाय कि किसने कहा है, किस प्रसङ्ग में कहा है और किस अवस्था में कहा है तो स्पष्ट हो जायगा कि झगड़े के समय रावण ने मन्दोदरी से ऐसा कहा है। क्या कोई भी समझदार विवाद अथवा कलह के समय कही हुई बातों को ठीक मानता है।"

दे०, साहित्यालोचन (स्व. बाबू श्यामसुन्दरदास) पाँचवां संस्करण पृ० २६४.

१. ककुद्रुम राजा की कथा —(म. प., पृ. ६ पद्य १२)।
२. हेमसेन मुनि की कथा —(म. प., पृ. ८ पद्य २०)।
३. जिनदत्त सेठ की कथा—(म. प., पृ. १० पद्य १४)।
४ सिंह बनानेवालों की कथा—(म. प. पृ. १९ पद्य ५)।
५. यद्भविष्य की कथा—(म. प., पृ. २० पद्य ६)।
६. ब्रह्मा और इन्द्र का संवाद (म. प., पृ. ४८ प. २३)।

नागदेव ने अपने मदनपराजय के अन्दर इन अन्तर्कथाओं का समावेश तो किया है, परन्तु वे इन कथाओं के मूल जनक नहीं हैं। इतना अवश्य है कि इन कथाओं को नागदेव ने जहाँ से उठाया है और जिस रूप में उठाया है, उसमें कुछ परिवर्तन किया है और ऐसा करते समय उन्होंने उनका रूप तो अपनी ही भाषा में सजाया है। आगे की पङ्क्तियों में हम अपनी जानकारी के अनुसार इन अन्तर्कथाओं के मूलस्रोत और उनके परिवर्तित रूप को दिखला रहे हैं। यह ध्यान देने की चीज है कि मदनपराजय के कर्ता ने किस प्रकार इन अन्तर्कथाओं को अपनी मूलकथा में आत्मसात् करने का प्रयत्न किया है।

नागदेव ने सर्वप्रथम प्रीति के मुहँ से ककुद्द्रुम राजा की कथा कहलाई है। प्रीति अपनी सखी रति से कह रही है—सखि, महाराज मकरध्वज किस कारण से इतने चिन्तित हो रहे हैं। मुझे इस सम्बन्ध में कुछ भी मालूम नहीं है और न मालूम करने की मैं कुछ आवश्यकता ही समझती हूँ। क्योंकि एक नीतिकार का कथन है कि—

"अव्यापारेषु व्यापारं यो नरः कर्तुमिच्छति ।
स एव निधनं याति यथा राजा ककुद्द्रुमः ॥"

अर्थात् जो मनुष्य अप्रयोजनीय कार्यों में हस्तक्षेप करता है उसकी ककुद्द्रुम राजाकी तरह दुर्दशा होती है।

इस प्रकार नागदेव ने मदनपराजय में ककुद्द्रुम राजा की इस अन्तर्कथा का नाम-निर्देश करने पर भी उसका थोड़ा भी स्पष्ट विवरण नहीं दिया है कि ककुद्द्रुम राजा ने कौन से अप्रयोजनीय काय में हस्तक्षेप किया था और उसकी किस प्रकार की दुर्गति हुई ? 'ख.' प्रति में अवश्य उक्त श्लोक के बाद इतना उल्लेख मिलता है कि—"अस्य श्लोकस्य कथा प्रसिद्धा"—अर्थात् इस श्लोक की कहानी प्रसिद्ध है। संभव है नागदेव ने अपने मदनपराजय में उक्त कथा का सम्पूर्ण विवरण भी दिया हो, परन्तु विद्वान् लिपिकार इस कहानी की प्रसिद्धि से परिचित हो और अपनी अभिज्ञता के कारण उन्होंने कथा का सम्पूर्ण विवरण लिपिबद्ध न किया हो। इसके विपरीत "अस्य श्लोकस्य कथा प्रसिद्धा" यह लिख दिया हो और उत्तरवर्ती लिपिकार भी इसी लेख का प्रतिलेख करते गये हों। जब नागदेव ने अन्य समस्त अन्तर्कथाओं का अपने ढंग का पूर्ण विवरण दिया है और कहीं कहीं उन्हें पल्लवित भी किया है तो यह संभव नहीं जान पड़ता कि वे अपनी रचनाकी पहली अन्तर्कथा का ही सम्पूर्ण विवरण न देवे। अस्तु।

प्रस्तुत कथा का मूल स्रोत हमें पञ्चतन्त्र में देखने को मिलता है उसमें ककुद्द्रुम राजा की कथा आई है[1], परन्तु उसमें उस कथा का उत्थान इस प्रकार से नहीं पाया जाता, जिस प्रकार नागदेव ने अपने मदनपराजय में किया है। पञ्चतन्त्र की कथा का उत्थान निम्न प्रकार होता है—

"त्यक्ताश्चाभ्यन्तरा येन बाह्याश्चाभ्यन्तरीकृताः ।
स एव मृत्युमाप्नोति यथा राजा ककुद्द्रुमः ॥"

[जिसने अपने आत्मीयों को तो छोड़ दिया और अनात्मीयों के साथ नाता जोड़ लिया, उसकी ककुद्द्रुम राजा की तरह मृत्यु हो जाती है।]

इसके अतिरिक्त नागदेव ने इस कथा का अपनी रचना में जिस प्रकार से उत्थान किया है, पञ्चतन्त्र में उसका भी स्रोत विद्यमान है और हम देखते है कि इस उत्थान के निर्वाह में मूल स्रोत का तनिक भी अनुगमन नहीं किया गया है। पञ्चतन्त्र में पाया जानेवाला स्रोत निम्न प्रकार है—

"अव्यापारेषु व्यापारं यो नरः कर्तुमिच्छति ।
स एव निधनं याति कीलोत्पाटीव वानरः ॥"[2]

[जो मनुष्य अप्रयोजनीय कार्यों में हस्तक्षेप करता है, उसकी कील को उखाड़ने वाले बन्दर की तरह मृत्यु हो जाती है।]

यदि इस कथा का उत्थान सही दिशा में हुआ है तब तो यही मानना चाहिए कि ग्रन्थकार को अपनी रचना में कील उखाड़ने वाले बन्दर की कहानी ही अभीष्ट रही होगी और यदि उन्हें ककुद्द्रुम राजा की कहानी ही अभीष्ट रही हो तब यही मानना होगा कि प्रस्तुत कहानी का प्रारंभ ही गलत तरीके पर किया गया है।

मदनपराजय की दूसरी अन्तर्कथा हेमसेन मुनिराज की है। इस कथा के मूल स्रोत के सम्बन्ध में अभीतक कुछ विशेष ज्ञात नहीं हो सका है।

हाँ, इस कथा से कुछ अंशों में मिलती जुलती एक कथा हरिषेणाचार्यकृत बृहत्कथाकोश[2] में अवश्य पाई जाती है। यह कथा सुभोग राजा की है, जिसकी मृत्यु उल्कापात से हो जाती है और जो अपने मकान के पाखाने के विष्टा का कीड़ा बनता है।

चौथी कथा सिंह बनाने वालों की है। जान पड़ता है, नागदेव ने पञ्चतन्त्र के अपरीक्षित-कारक[3] से इस कथा की वस्तु ली है और उसे अपने ढग से गढ़ने का प्रयत्न किया है। पञ्चतन्त्र में इस कथा का प्रारंभ निम्न प्रकार से होता है—

"वरं बुद्धिर्न सा विद्या विद्याया बुद्धिरुत्तमा ।
बुद्धिहीना विनश्यन्ति यथा ते सिंहकारकाः ॥"

सुवर्णसिद्धि चक्रधर के लिए यह कथा सुना रहा है। वह सुनाता है कि "किसी स्थान में चार ब्राह्मण पुत्र रहते थे। इन लोगों की परस्पर में घनिष्ट मित्रता थी। इनमें से तीन तो शास्त्रज्ञ थे;

---

१ दे०, पञ्च० मि० मे० कथा १०। २ दे०, बृहत्कथाकोश की १५१ वीं कथा। ३ दे०, पञ्चतन्त्र अपरीक्षितकारक की तीसरी कथा।

परन्तु बुद्धिमान् न थे और एक बुद्धिमान् था, पर शास्त्र का जानकार न था। एक दिन समस्त मित्रों ने मिलकर विचार किया कि परदेश जाकर अर्थोपार्जन करना चाहिए। चारों ही अर्थोपार्जन के लिए रवाना हो जाते हैं। रास्ते में उन्हें एक जंगल में मरे हुए सिंह की हड्डियां दिखलाई देती हैं। उन शास्त्रज्ञों में से एक कहता है कि हम लोगों को अपने विद्या-बल से इस मरे हुए सिंह को जीवित करके अपने विद्या-बल का चमत्कार दिखलाना चाहिए, अतः वह हड्डियाँ इकट्ठी करने लगता है। दूसरा शास्त्रज्ञ उन हड्डियों को चमड़ा, मांस और रुधिर से संयुक्त कर देता है। तीसरा ज्योंही उसमें जीवन संचार करने लगता है, सुबुद्धि उसे रोकता है; परन्तु वह अपने संकल्प से विरत नहीं होता है। सुबुद्धि एक वृक्ष पर चढ़ जाता है। सिंह जीवित हो जाता है और उन शास्त्रज्ञों को भख डालता है।"

परन्तु मदनपराजय में यही कथा कुछ पल्लवित और परिवर्तित रूप में दिखलाई देती है। पञ्चतन्त्र में जहाँ उन मित्रों के निवासस्थान का कोई निश्चित उल्लेख नहीं है वहाँ मदनपराजय में उसके स्थान पर पौण्ड्रवर्द्धन नगर का नामोल्लेख किया गया है और मित्रों के भी शिल्पि (रूप) कारक, चित्रकारक, वणिक्सुत और मन्त्रसिद्ध के रूप में नामोल्लेख हुए हैं। कथावस्तु में भी तीन मित्रों के शास्त्रज्ञ परन्तु मूर्ख होने का और एक के बुद्धिमान् परन्तु अशास्त्रज्ञ होने का कोई निर्देश नहीं है। इसी प्रकार घटनाचक्र में भी पंञ्चतन्त्रीय कथावस्तु का अपेक्षा विभिन्नता दृष्टिगोचर होती है। मदनपराजय की प्रस्तुत कथावस्तु के घटनाचक्र के अनुसार चारों मित्र जंगल में तो अवश्य पहुंचते हैं; परन्तु पञ्चतन्त्र की कथावस्तु के अनुसार उन्हें सिंह की हड्डियाँ दिखलाई नहीं देतीं। ये मित्र रात के समय चोर और व्याघ्र आदि से अपनी रक्षा करने के लिए एक एक पहर तक चौकसी करने का परस्पर में निश्चय कर लेते हैं। सर्वप्रथम शिल्पकार को पहरा देने का अवसर प्राप्त होता है और वह अपनी निद्रा-भंग करने के खयाल से काठ का एक सिंह तैयार कर डालता है। चित्रकार अपने जागरण-काल में उस पर चित्र-विचित्र चित्रकारी कर डालता है और ज्योंही मन्त्रसिद्ध अपने बल से उसे सजीव करने के लिए उद्यत होता है, वणिक्सुत एक वृक्ष पर चढ़ जाता है। अन्त में काठ का सिंह जीवित हो जाता है और उन तीनों मित्रों की जीवन-लीला समाप्त कर डालता है।

इस कथानक से मिलता-जुलता एक कथानक हरिषेणाचार्यकृत बृहत्कथाकोश में भी पाया जाता है।[1] जिनदत्त सेठ महादमघर मुनिराज के लिये यह कथानक सुना रहे हैं। धनचन्द्र और और धनमित्र नामक सहोदर भाई चम्पानगरी से आयुर्वेद की सर्वाङ्ग शिक्षा लेकर अपने घर (बनारस) की ओर लौट रहे थे। रास्ते में इन्हें एक अन्धा और मरणासन्न सिंह दिखलाई दिया। छोटे भाई धनचन्द्र ने बड़े भाई धनमित्र से कहा—भैया, मैं इसे गुणकारी औषधि देकर जीवित करना चाहता हूँ। धनमित्र ने बहुत मना किया; परन्तु उसने एक न मानी। धनमित्र वृक्ष पर चढ़ गया। धनचन्द्र ने उस सिंह की आँखों में दिव्य दवा डाल दी। वह सूझता बन गया और और तत्काल ही धनचन्द्र को चाट गया।

---

१ दे०, बृहत्कथाकोश की १०१-२ री कथानक।

मदनपराजय की पाँचवीं अन्तर्कथा यद्भविष्य की है। नागदेव ने इस कथा को सिंह बनाने वालों की अन्तर्कथा में आये हुए तीन मित्रों के मुख से शिल्पकारक के लिये कहलाई है। अतः मदनपराजय की यह प्रत्यन्तर्कथा है और इसके कर्त्ता ने इस प्रत्यन्तर्कथा का उत्थान निम्न प्रकार किया है—

"मित्राणां हितकामानां यो वाक्यं नाभिनन्दति।
तस्य नाशो (शं) विजानीयाद् यद्भविष्यो यथा मृतः॥"

यद्भविष्य की इस कथा का स्रोत हमें पञ्चतन्त्र[1] में देखने को मिलता है; परन्तु वहाँ यद्भविष्य की कथा का प्रारम्भ उक्त प्रकार से नहीं हुआ है। पञ्चतन्त्र में उसका उत्थान निम्न प्रकार पाया जाता है—

"अनागतविधाता च प्रत्युत्पन्नमतिस्तथा।
द्वावेतौ सुखमेधेते यद्भविष्यो विनश्यति॥"

[अनागतविधाता और प्रत्युत्पन्नमति—ये दोनों तो सुखी रहते हैं; परन्तु बेचारा यद्भविष्य मारा जाता है।]

नागदेव के "मित्राणां हितकामानाम्" के आशय को अनुसरण करने वाला एक पद्य जो पञ्चतन्त्र में आया है उसमें यद्भविष्य मत्स्य की कथा का निर्देश न होकर एक मूर्ख कछुवे की कथा की ही सूचना हुई है। वह पद्य निम्न प्रकार है—

"सुहृदां हितकामानां न करोतीह यो वचः।
स कूर्म इव दुर्बुद्धिः काष्ठाद्भ्रष्टो विनश्यति॥"

[जो हितैषी मित्रों की बात नहीं मानता है, वह काठ से गिरे हुए मूर्ख कछुवे की तरह नष्ट हो जाता है।]

इस प्रकार नागदेव ने यदि पञ्चतन्त्र के आधार से ही यद्भविष्य की कथा की रचना की है तो उन्होंने पञ्चतन्त्र के पद्य में जो परिवर्तन किया है वह एक विचारणीय विषय है। जान पड़ता है कि या तो पञ्चतन्त्र की इस कथा को सम्पूर्णतः आत्मसात् करने की दृष्टि से नागदेव ने ऐसा किया है या संभव है पञ्चतन्त्र की किसी तत्कालीन प्रचलित पाठ-परम्परा के अनुसार ही नागदेव ने उसे ज्यों का त्यों अपने ग्रन्थ में उठा लिया है। यह भी संभव है कि मदनपराजय की रचना करते समय नागदेव के सामने पञ्चतन्त्र की कोई प्रति न रही हो और अपनी स्मृति के आधार पर ही उसका उपयोग करते हुए उनके द्वारा इस प्रकार के कतिपय स्खलन हो गये हों।

चतुर्थ परिच्छेद में ब्रह्मा और इन्द्र के संवाद में ब्रह्मा ने अपनी, विष्णु और महादेव की काम के द्वारा पराभूत होने की जो कहानी सुनाई है वह एक संवाद के रूप में ही ग्रथित हुई है।

इस प्रकार नागदेव ने अपने मदनपराजय में इन अन्तर्कथाओं का निवेश करके मूल कथा-वस्तु को काफी सुसङ्गठित रूप में उपस्थित कर दिखाया है और इस प्रकार प्रस्तुत रचना बहुत ही सजीव, रोचक और हृदयस्पर्शी बन पड़ी है।

---

१ दे०, पञ्च० मि० भे० पद्य ३४४।

११ मदनपराजय के पद्य

नागदेव ने मदनपराजय में दो प्रकार के पद्यों का समावेश किया है। कुछ पद्य तो इस प्रकार के हैं जिनकी रचना उन्होंने स्वयं अपने ही द्वारा की है और कुछ इस प्रकार के हैं जो अन्य कवियों के हैं; परन्तु जिन्हें अपनी रचना को मूल्यवान् और उपयोगी बनाने की दृष्टि से उन्होंने अपनी रचना में संमिलित कर लिया है।

इन संमिलित किये गये पद्यों के भी तीन प्रकार हैं। एक प्रकार तो उन पद्यों का है जो परकीय होते हुए भी 'उक्तञ्च' के नीचे या 'उक्तञ्च' की धारावाही परम्परा में 'अन्यच्च' अथवा 'तथा च' के नीचे ज्यों के त्यों उद्धृत कर लिये गये हैं। ऐसे पद्यों का अनायास ही पता चल जाता है कि वे नागदेव द्वारा प्रणीत नहीं हैं। दूसरा प्रकार उन पद्यों का है जो दूसरों के हैं; परन्तु 'उक्तञ्च' आदि के रूप से उनका उल्लेख नहीं हुआ है। विस्तृत अध्ययन और गंभीर अनुसन्धान के बिना ऐसे पद्यों का सहज ही पता नहीं लगाया जा सकता कि इन पद्यों के प्रणेता कौन हैं और उन्हें किन ग्रन्थों से लेकर रचनाओं में संमिलित किया गया है? तीसरा प्रकार उन पद्यों का है जो मूलतः परकृत हैं, परन्तु जिन्हें तोड़-मरोड़ कर और विना किसी 'उक्तञ्च' आदि का उल्लेख करते हुए मदनपराजयकार ने अपनी रचना का मौलिक अङ्ग-सा बना लिया है। ऐसे प्रसंग में एकाधिक स्थल पर 'उक्तञ्च' का भी निर्देश किया है। इसके सिवा पहले और दूसरे प्रकार के पद्य अनेक स्थानों पर मूल ग्रन्थों में उपलब्ध पाठ की अपेक्षा विभिन्न पाठान्तर को लिए हुए भी दिखलाई देते हैं। इन में से पहले प्रकार के पद्यों को उदाहरण के रूप में उपस्थित करने की जरूरत नहीं मालूम देती। मदनपराजय में इस प्रकार के सैकड़ों पद्यों का उपयोग हुआ है। हम यहाँ दूसरे तीसरे प्रकार के पद्यों को ही नमूने के रूप में उपस्थित करेंगे। दूसरे प्रकार के कतिपय पद्य निम्न प्रकार हैं—

> "किमिह बहुभिरुक्तैर्युक्तिशून्यैः प्रलापै-
> र्द्वयमिह पुरुषाणां सर्वदा सेवनीयम्।
> अभिनवमदलीलालालसं सुन्दरीणां
> स्तनभरपरिपूर्णं यौवनं वा वनं वा॥ १।१६।"

यह पद्य सुभाषितत्रिशती के वैराग्यशतक का ३९ वाँ पद्य है, जो विना किसी 'उक्तञ्च' के निर्देश के मदनपराजय में पाया जाता है।

> "छायासुप्तमृगः शकुन्तनिवहैराबीढनीलच्छदः
> कीटैरावृतकोटरः कपिकुलैः स्कन्धे कृतप्रश्रयः।
> विश्रब्धो मधुपैर्निपीतकुसुमैः श्लाघ्यः स एव द्रुमः
> सर्वाङ्गैर्बहुसत्त्वसङ्गसुखदो भूभारभूतोऽपरः॥ २।२"

इसी प्रकार मदनपराजय के द्वितीय परिच्छेद के पाँच नम्बर वाले पद्य से लेकर पन्द्रहवें नम्बर तक के पद्य एकाधिक पाठान्तर के साथ शुभचन्द्राचार्यकृत ज्ञानार्णव से ज्यों के त्यों उठा लिए गये हैं और इनके पूर्व में 'उक्तञ्च' आदि के उल्लेख द्वारा इस बात का कोई आभास नहीं दिया गया है कि

ये पद्य किसी अन्य रचना के हैं। हमने अपने पाद-टिप्पणों में इस बात को बतलाया है कि ज्ञानार्णव के ये पद्य किस प्रकरण के हैं और उनकी कौनसी प्रकरण-संख्या है। ज्ञानार्णव के अन्य पद्य भी इसी प्रकार नागदेव ने अपनी रचना में संमिलित कर लिये हैं।

यशस्तिलकचम्पू का निम्नलिखित एक पद्य भी इसी ढंग से मदनपराजय में सम्मिलित किया हुआ दृष्टिगोचर होता है[1]—

"दुराग्रहग्रहग्रस्ते विद्वान् पुंसि करोति किम्।
कृष्णपाषाणखण्डेषु मार्दवाय न तोयदः ॥ ६।२७०।"

पञ्चतन्त्र के कुछ पद्य भी इसी पद्धति से मदनपराजय में संमिलित हुए दिखलाई देते हैं। (उदाहरण के लिए देखिए, म० परा०, पृ० ५२ पद्य ५९, पृ० ५३ पद्य ६० तथा पृ० ६१ पद्य ८९)।

तीसरे प्रकार के कतिपय पद्य निम्न प्रकार हैं—

"यो मां जयति संग्रामे यो मे दर्पं व्यपोहति।
यो मे प्रतिबलो लोके न मे भर्त्ता भविष्यति ॥"—दुर्गासप्तशती अ० ५ मं० १२०।

नागदेव ने इस पद्य के चतुर्थ चरण में "स रत्नाधिपतिर्भवेत्" का परिवर्तन करके उसे अपने प्रकरण के अनुसार संगत बिठाया है।[2]

इसी प्रकार हितोपदेश मित्रलाभ के निम्नलिखित पद्य को भी उत्तरार्द्ध के चरणों में परिवर्तित करके उसे किस चतुराई के साथ नागदेव ने अपनी कथावस्तु की धारा का एक मौलिक अङ्ग बना लिया है[3]—

"अर्थाः पादरजोपमा गिरिनदीवेगोपमं यौवनं
मानुष्यं जलबिन्दुलोलचपलं फेनोपमं जीवितम्।
धर्मं यो न करोति निन्दितमतिः स्वर्गार्गलोद्घाटनं
पश्चात्तापयुतो जरापरिगतः शोकाग्निना दह्यते ॥"

मदनपराजय के कर्त्ता ने उक्त पद्य के उत्तरार्द्ध में निम्नाङ्कित परिवर्तन करके उसे अपने प्रकरण में आत्मसात् किया है। इस पद्य में जिनराज ने राग और द्वेष से सांसारिक भोगों की अनित्यता और अपनी अनासक्ति प्रकट की है। पद्य का परिवर्तित उत्तरार्द्ध इस प्रकार है—

"भोगाः स्वप्नसमास्तृणाग्निसदृशं पुत्रेष्टभार्यादिकं।
सर्वञ्च क्षणिकं न शाश्वतमहो त्यक्तञ्च तस्मान्मया ॥"

कतिपय वे पद्य, जो 'उक्तञ्च' के नीचे उद्धृत किये जाने पर भी इच्छित हेर-फेर के साथ अपनी रचना के मौलिक अङ्ग बना लिए हैं, निम्न प्रकार हैं—

"ये स्त्रीशस्त्राक्षसूत्राद्यै रागाद्यैश्च कलङ्किताः।
निग्रहाऽनुग्रहपरास्ते देवाः स्युर्न मुक्तये ॥२।१।"

---

१ दे०, म० परा०, पृ० १६ पद्य २६। २ दे०, म० परा० पृ० ३१ पद्य १७। ३ दे०, म० परा०, पृ० ३१ पद्य १८।

उक्त पद्य आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र का है और इसमें बतलाया गया है कि अमुक प्रकार के देव मुक्ति प्रदान नहीं कर सकते। परन्तु नागदेव ने इसी पद्य के चतुर्थ चरण के स्थान में "सा सिद्धिस्तान् न वाञ्छति" को रखकर समूचे पद्य को अपनी रचनानुसारी रति का वह उत्तर पद्य बना लिया है जिसमें रति मकरध्वज से निवेदन कर रही है कि—देव, वह मुक्ति-कन्या इस प्रकार के देवों को तो चाहती ही नहीं है।[1] साधारण पाठक इस बात को नहीं जान सकते कि उक्त पद्य नागदेव का स्वयं का नहीं है।

इसी प्रकार पञ्चतन्त्र मित्रभेद के निम्नाङ्कित पद्य के "राजेति" के स्थान पर "जिनेति" को रख कर सम्पूर्ण पद्य को अपनी कथा से सुसंगत मोह का उत्तर पद्य बना लिया है, जिसमें मोह जिनराज की नगण्यता को दिखलाता हुआ मकरध्वज के उत्साह की संवर्धना कर रहा है।[2] वह पद्य निम्न प्रकार है—

"सर्वान् व्याघ्रान् गजान् सिंहान् ह्युपायैर्वशीकृतान् ।
राजेति कियती मात्रा धीमतामप्रमादिनाम् ॥ ४१ ॥"

अथ च, पञ्चतन्त्र मित्रभेद के निम्नलिखित पद्य के चतुर्थ चरण के स्थान पर "प्रसन्नो मदनो यदा" को जोड़कर इस पद्य को भी मूल-कथा का एक आत्मीय अङ्ग बना लिया गया है।[3] वह पद्य निम्न प्रकार है—

"धवलान्यातपत्राणि वाजिनश्च मनोरमाः ।
सदा मत्ताश्च मातङ्गाः प्रसन्ने सति भूपतौ ॥ ४३ ॥"

इसी प्रकार प्रबोधचन्द्रोदय के निम्नाङ्कित पद्य के उत्तरार्द्ध को "न पतन्ति बाणवर्षा यावच्छ्री-कामभूपस्य" के रूप में परिवर्तित करके उसे भी अपने कथागत प्रकरण में आत्मसात् कर लिया गया है।[4] वह पद्य निम्न प्रकार है—

"प्रभवति मनसि विवेको विदुषामपि शास्त्रसम्भवस्तावत् ।
निपतन्ति दृष्टिविशिखा यावन्नेन्दीवराक्षीणाम् ॥१।११"

इसके सिवा पञ्चतन्त्र के नीचे लिखे पद्य को आधार बनाकर एक स्वतन्त्र ही पद्य की रचना की गई है और उसे बड़ी ही निपुणता के साथ प्रकरण के प्रवाह में बहाया है। पञ्चतन्त्र का पद्य निम्न प्रकार है—

"मृतैः सम्प्राप्यते स्वर्गो जीवद्भिः कीर्तिरुत्तमा ।
तदुभावपि शूराणां गुणावेतौ सुदुर्लभौ ॥ मि० भे० ३३३ ।"

और इसी के आधार पर तैयार किया गया नागदेव का पद्य निम्न प्रकार है तथा मदनपराजय-कार ने इसे मोह के द्वारा जिनराज के उत्तर में कहलाया है[5]—

---

१ दे०, म० परा० पृ० ८ पद्य १६ । २ दे०, म० परा० पृ० १९ पद्य ५ ।
३ दे०, म० परा० पृ० २८ पद्य ४६ । ४ दे०, म० परा० पृ० ३२ पद्य ४९ ।
५ दे०, म० परा० पृ० ६० पद्य १७ ।

"जितेन लभ्यते लक्ष्मीर्मृतेनापि सुराङ्गनाः ।
क्षणविध्वंसिनी (नः) काया (याः) का चिन्ता मरणे रणे ॥"

१२ मदनपराजय के छन्द

मदनपराजय में निम्नलिखित छन्दों का उपयोग हुआ है—मालिनी, वसन्ततिलका, अनुष्टुप्, शार्दूलविक्रीडित, शिखरिणी, आर्या, इन्द्रवज्रा, शालिनी, उपेन्द्रवज्रा, मन्दाक्रान्ता, उपजाति और स्रग्धरा। परन्तु कहीं कहीं पर छन्दों में शैथिल्य आ गया है।

निम्नाङ्कित छन्दोभङ्ग के स्थल विचारणीय हैं—

(१) नामवीरमवधारयितुं समर्थः (पृ० ७२ प० ११)। (२) दन्तावुभौ यस्य च रागद्वेषौ (पृ० ५६ प० १४)। (३) श्मश्रूणि मुखैः कति नोल्लिखन्ति (पृ० ५७ प० १७)। (४) एवं बहुभिः प्रकारैः (पृ० ४९ प० ७)। (५) सकलमिति च श्रुत्वा क्षिप्रमाहूय यक्षम् (पृ० ६६ प० १९)। (६) सम्प्रापुस्तत्र शीघ्रं जिनवरयात्रामङ्गलं गायनार्थम् (पृ० ६८ प० १७)। (७) चेत्तत्कथमप्यनङ्गः (पृ० ६९ प० ६)।

१३ मदनपराजय का स्थान

मदनपराजय एक अल्पकाय रचना है; परन्तु हमारा विश्वास है कि रूपकात्मक साहित्य में उसे एक बहुत अच्छा स्थान प्राप्त है। उसकी शैली रोचक है, आकर्षक है और निराली है तथा कथावस्तु की धारा भी पाठक को आत्मा को बराबर अपने साथ बहाए चलती है। निवृत्तिमार्ग का कोई भी पथिक इस धारा में अवगाहन करके अपने को बलवत् और अनुप्राणित कर सकता है। मदनपराजय से सम्बन्धित संस्कृत के रूपकात्मक साहित्य के लेखाङ्कन में निःसन्देह नागदेव की यह अपूर्व और अमूल्य देन है।

५. मदनपराजय की साहित्यिक धारा

भारतीय वाङ्मय में जहाँ मदन के रूप और उसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में अनेक प्रकार की मान्यताएँ और कल्पनाएँ उपलब्ध होती हैं, वहाँ उसके पराजय का इतिहास भी विविधमुख वैचित्र्य और महत्त्व से भरा हुआ है। हमें सर्वप्रथम मदनपराजय की साहित्यिक धारा का रूप 'सुत्तनिपात' के 'प्रधान सुत्त' में दिखलाई देता है। इसमें महात्मा बुद्ध की वाणी द्वारा ही हमें मदनपराजय के एक रूप की झाँकी मिल जाती है। महात्मा बुद्ध कहते हैं—

जब मैं निर्वाणप्राप्ति के लिए अत्यन्त उत्साह के साथ नेरञ्जना नदी के तट पर ध्यान कर रहा था, तब पापी मार सकरुण वचन बोलता हुआ आया—"तुम कृश और दुर्बल हो गये हो। तुम्हारी मृत्यु निकट है। सहस्र भाग से तुम मर चुके। एक भाग से तुम जीवित हो। हे जीवो ! जोना अच्छा है। जी कर पुण्य करोगे। ब्रह्मचर्य का पालन करते और अग्नि-हवन करते बहुत पुण्य होता है। योगचर्या से तुम्हें क्या करना है ? योगचर्या का मार्ग कठिन है, इसका सफल होना मुश्किल है।" इन गाथाओं को बोलता हुआ मार बुद्ध के पास खड़ा हो गया।

ऐसा कहने वाले मार से भगवान् बोले—"अरे पापी, प्रमत्त बन्धु" यहाँ क्यों आया ? मुझे तो अणुमात्र भी पुण्य से प्रयोजन नहीं है पुण्य से जिन्हें प्रयोजन है, उन्हें तुम कह सकते हो। मुझ में श्रद्धा, तप, वीर्य, प्रज्ञा विद्यमान है, इस प्रकार मुझ प्रहितात्म को तुम जीने की सलाह क्यों दे रहो हो। यह वायु नदी की धाराओं को भी सुखा देती है, फिर मुझ व्रती के रक्त को क्यों नहीं सुखाती है ? रक्त के सूख जाने पर पित्त और कफ सूख जाता है। मांस के क्षीण हो जाने पर चित्त और भी प्रसन्न हो जाता है। स्मृति, प्रज्ञा और समाधि और भी अधिक प्रतिष्ठित होती है। इस प्रकार विहार करते मेरा चित्त काम में नहीं लगता। सत्त्व की इस शुद्धि को. देखो।" भगवान् कहते गये–"तुम्हारी पहली सेना काम है। दूसरी सेना अरति है। भूख प्यास तीसरी सेना है। चौथी सेना तृष्णा, पाँचवीं आलस्य है। छठवीं भय, सातवीं विचिकित्सा (संशय), आठवीं म्रक्ष और घमण्ड है। हे मार ! तुम्हारी यह सेना अनिष्टकारक है। लाभ, प्रशंसा, सत्कार अनुचित उपाय से प्राप्त यश, अपनी प्रशंसा और परकी निन्दा, यह सब मार की सेना कार्य की विघातक है। अशूर मनुष्य इसको नहीं जीत सकता और जो जीत लेता है, उसको सुख प्राप्त होता है। यह तृण धारण करता हूँ, यहाँ जीने को धिक्कार है। संग्राम में मेरा मर जाना अच्छा है, पराजित होकर जीना नहीं। कितने श्रमण ब्राह्मण इसमें फंस जाते हैं। उन्हें दिखाई नहीं देता। वे उस मार्ग को नहीं जानते, जिससे सुव्रत (ज्ञानी) पार हो जाते हैं। चारों ओर ध्वजा और वाहन से युक्त मार को देख मैं युद्ध के लिए आगे बढ़ा। मुझे वह पीछे न हटाने पावे। देवतासहित यह लोक जिस सेना को नहीं हटा सकवा मैं उस सेना को प्रज्ञा से, कच्चे वर्तन को पत्थर मार कर फोड़ने की तरह, हटा दूँगा। संकल्पों को वश में कर, स्मृति को उपस्थित रख अपने शिष्यों को शिक्षा देता हुआ एक देश से दूसरे देश में विचरण करता रहा।" भगवान् कहने लगे–"इस प्रकार अप्रमत्त प्रहितात्म और मेरी शिक्षा का पालन करने वाले वे मेरे शिष्य सहज ही उस पद को प्राप्त करेंगे, जहाँ शोक से मुक्ति हो जाती है।"

इस तरह मार ने सात वर्षों तक भगवान् का पीछा किया, और अन्त में वह कहने लगा–"इस प्रकार सात वर्ष तक भगवान् का पीछा करते रहने पर भी मुझे उन सम्बुद्ध स्मृतिमान् में कोई छेद नहीं मिला। साफ पत्थर के टुकड़े को चर्बी का खण्ड समझ कौआ झपटा कि कुछ स्वाद वाली कोमल वस्तु मिलेगी, परन्तु कुछ स्वाद की वस्तु न पा कौआ वहाँ से उड़ गया।" मार कहता गया—"हे गौतम ! पत्थर के पास आये कौवे की तरह मैं निराश हो गया।" अन्त में शोकाकुल उस मार की काँख से वीणा खिसक पड़ी। तब वह यक्ष दुखी हो वहीं अन्तर्धान हो गया।"

मारपराजय की एक बहुत ही विशद धारा हमें "[1]जातकट्ठकथा" की निदान कथा में दिखलाई देती है, जिसका सार यह है—

मारदेव पुत्र ने सोचा—"सिद्धार्थ कुमार मेरे अधिकार से बाहर निकलना चाहता है, इसे नहीं जाने दूँगा।" और अपनी सेना के साथ बुद्ध का पराजय करने निकल पड़ा। मारसेना के बोधिमण्ड तक पहुँचते पहुँचते देवसेना में से एक भी खड़ा न रह सका। सभी सामने आते ही भाग गये।

काल नागराज पृथ्वी में अन्तर्धान होकर पाँच सौ योजनवाले अपने मञ्जेरिक नामक भवन में

१ पृ० ९०–९५।

जा दोनों हाथों से मुँह को ढक लेट रहा। शक्र विजयोत्तर शंख को पीठ पर रख कर चक्रवाल के प्रधान द्वार पर जा खड़ा हुआ। महाब्रह्मा श्वेत छत्र को चक्रवाल के शिरे पर रख (अपने आप) ब्रह्मलोक को भाग गया। एक भी देवता न ठहर सका। महापुरुष अकेले ही बैठे रहे। मार ने भी अपने अनुचरों से कहा—"तात! शुद्धोदनपुत्र सिद्धार्थ के समान दूसरा (कोई) वीर नहीं है। हम सामने से इससे युद्ध नहीं कर सकेंगे। इसलिए पीछे से चलकर करें। महापुरुष ने भी सब देवताओं के भाग जाने के कारण तीनों दिशाओं को खाली देखा। फिर उत्तर दिशा की ओर से मारसेना को आगे बढ़ते देख "यह इतने लोग मेरे अकेले के विरुद्ध इतने प्रयत्नशील हैं। आज यहाँ माता, पिता, भाई या दूसरा कोई सम्बन्धी नहीं है। मेरी दस पारमिताएँ ही चिरकाल से परिपोषित मेरे परिजन के समान हैं। इसलिए इन पारमिताओं को ही ढाल बना कर इस पारमिता शस्त्र को हो चला कर मुझे यह सेना-समूह विध्वंस करना होगा।" यह सोच दस पारमिताओं का स्मरण करते हुए बैठे रहे।

तब मारदेवपुत्र ने सिद्धार्थ को भगाने की इच्छा से वायु, वर्षा, पाषाण, हथियार, धधकती राख, बालू, कीचड़, अन्धकार की वर्षा की। पर वह बोधिसत्त्व को न भगा सका तो अपनी परिषद् से बोला—"भटो! क्या खड़े हो! इस कुमार को पकड़ो, मारो, भगाओ।" और इस प्रकार परिषद् को आज्ञा देकर अपने आप गिरिमेखल हाथो के कन्धे पर बैठ चक्र को ले, बोधिसत्त्व के पास पहुँच कर बोला —"सिद्धार्थ! इस आसन से उठ। यह तेरे लिए नहीं मेरे लिए है।" महासत्त्व ने उसके वचन को सुन कर कहा—"मार! तूने न दस पारमिताएँ पूरी की, न उपपारमिताएँ, न परमार्थपारमिताएँ ही। न तूने पाँच महात्याग ही किये, न जातिहित, न लोक-हित के काम किये, न ज्ञान का आचरण किया। यह आसन तेरे लिए नहीं मेरे लिए है।"

मार अपने क्रोध के वेग को न रोक सका, और उसने महापुरुष पर चक्र चलाया। महापुरुष ने दस पारमिताओं का स्मरण किया, और उनके ऊपर वे आयुध फूलों का चँदवा बन कर ठहर गये। यह वही तेज-चक्र था, जिसे यदि और दिनों, मार क्रुद्ध होकर फेंकता तो एक ठोस पाषाण-स्तंभ को बासों के कड़ीर की तरह खण्ड खण्ड कर देता। जब वह बोधिसत्त्व के लिए मालाओं का चंदवा बन गया, तब बाकी मारपरिषद् ने आसन से भगाने के लिये बड़ी बड़ी पत्थर की शिलाएँ फेंकी। वह पत्थर की शिलाएँ भी दस पारमिताओं का स्मरण करते ही महापुरुष के पास आकर, पुष्पमालाएँ बन कर पृथ्वी पर गिर पड़ीं।

चक्रवाल के किनारे पर खड़े देवतागण गर्दन पसार पसार सिर उठा उठा कर देख रहे थे। "भो! सिद्धार्थ कुमार का सुन्दर स्वरूप नष्ट हो गया। अब वह क्या करेगा?" पारमिताओं को पूरा करने वाले बोधिसत्त्वों के बुद्धत्वप्राप्ति के दिन आसन प्राप्त होता है, वह मेरे लिए ही है यह कहने वाले मार से महापुरुष ने पूछा—"मार! तेरे दान देने का कौन साक्षी है?" मार ने मार-सेना की ओर हाथ पसार कर कहा—"यह इतने जने साक्षी हैं।" उस समय "मैं साक्षी हूँ" "मैं साक्षी हूँ" कह कर मार- परिषद् ने जो शब्द किया, वह पृथ्वी के फटने के शब्द के समान था। तब मार ने महापुरुष से पूछा—"सिद्धार्थ तू ने दान दिया है, इसका कौन साक्षी है?" महापुरुष ने कहा—"तेरे

दान देने के साक्षी तो जीवित प्राणी (सचेतन) हैं, लेकिन इस स्थान पर मेरे दान (दिये) का कोई जीवित साक्षी नहीं। दूसरे जन्मों में दिये दान की बात रहने दे। वेस्सन्तर जन्म के समय मेरे द्वारा सात सप्ताह तक दिये गये दान की यह अचेतन, ठोस महापृथिवी भी साक्षिणी है। और फिर! चीवर के भीतर से दाहिने हाथ को निकाल, वेस्सन्तर जन्म के समय मेरे द्वारा सात सप्ताह तक दिये गये दान की तू साक्षिणी है या नहीं?" कह महापृथ्वी की ओर हाथ लटकाया। महापृथ्वी ने "मैं तेरी तब की साक्षिणी हूँ" इस प्रकार सौ वाणी से, सहस्र वाणी से, लाख वाणी से मार-बल को तितर-बितर करते हुए महानाद किया। तब मार ने "सिद्धार्थ! तूने महादान दिया; उत्तम दान दिया है" कहा। वेस्सन्तर के दान पर विचार करते करते डेढ़ सौ योजन के शरीरवाले गिरिमेखल हाथी ने दोनों घुटने टेक दिये। मार-सेना दिशा-विदिशाओं की ओर भाग निकली। एक मार्ग से दो जनों का जाना नहीं हुआ। वे शिर के आभरण तथा पहिने वस्त्रों को छोड़, जिधर मुँह समाया, उधर ही भाग निकले।

देवगण ने भागती हुई मार-सेना को देख सोचा—"मार की पराजय हुई, सिद्धार्थ कुमार विजयी हुए। आओ, हम चल कर विजयी की पूजा करें।" फिर नागों ने नागों को, गरुड़ों ने गरुड़ों को, देवताओं ने देवताओं को, ब्रह्मओं ने ब्रह्माओं को (सन्देश) भेजा और हाथ में गन्धमाला ले, महापुरुष के पास बोधि-आसन के पास पहुंचे। इस प्रकार उनके वहाँ पहुंचते पर—

उस समय प्रमुदित हो सब ने "यह श्रीमान् बुद्ध की जय हुई और पापी मार पराजित हुआ' कह बोधि मण्डप में महर्षि की विजय उद्घोषित की।

'निदानकथा' के 'सन्तिकेनिदान' में बुद्ध की मार-विजय से सम्बन्धित एक और घटना पाई जाती है। यह घटना उस समय की है जब बुद्ध मार विजय के पश्चात् चार सप्ताह तक बोधि-वृक्ष के निकट ठहरे रहते हैं और पाँचवें सप्ताह बोधिवृक्ष से चल अजपाल बर्गद के पास चले जाते हैं। भगवान् बुद्ध तो धर्मचिन्तन और विमुक्ति सुख की आनन्दानुभूति में तन्मय हो जाते हैं; परन्तु देवपुत्र मार अपनी पराजय से एकदम निराश हो सोचता है—"मैं ने इतने समय तक शास्ता का पीछा किया और इस ताक में रहा कि अवसर मिलते ही इन पर आक्रमण करके इन्हें पराजित कर दूँ; परन्तु खेद! वह अवसर ही हाथ नहीं लगा—शास्ता में ऐसा कोई छिद्र ही दिखलाई नहीं दिया, जिससे मुझे उन्हें पराजित करने का अवसर प्राप्त होता। और अब तो यह मेरे अधिकार से एक-दम बाहर हो गये।" इस प्रकार खिन्न होकर मार महामार्ग पर बैठे बैठे ही सोलह बातों का ख्याल कर पृथ्वी पर सोलह रेखाएँ खींचता है और सोचता है कि मैंने बुद्ध की तरह किसी भी पारमिता की पूर्ति नहीं की। ठीक ऐसे ही समय तृष्णा, अरति और राग नामक मार की तीन कन्याएँ अपने पिता मार को खोजती हुई यहाँ आ पहुंचती हैं और पिता को विषण्णचित्त तथा जमीन कुरेदते हुए देखती हैं। मार को खिन्नहृदय देख कर वे पूछती हैं—"तात! आप किस लिए दुखी तथा खिन्नचित्त हैं?" मार कहता है—"अम्मा! यह महाश्रमण मेरे अधिकार से बाहर हो गया। इतने समय तक देखते रहते भी इसके छिद्र नहीं देख सका। इसी से मैं दुखी तथा खिन्नचित्त हूँ।"

कन्यायें कहने लगती हैं—"यदि ऐसा है तो सोच मत करो। हम इसे अपने वश में करके ले आवेंगी।" मार कहता है—"अम्मा! इसे कोई वश में नहीं कर सकता' यह पुरुष अचल श्रद्धा में प्रतिष्ठित है।" मार-कन्याएँ कहती हैं—"तात! हम स्त्रियां हैं। हम उसे भी राग आदि के पाश में बांध कर ले आयेंगी। आप चिन्ता न करें।" मार-कन्याएँ अपने पिता से इतना कहती हैं और बुद्ध के पास पहुँच कर उनसे कहती हैं—"श्रमण! हमें अपने चरणों की सेवा करने दो।"

भगवान् बुद्ध इन मार-कन्याओं के कथन को मन में तनिक भी स्थान नहीं देते हैं और वे उपाधिक्षीण निर्वाण में ही निरत बने रहते हैं। तदनन्तर बुद्ध इन कन्याओं को उपदेश देते हैं—

"जिसके जय को पराजय में नहीं बदला जा सकता, जिसके जीते राग, द्वेष, मोह फिर नहीं लौट सकते उस बे-निशान (अपद्—स्थानरहित) अनन्तदर्शी बुद्ध को किस रास्ते पा सकोगे? जाल रचने वाली जिसकी विषयरूपी तृष्णा कहीं भी ले जाने लायक नहीं रह गई। उस अपद, अनन्तदर्शी बुद्ध को किस रास्ते से पा सकेंगे?"[1]

धर्मोपदेश सुनते ही मार-कन्याएँ कहती हैं—"पिता ने सत्य ही कहा था! 'अर्हत् सुगत को राग के बन्धन में लाना आसान नहीं।" और निराश हो अपने पिता के पास चली जाती हैं।[2]

अश्वघोष-विरचित 'बुद्धचरित' की मारविजय भी जातक कथा की मारविजय से मिलती-जुलती है। इसमें वह अपने विभ्रम, हर्ष, दर्प पुत्रों को और अरति, प्रीति, तृष्णा–कन्याओं को लेकर भगवान् बुद्ध को विचलित करने की चेष्टा करता है, परन्तु उसे सफलता नहीं मिलती। तदनन्तर वह भूतगणों से बुद्ध को त्रस्त, तर्जित और ताडित करना चाहता है। भूतगण भी अपनी अपनी भयंकर लीलाएँ दिखलाते हैं; परन्तु वे भी बुद्ध को अपने लक्ष्य से स्खलित नहीं कर पाते। मार बहुत ही शोकाकुल होता है। अन्त में आकाश-वाणी होती है—

"मार! तुम व्यर्थ प्रयास क्यों करते हो? अपनी हिंसक प्रकृति छोड़ दो और शान्त हो जाओ। जिस प्रकार वायु सुमेरु पर्वत को कंपित नहीं कर सकती उसी प्रकार तुम भी बुद्ध को तनिक भी चलित नहीं कर सकते। भले ही आग अपनी उष्णता छोड़ दे, पानी द्रवता छोड़ दे, पृथ्वी अपनी स्थिरता छोड़ दे फिर भी अनेक कल्पों में पुण्योपार्जन करने वाले बुद्ध अपने व्यवसाय से विरत नहीं हो सकते। जिस प्रकार अन्धकार को दूर किये विना सूर्योदय नहीं हो सकता, उसी प्रकार बुद्ध-जैसे संकल्प, पराक्रम, तेज और भूत-दया को परास्त किये विना तुम बुद्ध-जैसे विजयी नहीं हो सकते। काठ को रगड़ने वाला जैसे आग प्राप्त कर लेता है और जमीन खोदने वाला पानी प्राप्त कर लेता है। उसी प्रकार बन्धन-मुक्त के लिए भी कुछ असाध्य नहीं है—वह भी सब कुछ प्राप्त कर लेता है। इसलिए मार! जिस महान् वैद्य के अन्तस् में संसार के रागादिक रोगों से दुखी प्राणियों के प्रति सहज ही करुणा का भाव भरा हुआ है। उस महान् वैद्य की सत्प्रवृत्ति में विघ्न डालने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं है। यह तो इन रोगियों को ज्ञान की एक अमूल्य और अचूक औषधि देना चाहते हैं। जो बुद्ध नाना प्रकार के खोटे मार्गों पर जाने वाली जनता को सन्मार्ग

---

१ दे०, धम्मपद, बुद्धवग्ग (१४)

२ दे०, जातकट्ठकथा, पृ० ९९

पर ले जाने के लिए यत्नशील हैं उन हितोपदेशी को तुम्हें कदापि क्षुब्ध नहीं करना चाहिए। संसार में आज सतोगुणियों के नाश हो जाने से महान् अन्धकार फैला हुआ है और इसमें भगवान् बुद्ध ही अपने ज्ञानदीपक को प्रज्वलित किये हुए हैं। इसलिए हे आर्य ! अन्धेरे में जलते हुए दीपक को बुझा देना कभी भी ठीक नहीं है। समस्त प्राणी संसार-सागर के महान् प्रवाह में उन्मज्जन-निमज्जन कर रहे हैं—इन्हें किनारे लगाने वाला कोई भी नहीं है। भगवान् बुद्ध ने आज अपने मन को इस ओर प्रवृत्त किया है तो तुम्हें इनके सम्बन्ध में पाप की आशङ्का न करनी चाहिए। हे मार ! यह तो मोह पाशों से जकड़ी हुई जनता को उन्मुक्त करना चाहते हैं, इसलिए इनके सम्बन्ध में तुम्हारा हिंसा-भाव कदापि समुचित नहीं है।"

यह सुनते ही मार खिन्न और हतोत्साह होकर भाग गया और मार की सेना भी आश्रयहीन होकर तितर-बितर हो गई। मार-विजय के अनन्तर आकाश प्रसन्न हो गया, सुगन्धित पानी बरसा और पुष्पों की भी वर्षा हुई।[1]

बौद्ध और न साहित्य में जहां मार की पराजय या मदन की पराजय से सम्बन्धित घटनाएँ उपलब्ध होती हैं, वहाँ तदितर साहित्य में मदन-दाह या कामदाह को सूचित करने वाली घटनाएँ ही प्रायः दृष्टिगोचर होती हैं। पहले साहित्य में ऐसी एक भी घटना का उल्लेख नहीं मिलता है, जिसमें मुमुक्षुओं द्वारा मदन या मार का संहार किया गया हो; परन्तु दूसरे साहित्य में इसका भस्मावशेष रूप ही देखने को मिलता है। हाँ, रति के करुण विलाप और उसकी प्रार्थना पर काम के पुनरुज्जीवित होने की और अमूर्त्ताकार में बने रहने की घटनाएँ भी पाई जाती हैं।

मदनदाह का उल्लेख कवि कुल-गुरु कालिदास के कुमारसंभव[2] में देखने को मिलता है। महादेव जी अपनी समाधि में निमग्न हैं और मदन उनकी समाधि भंग करने के लिए अपने बाणों द्वारा उन पर आक्रमण करता है। वे समाधि से चलित हो जाते हैं और इसके साथ ही अपनी समाधि भंग के कारण को खोज निकालना चाहते हैं। उन्हें उनकी समाधि से विचलित करने वाला कामदेव दिखलाई देता है और वे उस पर एकदम क्रुद्ध हो जाते हैं। महादेव के तृतीय नेत्र से आग निकलती है और वह काम को भस्मसात् कर देती है।

शिवपुराण में भी मदनदाह से सम्बन्ध रखने वाली ऐसी ही घटना आई है। काम के बाणों से आहत होकर महादेव जी का चित्त पार्वती के ऊपर चलित हो जाता है और वह अपनी तपस्या से डिग जाते हैं। वह सोचते हैं—"इस प्रकार के उत्तम तप को करने पर भी इसमें विघ्न क्यों आये ? किस कुकर्मी ने मेरे चित्त में विकार उत्पन्न कर दिया ? बड़े खेद की बात है कि आज मेरा मन पर-स्त्री के ऊपर अनुरक्त हो गया ! यह कितनी धर्म-विरुद्ध बात है और श्रुति की सीमा का यह कितना अकल्पित उल्लंघन है ?"[3]

---

१ दे०, बुद्धचरित XIII Edited by E. H. Gohnston. D. Litt.

२ दे०, कुमारसंभव स० ४।

३ "किमु विघ्नाः समुत्पन्नाः कुर्वतस्तप उत्तमम्। केन मे विकृतं चित्तं कृतमत्र कुकर्मिणा ॥ ४ ॥
कुवर्णनं मया प्रीत्या परस्त्रुयरि वै कृतम्। जातो धर्मविरोधोऽत्र श्रुतिसीमा विलंघिता ॥ ५ ॥
दे०, शिवपुराण, रु० सं० द्वि० पा० ख० ३, अध्याय १६।

यह सोचते ही वह रोष में आ जाते हैं। उनके ललाट के मध्यवर्ती तीसरे नेत्र से आग निकलती है और काम जल जाता है।

मदनपराजय से सम्बन्ध रखने वाली जैन साहित्यिक धारा भी बड़ी ही आकर्षक और सुन्दर है। इतना ही नहीं, जैन साहित्यकारों ने इस घटना को इतना अधिक महत्त्व दिया कि उससे सम्बन्धित स्वतन्त्र आख्यान और रूपक ग्रन्थों की सृष्टि तक कर डाली। बात भी ऐसी ही है। जैन धर्म में एक मुमुक्षु का मुक्तिलाभ तब तक संभव नहीं, जब तक वह मदन के ऊपर विजय प्राप्त न कर ले। ऐसी स्थिति में जैन साहित्यकारों ने यदि इस घटना को इतना अधिक महत्त्व दिया और उसके आधार पर विभिन्न भाषाओं में स्वतन्त्र ग्रन्थों को लिपिबद्ध किया तो इसमें आश्चर्य को कोई बात नहीं है।

मदनपराजय से सम्बन्धित जैन साहित्यिक धारा में ही जयशेखरसूरि की 'प्रबोधचिन्तामणि' एक उल्लेखनीय रचना है। परन्तु यह ध्यान देने की बात है कि इस रचना में मदन-पराजय के स्थान पर मोह-पराजय को महत्त्व दिया गया है और यह मोह-पराजय भी विवेक राज के द्वारा सम्पादित कराया गया है।

'मदण जुज्झ' की मदनपराजय की धारा भी प्रबोध-चिन्तामणि की मदन-पराजय से मिलती जुलती है। भगवान् ऋषभदेव ने विवेक के साहाय्य से किस प्रकार काम और मोह को पराजित किया, इस बात का चित्रण कलाकार ने अपभ्रंश की कोमल कान्त पदावली में बड़ी ही निपुणता के साथ चित्रित किया है। इसका प्रारम्भिक अंश निम्न प्रकार है —

"श्री आदिजिणं प्रणम्य ॥

जो सव्वट्ठ विमाणहुति चवीयो तिण्णाण चित्तंतरे
उववन्नो मरुदेविकूखरयणो इक्खागकुलमंडणो।
भुत्तं भोगसरज्ज (?) देसविमले पाली पवजा पुणो,
संपत्तो णिरवाण देव रिसहो काऊण सो मंगलं ॥
जिणवरह वाकवाणो प्रणमउँ सुहमत्त देहजइजणणी।
चसउ सुमयण जुज्झं किम जित्तउ रिसह जिणनाह ॥ २ ॥
रिसह जिणावर पढम तित्थर, जिणधम्म उधरण,
जुगलधम्म सव्वह निवारण, नाभिराय कुलिकमल सव्वाणि संसारतारण।
जो सुर इंदह वंदियउ सदा चरण सिर धारि।
कहि किउ रतिपति जित्तियउ ते गुण कहउं विचारि ॥ ३ ॥

और अन्तिम अंश निम्न प्रकार है—

"रायविक्कमतणउ संवत्तु नवासी पनरसह सरदरितु भासु वखाणई,
तिथि पडवा सुकिलपखु सनिसवारु करुनखतु जाणउ।
तिनु दिन वख्खपि संठियपु, मयणजुज्झ सुविसेसु।
कहत पढति सुणत नरहु जपहु सामि रिस हेसु ॥

प्रद्युम्नपराजय की एक अन्य धारा के दर्शन हमें सहसमल्ल विरचित एक अन्य 'मयणजुज्झ' में दिखलाई देते हैं। इस रचना में धर्मदास मुनिवर ने जिस प्रकार मदन के मद को निर्मूल किया, उस घटना का ही अति संक्षिप्त किन्तु सारवत् चित्रण है। इस बात को रचनाकार ने स्वयं ही अपने शब्दों में इस प्रकार दिखलाया है—

"धरमदास धर धीर कुं, जिन मल्यो मदन मइमंत।
सहसमल्ल जिन बब्बरइ, संत सुणो दे चित्त॥
मुनिवर मकरध्वजदह कूं नमामि रा रि॥"

इस रचना की कथावस्तु का प्रारंभ नागदेव के 'मदन-पराजय'-जैसा ही है और मदन को पराजित करने का चित्रण भी 'मदन पराजय' के चित्रण से मिलता-जुलता है। 'मदन-पराजय' की 'मयण जुज्झ' की प्रस्तावना भी निम्न प्रकार बाँधी गई है—

"एक समय मनमच्छराय सिंहासन बैठइ,
छत्र चमर फहरइइ ध्वजा ढाढी विराजइ।
राणी रति बाबंगि करण पंचू सुख संगा,
करत केलि स्त्री सहित मानमद बढ्यो अनंगा॥
मंत्रिय परिजन बोलि कइ, पूछइ सब विवहार।
को भजीत त्रिपलोकमइ संबोधहु मय डार॥
मुनिवर मकरध्वज दइ कुं नमामि रा रि॥

अन्त में भी जब मदन रणस्थल में युद्ध करता हुआ हार जाता है और बन्धन में बाँध लिया जाता है तो मदनपराजय की तरह यहाँ भी रति ने ही उसके बन्धन-मुक्त होने का मार्ग निकाला है। परन्तु 'मदनपराजय' की अपेक्षा प्रस्तुत 'मयणजुज्झ' में यह विशेषता है कि जहाँ 'मदनपराजय' में रति के प्रयत्न करने पर मदन जीवन-लाभ प्राप्त करके भी अन्त में अपने आप अपनी जीवन-लीला समाप्त कर डालता है—अनङ्गाकार में परिणत हो जाता है, वहाँ 'मयणजुज्झ' में प्राण-लाभ करके वह मुनिराज के सामने बड़े ही विनम्र भाव से अपने पापों का प्रायश्चित करता है और उनकी स्तुति करता है। देखिए, रचनाकार ने इस घटना को कितने सजीव रूप में उपस्थित किया है—

"तब छांड्यो रन मैन दंत तिन ले सिर नायो,
तुम्हहि विरुद्धे देव! ताव, तइसो फल पायो।
तुम सरि दीठइ कवन आदि कलि कालिज गणधर,
जप तप संजम-जति चकिट्ठ जिन धर्म धुरंधर?
धनि जननी गुरु तस्वमय जिण जण्यो विकार-संपन्न।
कर जोरै इक पद खड़ो प्रणपति करई महज॥
मुनिवर मकरध्वजदह कूं नमामि रा रि॥
धनि असुभदल दलन! चित्त प्रभु राखिहइ चरणे।
अकप बुधि जन सहसमल्ल सो कहवै करि वरणाई?॥

'प्रबोध चिन्तामणि ढाल भाषा बन्ध' और 'ज्ञानश्रृङ्गार चौपई' में भी मदनपराजय की मनोरम धाराएँ प्रवाहित दिखलाई देती हैं।

१ 'प्रबोध चिन्तामणि, ढाल भाषाबन्ध' और 'ज्ञानश्रृङ्गार चौपई' की पाण्डु लिपियाँ मुझे श्री अगरचन्द्र जी नाहटा, बीकानेर के सौजन्य से उन्हीं के निजी भंडार से प्राप्त हुईं।

'प्रबोध चिन्तामणि ढाल भाषा बन्ध' राजशेखर सूरि की संस्कृत 'प्रबोध चिन्तामणि' का ढालबद्ध भाषानुवाद है। इसके कर्त्ता खरतरगच्छ के दयालुपाल के शिष्य धर्ममन्दिर गणि हैं। इसकी रचना मुलतान में मगसिर शुक्ला दशमी वि० सं० १७४१ में हुई। सम्पूर्ण रचना ६ खण्ड और ७६ ढालों में समाप्त हुई है। प्रस्तुत प्रति चैत्र शुक्ला अष्टमी वि० सं० १८५१ की लिखी हुई है। इसका लेखन मौजागढ़ में हुआ है और लेखक श्री १०८ भुवनविशाल जी के प्रशिष्य तथा पंडित प्रवर श्री कनकसेन जी के शिष्य पं० चैनरूप हैं।

"सं० १८५१ वर्षे, चैत्रमासे शुक्लपक्षे अष्टमीतिथौ सोमवासरे लिखिता प्रतिरियम् ॥ श्रीमौजगढ़मध्ये ॥वा०॥ श्री १०८ श्री भुवनविशाल जी तच्छिष्य श्री कनकसेन जी ॥ तच्छिष्य पं० चैनरूप लिखितं ॥श्रीरस्तु ॥ कल्याणमस्तु ॥"

'ज्ञानश्रृङ्गार चौपई' भी 'प्रबोधचिन्तामणि' का भाषानुवाद है। इसके कर्त्ता खरतरगच्छकी कीर्तिरत्नसूरि शाखा के चन्द्रकीर्ति के शिष्य सुमतिरंग हैं। इसका प्रणयन मुलताननिवासी श्रावक श्री चाहडमल्ल, नवलखा, वर्द्धमान आदि के आग्रह से आश्विन शुक्ला दशमी (विजयादशमी) वि० सं० १७२२ में हुआ। यह रचना भी ढालबद्ध है और ४७ ढालों में इसकी समाप्ति हुई है। प्रस्तुत प्रति बहुत ही जीर्ण-शीर्ण स्थिति में है और इसमें इसके लेखन-काल का कोई निर्देश नहीं है। हाँ, रचनाकार, उनकी गुरु-परम्परा तथा रचना लिखने में प्रेरक महानुभावों का ग्रन्थकार ने स्वयं ही ग्रन्थ की अन्तिम ढाल में निम्नप्रकार परिचय दिया है—

संयवाल कुल सेहरौ ए, आचारिज पद धार।
श्री कीरतिरतन सूरीस ए, जिनशासन जयकार ॥

लावण्यशील पाठक तणौं ए, बापुण्य धीर सुसीस।
ज्ञान कीरति बणारसी ए, गुणप्रमोद सुजगीस ॥

समयकीरति वाचक सदा ए, हरख कल्लोल पद धार।
चन्द्रकीति गुरु सांनिधि ए, भाख भाख्यौ श्रीकार ॥

सुमतिनाथ सुपसाउलैं ए, श्री मुलताण मझार।
खरतरगछनायक खरौ ए, जिनचंद सूरि सुखकार ॥

तासराज में मैं ए कीयौ ए, सरस संबंध जिवदाय।
नयण नयण द्वीप शशि सही ए, अश्विन मास मनभाय ॥

विजय विजय दशमी दिने ए, आदितवार उदार।
सुमतिरंग सदा कहै ए, सुरग काम श्रीकार ॥

संघ सकल मुलतान नों ए, समझदार सिरदार।
पारसनाथ प्रसादथी ए, दिन दिन जय जय कार ॥

चाहडमल मल चाईसू ए, राखेवा धर्म रीति।
चाहक ग्राहक तब कह्यौ, वर्धमान बहु प्रीत ॥

प्रस्तुत (नागदेव विरचित) मदनपराजय की मदन-पराजय-धारा भी बड़ी ही मनोरंजक है। परन्तु यह विशेष है कि इसकी मदन-पराजय धारा 'प्रबोधचिन्तामणि' की मदन-पराजय धारा से एकदम स्वतन्त्र है। 'प्रबोधचिन्तामणि' और इसके परवर्ती प्रस्तुत रूपकात्मक साहित्य में जहाँ विवेक द्वारा मोहको पराजित करके मदनपराजय की धारा प्रवाहित की गई है, वहाँ इसमें साक्षात् जिनराज द्वारा ही मदन का पराजय दिखलाया गया है। इसके सिवाय प्रस्तुत 'मदनपराजय' में मोह को 'प्रबोधचिन्तामणि' की तरह कामपुत्रके रूपमें नहीं रूपित किया गया है, वरन् उसे कामका प्रधानामात्य बतलाया गया है। परीषह विद्या, दिव्याशिनी विद्या, काम के पराजित और बन्धनबद्ध होने पर रति और प्रीति द्वारा उसे बन्धनमुक्त करने के लिए किये गये प्रयत्न, काम का अन्त में अनङ्गाकार में परिणत हो जाना और मुक्तिकन्या के स्वयंवर के समय जिनराज द्वारा कर्मधनुष का भंग किया जाना आदि कल्पनाएँ नागदेव की एकदम मौलिक हैं। मोह तथा केवलज्ञानवीर के युद्धकाल में मोह द्वारा अन्धकार स्तंभ का गाढ़ा जाना और कर्मप्रकृतिसमूह का केवलज्ञानवीर के ऊपर छोड़ा जाना जैसे रूपक अवश्य जातकट्ठकथा की 'निदान कथा' में वर्णित बुद्ध की मारविजय की स्मृति को सजीव कर देते हैं।

६. ग्रन्थकार

(क) मदनपराजय के कर्त्ता

प्रो० एच. डी. वेलणकर के 'जिनरत्नकोष'[1] में 'मदनपराजय' के विभिन्न नामधारी तीन कर्त्ताओं का उल्लेख पाया जाता है और एक 'मदनपराजय' का अज्ञात कर्त्ता के नाम से भी निर्देश हुआ है। तीनों कर्त्ताओं में जिनदेव नागदेव और ठक्कुर माइन्ददेव बतलाये गये हैं। श्री जैन-सिद्धान्त-प्रकाशिनी संस्था कलकत्ता से प्रकाशित और श्री पं० गजाधरलाल जी न्यायतीर्थ द्वारा अनूदित 'मकरध्वजपराजय' के परिच्छेद के अन्त में भी 'मदनपराजय' के कर्त्ता को ठक्कुर माइन्ददेवसुत जिनदेव सूचित किया गया है। यद्यपि उपर्युक्त उल्लेखों के प्रकाश में 'मदनपराजय' के कर्त्ता का यथार्थ निश्चय होना दुष्कर है; तथापि हमें इसके अभ्रान्त निर्णय के लिए बहुत भारी श्रम और प्रमाणों की आवश्यकता नहीं; क्योंकि 'मदनपराजय' के कर्त्ता ने अपने ग्रन्थ के आरम्भ में ही अपना और अपनी वंशपरम्परा का संक्षिप्त परिचय दे दिया है।[2]

इस प्रस्तावना में स्पष्ट लिखा है कि श्री मल्लुगित् के पुत्र नागदेव ने ही प्रस्तुत 'मदनपराजय' को संस्कृत भाषा में निबद्ध किया है और यह वही कथा है जिसे नागदेव से पूर्व छठी पीढ़ी के हरिदेव ने प्राकृत में लिखा था।

इस प्रकार जब नागदेव ही प्रस्तुत 'मदनपराजय' के कर्त्ता स्थिर होते हैं तो ठक्कुर माइन्ददेव और जिनदेव को किस प्रकार इस ग्रन्थ का कर्त्ता बतलाया गया, यह बात अवश्य विचारणीय रह जाती है। इस सम्बन्ध में डॉक्टर हीरालाल जैन ने अपने 'अपभ्रंश भाषा और साहित्य' शीर्षक[3]

---

१ दे०, जिनरत्न कोष (भा. ओ. रि. इ. पूना) पृ० ३००।

२ दे०, मदनपराजय के प्रस्तुत संस्करण पृ० १२१।

३ दे०, 'नागरी प्रचारिणी पत्रिका' वर्ष ५०—अंक ३, ४, पृ० सं० १२१।

निबन्ध में लिखा है कि "इस काव्य का ठक्कुर माइन्द्देव के पुत्र जिनदेव ने अपने 'स्मरपराजय' में परिवर्धन किया, ऐसा प्रतीत होता है।" परन्तु जब तक 'मदनपराजय' और 'स्मरपराजय' नामक दो स्वतन्त्र रचनाएँ उपलब्ध नहीं होती तब तक यह केवल अनुमान मात्र है। नागदेव ने 'मदनपराजय' को ही 'स्मरपराजयस्तोत्र' 'मारपराजय' और 'जिनस्तोत्र' के रूप में विभिन्न नामों से अभिहित किया है।[1] अतः 'मदनपराजय' का 'स्मरपराजय' में परिवर्तित अनुमानित करना ठीक प्रतीत नहीं होता।

जहाँ तक माइन्द्देव ठक्कुर को 'मदनपराजय' के कर्त्ता बतलाने की बात है, वह तो एकदम अप्रामाणिक है, परन्तु जिनदेव को फिर भी उसके कर्तृत्व से पृथक् नहीं किया जा सकता। क्योंकि मदनपराजय की प्रायः समस्त उपलब्ध हस्तलिखित प्रतियों की पुष्पिकाओं में "जिनदेवविरचिते मदनपराजये" का उल्लेख हुआ मिलता है। इस सम्बन्ध में मेरा अनुमान है कि 'मदनपराजय' के अपर नाम वाले 'जिनस्तोत्र' के कर्त्ता नागदेव ही 'जिनस्तोत्र' बनाने के कारण 'जिनदेव' रूप से नामान्तरित किये गये है। वि० स० १५७३ में लिखी हुई मदनपराजय की सर्वाधिक प्राचीन प्रति में "ठक्कुरमाइन्द्देवस्तुतजिनदेवविरचिते मदनपराजये" ऐसा पाठ आया है। इससे प्रतीत होता है कि ठक्कुर माइन्द्देव जिनदेव के कार्य का मूल्याङ्कन करते थे और वह उनके बड़े ही प्रशंसक थे। 'स्तुत' की जगह 'सुत' पाठान्तर के प्रचार हो जाने से ही जिनदेव को माइन्द्देव का सुत बतला दिया गया है। अतः यह कल्पना भी निर्मूल हो जाती है कि यदि नागदेव ही जिनदेव के रूप में नामान्तरित किये गये हैं तो उन्हें ठक्कुर माइन्द्देव का पुत्र किस प्रकार कहा गया जब कि 'मदनपराजय, की प्रस्तावना में उन्हें स्पष्ट रूप से श्री मल्लुगित् का पुत्र बतलाया गया है?

(ख) नागदेव का पाण्डित्य

यद्यपि नागदेव ने हरिदेव के प्राकृत 'मयणपराजयचरिउ' के आधार पर ही संस्कृत 'मदनपराजय' को पल्लवित किया है, परन्तु इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हो सकते कि इसे पल्लवित करने में नागदेव ने अपने प्रखर पाण्डित्य और प्रसन्न प्रतिभा का पूरा पूरा उपयोग किया है। सम्पूर्ण मदनपराजय के गंभीर अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि नागदेव न केवल जैन सिद्धान्त, दर्शन और काव्य-साहित्य के वेत्ता थे, किन्तु उन्होंने जैनेतर पुराण, ज्योतिष, नाटक, काव्य, सामुद्रिक और शकुन-शास्त्र का भी अध्ययन किया था। यही कारण है जो उन्होंने अपनी रचना में आये हुए पात्रों की उक्तियों

---

१ (क) "साद्यन्तं यः शृणोतीदं स्तोत्रं स्मरपराजयम्"

....॥ १ ॥

(ख) ....।

तावद्दुःसहघोरमोहतमसाच्छन्नं मनः प्राणिनां

यावन्मारपराजयोद्भवकथामेतां श्रृण्वन्ति न ॥ २ ॥

(ग) शृणोति वा वक्ष्यति वा पठेत्तु यः कथामिमां मारपराजयोद्भवाम् ॥ ३ ॥

(घ) अज्ञानेन धिया विना किल जिनस्तोत्रं मया यत् कृतम्। दे० मदनपराजय की अन्तिम प्रशस्ति, पृ० सं० ७०।

को प्रमाणित और समर्थित करने के लिए जगह जगह इस साहित्य का यथेष्ट उपयोग किया है। प्राकृत और संस्कृत 'मदनपराजय' के तुलनात्मक अध्ययन करने से स्पष्ट हो जाता है कि मदनपराजय की कथा की जितनी सार-सम्हार संस्कृत 'मदनपराजय' में की गई है, प्राकृत मदनपराजय में उसका दशमांश भी दिखलाई नहीं देता। मूलकथा में नागदेव द्वारा की गई अनेक सामयिक अन्तर्कथाओं की योजना भी एकदम नवीन है। जहाँ तक हमारा अध्ययन है, उसके आधार पर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि उपलब्ध मदन-पराजय संबंधित रूपकात्मक साहित्य में नागदेव का 'मदन-पराजय' एक सर्वोत्तम रोचक रचना है। वह रचना है, जिसमें मूलकथा की रसवत् धारा है। सुन्दर और अद्भुत रूपक हैं एवं सुचिन्तित तथा मधुर सूक्तियों की राशि है।

(ग) नागदेव की अन्य रचनाएँ

जहाँ तक नागदेव की कलम का सम्बन्ध है, उन्होंने अपनी कलम से कहीं भी इस बात का उल्लेख नहीं किया है कि उन्होंने अपनी कुशल लेखनी से किसी अन्य साहित्यिक रचना को प्रस्तुत किया है और न साहित्यिक इतिहासविदों की किसी उपलब्ध रचना से ही पता चलता है कि नागदेव ने किन किन ग्रन्थरत्नों का सृजन किया है। जहाँ तक हमारी जानकारी है, मदनपराजय (संस्कृत) ही नागदेव की एक मात्र रचना है। जिसमें नागदेव के कर्तृत्व का उल्लेख पाया जाता है, परन्तु इसके पूर्व मदनपराजय के हिन्दी-अनुवाद जैन सिद्धान्तप्रकाशिनी संस्था कलकत्ता वाला संस्करण के प्रकाशित होने पर भी नागदेव 'मदनपराजय' के कर्त्ता के रूप में प्रकाश में नहीं आ सके थे। किन्तु तुलनात्मक अध्ययन से प्रतीत होता है कि नागदेव ने मदनपराजय के अतिरिक्त कम से कम एक रचना और लिखी होगी और वह है—'सम्यक्त्वकौमुदी'। 'सम्यक्त्वकौमुदी' को प्रकाशित हुए एक लम्बा अर्सा हो गया परन्तु न तो सम्यक्त्वकौमुदीकार ने स्वयं ही अपनी रचना में अपना कुछ परिचय दिया और न इतिहास-शोधकों का ध्यान ही इस ओर आकर्षित हुआ। ऐसी स्थिति में 'सम्यक्त्वकौमुदी' के कर्त्ता का ठीक ठीक पता लगाना एकदम कठिन है, फिर भी 'सम्यक्त्वकौमुदी' और 'मदनपराजय' को आमने-सामने रखकर शैली-साम्य, भाषा-साम्य, ग्रन्थोद्धृत पद्य-साम्य, अन्तर्कथा-साम्य और प्रकरण-साम्य आदि आधारों से तुलनात्मक अध्ययन करने पर हम इसी परिणाम पर पहुँचे हैं कि 'सम्यक्त्वकौमुदी' के कर्त्ता नागदेव ही होने चाहिए।[1]

मदनपराजय में उपयुक्त ग्रन्थ

जिन ग्रन्थकारों की महत्त्वपूर्ण कृतियों का मदनपराजय में यथेच्छ उपयोग किया गया है उनका निर्देश करना अत्यावश्यक है—

अजैन—(१) मृच्छकटिक (२) पञ्चतन्त्र (३) सुभाषितत्रिशती (४) प्रबोधचन्द्रोदय (५) हितोपदेश।

---

१ इस सम्बन्ध का खोजपूर्ण निबन्ध मैं स्वतन्त्र लिख रहा हूँ।

जैन—(१) यशस्तिलकचम्पू (२) वाग्भट्टालङ्कार (३) ज्ञानार्णव (४) योगशास्त्र (५) सागारधर्मामृत (६) सूक्तिमुक्तावली।

(७) नागदेव का समय और स्थान

नागदेव ने मदनपराजय की प्रस्तावना में जो अपनी वंश-परम्परा का परिचय दिया है। उसके सिवाय वे कब और कहाँ हुए, इस बात का कोई स्पष्ट प्रमाण अब तक सामने नहीं आ सका है। फिर भी अन्य स्रोतों से नागदेव के समय तक पहुँचने का हमने एक प्रयत्न किया है वे स्रोत निम्न प्रकार हैं—

(१) नागदेव ने 'मदनपराजय' और 'सम्यक्त्वकौमुदी' में जिन ग्रन्थकारों को रचनाओं का उपयोग किया है, उनमें सर्वाधिक परवर्ती पंडितप्रवर आशाधर हैं। पंडित आशाधर ने अपनी अन्तिम रचना (अनगारधर्मामृत-टीका) वि. सं. १३०० में समाप्त की है। अतः यदि उनका अन्तिम काल इसी अवधि को मान लिया जाय तो नागदेव वि. सं. १३०० के पूर्व के नहीं ठहर सकते।

(२) श्री ए. वेबर को १४३३ A. D. की लिखी हुई 'सम्यक्त्वकौमुदी' की एक पाण्डुलिपि प्राप्त हुई थी।[1] यदि इस प्रति को नागदेव के २७ वें वर्ष में भी लिखित मान लिया जाय तो भी उनका आविर्भाव काल वि सं. की चौदहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से आगे का नहीं बैठता।

आशा है, भविष्य में नागदेव के स्थान और समय को सुनिश्चित रीति से प्रकाशित करने वाली कोई साधन-सामग्री प्राप्त होगी और इतिहास प्रेमी विद्वज्जन इस सम्बन्ध में विशेष प्रकाश डालेंगे।

श्रावणी पूर्णिमा, २००४
दि. जैन कालेज,
बड़ौत (मेरठ)

राजकुमार जैन,
साहित्याचार्य।

१ दे०, 'द हिस्ट्री आफ इण्डियन कल्चर' (द्वितीय भाग), पृ० सं. ५४ की पादटिप्पणी।

मदनपराजयः

नागदेवविरचितो

मदनपराजयः

प्रथमः परिच्छेदः

§ १. यदमलपदपद्मं श्रीजिनेशस्य नित्यं
शतमख[1]शतसेव्यं पद्मगर्भा[2]दिवन्द्यम् ।
दुरितवनकुठारं ध्वस्तमोहान्धकारं
सदखिलसुखहेतुं त्रिप्रकारै[3]र्नमामि ॥ १ ॥

यः शुद्धराम[4]कुलपद्मविकासना[5]र्को[6]
जातोऽर्थिनां सुरतरुर्भुवि चङ्गदेवः[8] ।
तन्नन्दनो हरिरसत्कविनागसिंहः[9]
तस्माद्भिषग्जनपतिर्भुवि नागदेवः ॥ २ ॥

[11]तज्जावुभौ सुभिषजाविह [12]हेमरामौ
रामात्प्रियङ्कर इति प्रियदोऽर्थिनां[13] यः ।
तज्जश्चि[14]कित्सितमहाम्बुधिपारमाप्तः
[15]श्रीमल्लुगिज्जिनपदाम्बुजमत्तभृङ्गः ॥ ३ ॥

१ शत मखा यागा येषां ते तथोक्ता इन्द्रास्तेषां शत तेन सेव्य वन्दनीयम । २ पद्मगर्भो विष्णुः । ३ त्रिःप्रकारै–क०, ग०, च० । मनसा वाचा कर्मणेत्यर्थः । ४ –सोम– ङ० । एतेन चङ्गदेवस्य तत्सन्ततिपरम्परानुवर्त्तिनो ग्रन्थकर्त्तुर्नागदेवस्य च सूर्यान्वयप्रभवत्वं प्रतिपादितम् । ५ विकाशना– क०, ग०, घ०, ङ०, च० । ६ –नार्के च० । ७ एतन्नामा । ८ चङ्गदेवसुतो हरिदेवः । येन सर्वप्रथमं प्राकृतभाषायां मदनपराजयो ग्रथितः । अयमेव प्रस्तुतप्रस्तावनायाः पञ्चमपद्यपरिगणितो हरिदेवः । ९ एतेन हरिदेवस्य सर्वातिशायि महाकवित्व प्रतीयते । १० वैद्यशिरोमणिः । ११ नागदेवप्रसूतौ । १२ हेमरामदेवनामानौ । १३ –दोऽर्थिना च० । –दोऽर्थनीयः ख० । १४ चिकित्सासागरपारङ्गतः । चिकित्साक्रियाकुशलश्चिकित्सक इत्यर्थः । १५ 'श्रीमल्लुगित्' इत्यभिधेयः ।

तज्ज्ञोऽहं नागदेवाख्यः स्तोकज्ञानेन संयुतः ।
छन्दोऽलङ्कारकाव्यानि नाभिधानानि वेद्म्यहम् ॥ ४ ॥
कथा प्राकृतबन्धेन हरिदेवेन या कृता ।
वक्ष्ये संस्कृतबन्धेन भव्यानां धर्मवृद्धये ॥ ५ ॥

५ यस्मिन् भव्यजनप्रबोधजनिका या मोक्षसौख्यप्रदा
संसाराब्धिमहोर्म्मिशोषणकरी नृणामतीव प्रिया ।
यस्याः सुश्रवणात् पुराकृतमघं नाशं समूलं व्रजेत्
या दारिद्र्यविनाशिनी भयहरा वक्ष्ये कथां तामहम् ॥६॥

§ २. अस्ति मनोहरमेकं भवनाम पत्तनं प्रसिद्धम्। तत्रेषुकोदण्डमण्डितो मकरध्वजो
१० नाम राजाऽस्ति । तेन मकरध्वजेन सकलसुरसुरेन्द्रनरनरेन्द्रफणिफणीन्द्रप्रभृतयो दण्डिताः । एवंविधस्त्रैलोक्यविजयी युवाऽतिरूपवान् महाप्रतापी त्यागी भोगी रतिप्रीतिभार्याद्वयो मोहप्रधानसमन्वितः सुखेन राजक्रियां वर्त्तमानोऽस्थात् ।

स च मकरध्वज एकस्मिन् दिने शल्यत्रयं गारवत्रयं दण्डत्रयं कर्म्माष्टकाष्टा-

१ ततोऽहं ग० । तज्ञोऽहं ख० । २ अयमेव प्रस्तुतग्रन्थस्य मदनपराजयस्य ग्रथकः । ३ पद्येनानेन कविना स्वकीयमौद्धत्यं परिहृतम् । ४ एतेन स्फुटितं यद्धरिदेवकृतप्राकृतभाषानिबद्धमदनपराजयस्यानुवादात्मकोऽयं करतलगतो मदनपराजयः । ५ संस्कृतबन्धे । ६ प्रबोधजनका च० । अत्र "प्रत्ययस्थात्कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुपः" (अष्टा० ७।३।४४) इत्यनेनेत्त्वं 'प्रबोधजनिका' इत्येव पद साधु । ७ कथा ख०, च०, क० । एतेन प्रकृतकथाया धर्मकथात्वं प्रतीयते । आदिपुराणेऽपि श्रीभगवज्जिनसेनाचार्यैः सन्मार्गदेशकत्वाद्धर्मानुबन्धिनी कवितैव प्रशस्यत्वेनाभिमता । "धर्मानुबन्धिनी या स्यात्कविता सैव शस्यते । शेषा पापास्रवायैव सुप्रयुक्तापि जायते ॥ परे तुष्यन्तु वा मा वा कविः स्वार्थं प्रतीहताम । न पराराधनाच्छ्रेयः श्रेयः सन्मार्गदेशनात् ॥"—आदिपु० १।६३।७६ । ८ अथास्ति ख० । ९ तत्रेक्षुदण्डकोदण्ड—क०, ख०, ग०, ङ०, च० । कोदण्डं धनुः । "धर्म कोदण्डकं धनुः" इति धनञ्जयः । १० मकरो ध्वजोऽस्य तथोक्तः, कामदेव इत्यर्थः । ११ सकलसुरेन्द्र—च० । १२ —नरामरन—ग० । १३ युवति —ङ०, च० । १४ —द्वयमोह—ख० । १५ 'राजक्रिया वर्तमानः' इति प्रयोगस्यासङ्गतत्वात् 'राजक्रियां प्रति वर्त्तमानः' इत्यन्वययोजना विधेया 'राजक्रिया वर्त्तयमानः' इति वा संशोधनीयम् । सुखेन राज्यं सञ्चालयंस्तस्थावित्यर्थः । १६ "विविधवेदनाशलाकाभिः प्राणिगणं शृणाति हिनस्ति इति शल्यम् ।"— राजवा० ७।८ । माया-मिथ्या-निदानभेदाच्छल्यस्य त्रिविधत्वम् । १७ 'गारवत्रय' च० पुस्तके नास्ति । "गारवाः परिग्रहगता. तीव्राभिलाषाः ।"—मूलारा० द० गा० ११२१ । ऋद्धित्यागासहता ऋद्धिगौरवम् , अभिमतरसात्यागोऽनभिमतानादरश्च नितरां रसगौरवम् । निकामभोजने निकामशयनादौ वा आसक्तिः सातगौरवम् ।"—मूलारा० विजयो० गा० ६१३ । १८ "दण्डः मनोवाक्कायानामसद्व्यापारे ।"—उत्त० टी० अ० १९ । १९ "क्रियन्ते मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगैर्हेतुभिर्जीवेनेति कर्माणि अष्टसंख्यानि ।"—उत्त० टी० अ० ३३ । तानि च ज्ञानदर्शनावरणवेदनीयमोहनीयायुर्नामगोत्रान्तरायाभिधानि ।

दशदोषा[1]स्रव[2]-विषया[3]भिमानमद[4]प्रमाद[5]दुष्परिणामासंयम[6]सप्तव्यसन[7]भटप्रभृतिभिः सर्वैः सभासदैर्वेष्टितोऽमरराजवद्राजते। एवमन्यैरपि नरनरेन्द्रैः सेवितो मकरध्वजः सभामण्डपे मोहं प्रति वचनमेतदुवाच–

भो मोह, लोकत्रयमध्ये काचिदपूर्वा वार्त्ता श्रुताऽस्ति ?

अथ मोहोऽब्रवीत्–देव, वार्त्तैकाऽपूर्वा श्रुताऽस्ति। तदे(दे)कान्ते भवद्भिः श्रूयताम्।

"अपि स्वल्पतरं कार्यं यद्भवेत् पृथिवीपतेः।
तन्न वाच्यं सभामध्ये प्रोवाचेदं बृहस्पतिः[10] ॥ १ ॥"

तथा चो(तथो)क्तश्च–

"षट्कर्णो भिद्यते मन्त्रश्चतुष्कर्णः [11]स्थिरीभवेत्।
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन [12]षट्कर्णोऽरक्ष[13] एव सः ॥ २ ॥"

§ ३. एवं [14]तद्वचनं श्रावयितुमेकान्ते [15]गत्वा मोहमल्लः कामं प्रत्याह– भो स्वामिन्, सञ्ज्वलनेन विज्ञप्तिकेयं प्रेषिता। तद्भवद्भिरवधार्यताम्। एवमुक्त्वा मोहोऽनङ्गहस्ते विज्ञप्तिकामदात्। ततस्तां विज्ञप्तिकां मदनो यावद् वाचयति, तावदतिचिन्तापरिपूर्णो भूत्वा मोहं [16]प्रत्यभणत्–मोह, मया जन्मप्रभृत्येतदिदानीमपूर्वं श्रुतम्। तदेतत्सत्यं न भवत्येवं मे मनसि वर्त्तते। यतोऽशेषं त्रैलोक्यं मया जितम्। तदन्यस्त्रिभुवनबाह्यो जिननामा[17] राजा कोऽसौ जातोऽस्तीति। असम्भाव्यमेतत्। तच्छ्रुत्वा मोहो बभाण– हे देव, अवश्यमेवेयं [18]सत्या वार्ता। यतः सञ्ज्वलनोऽसौ स्वामिनं प्रति मिथ्योक्तिं[19] न करोत्येव। उक्तश्च–

---

१ क्षुत्पिपासाजरातङ्कजन्मान्तकभयस्मयरागद्वेषमोहचिन्तारतिनिद्राविस्मयमदस्वेदखेदा अष्टादश दोषाः। द्रष्टव्यम्–आप्तस्व० १५, १६। २ "यथा सरःसलिलावाहिद्वारं तदास्रवकारणत्वादास्रव इत्याख्यायते तथा योगप्रणालिकया आत्मनः कर्म आस्रवतीति योग आस्रव इति व्यपदेशमर्हति।"–स० सि० ६।२। योगश्च कायवाङ्मनःकर्मात्मकः। ३ विषिण्वन्ति–विषयिणं सम्बध्नन्ति स्वात्मकतयेति विषयाः स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दरूपाः। ४ मदोऽहङ्कारः। स चाष्टधा। तथा हि–"ज्ञानं पूजां कुलं जातिं बलमृद्धिं तपो वपुः। अष्टावाश्रित्य मानित्वं स्मयमाहुर्गतस्मयाः॥"–र० श्रा० १।२५। ५ "प्रमादः कुशलेष्वनादरः–मनसोऽप्रणिधानम्।"–राजवा० ८।१। स च विकथाकषायेन्द्रियनिद्रास्नेहाना चतुश्चतुःपञ्चैकैकभेदात् पञ्चदशधा। तथा हि–स्त्रीभक्तराष्ट्रावनिपालकथात्मिकाश्चतस्रो विकथाः। क्रोधमानमायालोभरूपाश्चत्वारः कषायाः। स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि पञ्चेन्द्रियाणि। एका निद्रा, एकश्च स्नेह इति। ६ "प्राणीन्द्रियेष्वशुभप्रवृत्तेर्विरतिः संयमः।"–स० सि० ६।१२। न संयमोऽसंयमः। ७ व्यसनं निन्द्यकार्यप्रवृत्तिः। "व्यसनं त्वशुभे सक्तौ पानस्त्रीमृगयादिषु।" इति विश्वः। तत्तु द्यूतमद्यमांसवेश्यापरनारीचौर्याखेटासक्तिभेदात् सप्तविधम्। ८ सभामध्ये क०, ग०, घ०, च०। ९–अः मण्डपे ग०। १० पञ्च० मि० भे० १०७। ११ स्थिरो भ–क०। १२ षट्कर्णाद् र–ग०। १३–रक्ष्य ख०। रक्ष्यते सदा ग०। "... षट्कर्णं वर्जयेत् सुधीः॥"–पञ्च० मि० १०८। १४ तस्य वचनमाकर्ण्य एका–ख०, ग०, घ०, क०, च०। १५ गतो-ग०। १६ प्रत्यवदत् ख०। १७ जिननामरा–ख०, ग०, घ०, क०, च०। १८ सत्यवा–ख० ग०, घ०, क०, च०। १९ मिथ्योक्तं ख०, ग०, घ०।

"सर्वदेवमयो राजा[1] वदन्ति विबुधा जनाः ।
तस्मात्तं देववत्[3] पश्येन्न व्यलीकं कदाचन ॥ ३ ॥"[2]

तथा च–

"सर्वदेवमयस्यापि विशेषो भूपतेरयम् ।
शुभाशुभफलं[5] सद्यो नृपाद्देवाद्भवान्तरे ॥ ४ ॥"[4]

अन्यच्च[6], [7]भो स्वामिन्, तं जिनराजं किं न वेत्सि ? पुराऽस्माकं[8] भवनगरे दुर्गति[9]वेश्याया [10]आश्रमे यः[11] सततं वसति, चौर्यकर्म्म करोति । [12]भूयोभूयोऽपि कोट्टपालकेन [13]मृत्युनाऽपि [14]बुध्यते [15]मार्य्यते च । [16]एवमेकस्मिन् दिने दुर्गतिवेश्यायां विरक्तो भूत्वा [17]कालादिलब्धिवशेन अस्मच्छ्रुतभाण्डागारं प्रविश्य त्रिभुवनसारं रत्नत्रयं [18]प्रभूतार्थं गृहीत्वा तत्क्षणाद् गृहभार्य्यादिसमूहं त्यक्त्वोपशमाश्रमारुह्य विषयभटेन्द्रियभटैर्दुर्द्धरश्चारित्रपुरं ययौ । अथ तत्र पञ्चमहाव्रतसुभटा ये सन्ति तैः प्रभूतार्थरत्नसंयुक्तं राज्ययोग्यं दृष्ट्वा तस्मै तपोराज्यं दत्तम् । एवं तस्मिंश्चारित्रपुरे [19]गुणस्थानसोपानालङ्कृते [20]दुर्गवद्दुर्गमे सुखेन [21]राज्यक्रियां वर्त्तमानोऽस्ति ।

अन्यच्च, [22]देव, तस्य जिनस्येदानीं मोक्षपुरे विवाहो भविष्यतीति सकलजनपदोत्सवो वर्त्तते ।

तच्छ्रुत्वा [23]कामेनाभाणि– भो मोह, तत्र मोक्षपुरे कस्यात्मजा, कीदृशाऽस्ति ?

§४. अथ मोहोऽवदत्–हे देव, तस्मिन् मोक्षपुरे सिद्धसेनत[24]नुजा मुक्तिनामाऽतिसुन्दरी[25], शिखिगलनिभनीलयमुनाजलनिभमधुकरकुलसेवितसुरभिकुसुमनिचयनिचितमृदुघनकुटिलशिरसिजा, उदितषोडशकलापरिपूर्णशशधरसन्निभवदनबिम्बा, त्रिदशेन्द्रप्रचण्डभुज[26]दण्डसज्जीकृतवक्रकोदण्डसदृशभ्रूलतिका, विकसितचञ्चलनीलोत्पलदलस्पर्द्धिविशाललोचना, निजद्युतिविस्फुरदमलसुवर्णमुक्ताफलभूषणविभूषित[27]ललिततिलककुसुमसमाननासिकाग्रा, अमृतरसपरिपूरितेषत्सुवि(शुचि)स्मितविराजमानबिम्बाधरा, नानाविधेन्द्रनीलहीरकमाणिक्यरत्नै[28]खचितमनोहरोज्ज्वलवर्तुलमुक्ताफलहारलम्बमानालङ्कृतरेखात्रयमण्डितकम्बु-

---

१ "···मनुना संप्रकीर्तितः ।···न व्यलीकेन कर्हिचित् ॥"–पञ्च० मि० भे० १३१ । २ अत्र 'इति' इत्यध्याहार्यम् । ३ दैव–ग० । ४ पञ्च० मि० भे० १३२ । ५ शुभाशुभं ग० । ६ 'अन्यच्च' क०, ग०, घ०, ङ०, च० पुस्तकेषु नास्ति । ७ हे क०, ख०, ग०, घ०, च० । ८ अत्र चस्य प्रयोगश्चिन्त्यः । ९ वेश्यायां यः ख०, ग०, ङ०, च० । १० 'आश्रमे' ख०, ग०, घ०, ङ०. च० पुस्तकेषु नास्ति । ११ 'यः' ग०, घ० पुस्तकयोर्नास्ति । १२ भूयोऽपि क०, घ०, च० । १३ मृत्युना पूर्णापूर्णयुता च ङ० । १४ वध्यते ख०, ग०, घ०, ङ०, च० । १५ दीर्यते च ङ० । १६ एवं निश्चलि क० । १७ 'कालादिलब्धिवशेन' क०, ख०, ग, घ०, च० पुस्तकेषु नास्ति । १८–भूतार्थं ङ० । १९ गुणस्थानसोपानालङ्कृते क०, ख०, ग०, घ०, च० पुस्तकेषु नास्ति । २० दुर्गदुर्गमे ख० । २१ 'राज्यक्रिया वर्तमानः' इत्यत्र पूर्ववत् समाधान प्रकारोऽनुसरणीयः । २२ हे देव ङ०, च० । २३ कामोऽभाणि ख०, घ०, च० । २४ तनूजा ग० । २५–सुन्दरा क०, ग०, घ०, ङ०, च० । २६ भुजा ख०, च० । २७ 'ललित' च० पुस्तके नास्ति । २८ 'रत्न' च० पुस्तके नास्ति ।

द्रु(म्बु)ग्रीवा, अभिनववरचम्पककुसुमद्रुमतरद्रुतकनकरुचिनिभगौरवर्णाङ्गी(ङ्गी), अभिनव-
शिरीषदामोपमबाहुलतिका, प्रथमयौवनोद्भिन्नकर्कशस्तनकलशभरनमितक्षाममध्या ।
इत्यादिनाभिजघनजानुगुल्फचरणतललावण्यलक्षणोपेतायाः सिद्ध्यङ्गनाया रूपवर्णनं
कृत्वा जिनं प्रति दयानामदूतिकया यथा द्वयोर्विवाहघटना भवति तथोपायं(यः)कर्त्तु-
मारब्धम(ब्धोऽ)स्ति । ५

एवं तस्य मोहस्य वचनमाकर्ण्य विषयव्याप्तो भूत्वा मकरध्वजोऽभणत्–हे मोह,
तदद्य संग्रामे जिनेश्वरं जित्वा सिद्ध्यङ्गनापरिणयनं यद्यहं न करोमि तत् [3]स्वं नाम त्य-
जामि। इत्युक्त्वा पञ्चविधकुसुमबाणसहितं धनुः करतले गृहीत्वा तत्सङ्ग्रामार्थमगमत्[4] ।

§ ५. अथैवं तमुत्सुकत्वेन निर्गच्छन्तमवलोक्य मोहोऽजल्पत्-देव, वचनमेकं शृणु ।
निजबलमज्ञात्वा सङ्ग्रामार्थं न गम्यते । उक्तञ्च, यतः– १०

"स्वकीयबलमज्ञाय सङ्ग्रामार्थन्तु यो नरः ।
गच्छत्यभिमुखो नाशं याति वह्नौ पतङ्गवत् ॥ ५ ॥"

तथा च–

"भृत्यैर्विरहितो राजा न लोकानुग्रहप्रदः ।
मयूखैरिव दीप्तांशुस्तेजँस्व्यपि न शोभते ॥ ६ ॥" १५

अन्यच्च–

"न विना पार्थिवो भृत्यैर्न भृत्याः पार्थिवं विना ।
एतेषां व्यवहारोऽयं परस्परनिबन्धनः ॥ ७ ॥"

तथा च–

"राजा तुष्टोऽपि भृत्यानामर्थमात्रं प्रयच्छति । २०
[10]तेन (ते तु) सम्मानमात्रेण प्राणैरप्युपकुर्वते ॥ ८ ॥
एवं[11] ज्ञात्वा[12] नरेन्द्रेण भृत्याः कार्या विचक्षणाः ।
कुलीनाः शौर्यसंयुक्ताः शक्ता भक्ताः क्रमागताः ॥ ९ ॥"

तथा[13] च–

"न भवेद्बलमेकेन समवायो बलावहः ।
तृणैरेव कृता रज्जुर्यया [14]नागश्च बद्ध्यते ॥ १० ॥" २५

---

१ 'द्रुत' ख० पुस्तके नास्ति। द्रुत तसम् । "द्रुतं शीघ्रे च विद्राणे" इति विश्वः। २ 'विद्यते' इति शेषः । ३ स्वनाम ख० । ४ गन्तुमुद्यतो बभूव। ५ तुलना–"अविदित्वात्मनः शक्तिं परस्य च समुत्सुकः । गच्छन्नभि-मुखो नाशं याति वह्नौ पतङ्गवत् ॥"–पञ्च० मि० भे० ३५४ । ६ "भृत्यैर्विना स्वयं राजा लोकानुग्रहकारिभिः । मयूखैरिव·····॥"–पञ्च० मि० भे० ८८ । ७–स्तेजसापि ग० । ८ पञ्च० मि० भे० ८७ । ९ पञ्च० मि० भे० ९१ । १० तेऽपि स– ख० । ११ पञ्च० मि० भे० ९२ । १२ गत्वा ग० । १३ तुलना–"अल्पानामपि वस्तूनां संहतिः कार्यसाधिका । तृणैर्गुणत्वमापन्नैर्बध्यन्ते मत्तदन्तिनः ।" –हितोप० मि० २७ । १४ नागोऽपि ग० ।

एवं तस्य वचनमाकर्ण्य सबाणं[1] कार्मुकं परित्यज्योपविष्टः[2]। ततो मोहं प्रत्यबोचत्–भो मोह, यद्येवं तत्त्वं सकलसैन्यमेलनं कृत्वा द्रुततरमागच्छ।

ततो मोहो जजल्प[3]– देवं[4], एवं भवति[5] युक्तम्[6]। एवमुक्त्वा तं मकरध्वजं प्रणम्य निर्गतः। अथ मोहमल्ले गते सति मकरध्वजः श्रुतावस्था[7] व्याप्तः श्लोकमेन(त)मपठत्-

५ "मत्तेभकुम्भपरिणाहिनि कुङ्कुमार्द्रे
तस्याः पयोधरयुगे रतिखेदखिन्नः।
वक्त्रं निधाय भुजपञ्जरमध्यवर्ती
स्वप्स्ये कदा [8]क्षणमहं क्षणदावसाने ॥ ११ ॥"

§६. एवंविधमुच्चलितचित्तं शोकज्वरसन्तप्ताङ्गमतिक्षीणकायं दृष्ट्वा[9] रतिरमणी
१० प्रीतिसखीं[11] प्रत्यपृच्छत्– हे सखि, साम्प्रतमस्मद्भर्ताऽयमुच्चलितं[10] चित्तश्चिन्तापरिपूर्णः[12]। कथमेतत्? तदाकर्ण्य [13]प्रीतिः सखीं[14]प्रत्याह–हे सखि,कीदृशावस्थया व्याप्तोऽयमस्त्येवं न जानामि। तत् किमनेन व्यापारेण प्रयोजनम्? उक्तञ्च यतः–

"अव्यापारेषु व्यापारं यो नरः कर्तुमिच्छति।
स एव निधनं याति यथा[15] राजा ककुद्रुमः ॥ १२ ॥"

१५ [16]अथ रतिराह–हे सखि, अयुक्तमेतत् त्वयोक्तम्। यत एवं पतिव्रताधर्मो न भवति। अथ सा प्रीतिरब्रवीत्–हे सखि, यद्येवं तर्हि त्वमेव[17] पृच्छां कुरु। एवं सखीवचनमाकर्ण्यैकदा शय्यागारे शयनस्थमनङ्गं रजन्यां[18] प्रश्नार्थं रतिरालिलिङ्ग। तद्यथा–

यद्वत् पर्वतनन्दना पशुपतेरालिङ्गनञ्चाकरो–
दिन्द्राणी त्रिदशाधिपस्य हि यथा गङ्गानदी[19] चाम्बुधेः।
२० सावित्री कमलोद्भवस्य तु यथा लक्ष्मीर्यथा श्रीहरे–
रिन्दो रोहिणि[20]संज्ञिका [21]फणिपतेर्देवी च पद्मावती ॥ ७ ॥

एवञ्च समालिङ्ग्य तमपृच्छत्– देव, युष्माकं साम्प्रतं न चाहारः, न निद्रा, न राज्योपरि चित्तम्[22], तत्कथमेतत्? अन्यच्च–

---

१ सबाणकार्मुकं प– क०, ख०, ग०। २ अत्र 'सः' अध्याहार्यः। ३ अजल्पत् ख०। ४ हे देव घ०, च०। ५ भवतु ख०। ६ युक्तमुक्तम् ङ०। ७ श्रुतावस्था पूर्वरागात्मिका, तया व्याप्तः सन्। पूर्वरागश्चायम्–"श्रवणाद्दर्शनाद्वापि मिथः संरूढरागयोः। दशाविशेषो योऽप्राप्तौ पूर्वरागः स उच्यते ॥"–सा० द० ३।१८८। ८ "·····क्षणमवाप्य तदीयमङ्गम्।"–पञ्च० मि० भे० २२०। ९ –द्वार स–ख० च०। १० अत्र 'अनङ्गम्' इत्यध्याहार्यम्। ११ प्रीतिः सखीं क०, ख०, ग०, घ०, ङ०। १२ –तश्चिन्ता– च०। १३ प्रीतिः प्राह ख०, ङ०। १४ प्रति प्राह ग०। १५ "···कीलोत्पाटीव वानरः ॥"–पञ्च० मि० भे० २१। वदत्येवं विचक्षणः ङ। १६ अतः पूर्वं "अस्य श्लोकस्य कथा प्रसिद्धा" इति पुस्तकान्तरेभ्योऽधिकः पाठो वर्त्तते ख० पुस्तके। १७ त्वं गत्वा पृ– ख०, ङ०। १८–न्यामवसरं प्राप्य प्र– ख०। १९ –दीवाम्बु–क०, ग, ङ०। २० संज्ञका क०, ख०, ग०, घ०, च०। २१ धरणेन्द्रस्य। २२ चिन्ता ख०।

त्वया को न जितो लोके, त्वया का स्त्री न सेविता ।
सेवा ते न कृता केन, तदवस्थान्वितोऽसि किम् ॥ ८ ॥

§ ७. एवं तया पृष्टो मकरध्वजो वचनमेतदूचे-प्रिये, किं तवानेन व्यापारेण ? ममावस्थामपहरत्येवंविधः कोऽस्ति ? तच्छ्रुत्वा रतिरजल्पत्-काऽवस्था लग्नास्ति[1] ते ? तदवश्यं कथ्यताम् । स[2] आह-प्रिये, यदा सञ्ज्वलनेन विज्ञप्तिका प्रेषिता तदा सिद्‌ध्य- ५
ङ्गनारूपलावण्यवर्णनं श्रुत्वा तद्दिनप्रभृति मम[3] श्रुताऽवस्था लग्ना । तत्किं करोमि ?

अथ रतिराह[4]-हे देव, तत्त्वयात्मनो वृथा शरीरशोषः[5] कृतः । यतो मोह[6]मल्लसदृशे सचिवे सति गुह्यमेतन्न कथयसि[7] । उक्तं[8] च यतः-

"जनन्या यच्च नाख्येयं कार्यं[9] तत् स्वजने जने ।
"[10]सचिवे कथनीयं स्यात् कोऽन्यो विश्रम्भ[11]भाजनः ॥ १३ ॥" १०

ततः [12]पञ्चेषुरूचे-हे प्रिये, मोहेनापि ज्ञातमेतद् गुह्यम् । तन्मया सकलसैन्य-मेलनार्थं प्रेषितोऽस्ति । तद्यावत् स नागच्छति तावत्तत्र गत्वा यथा[13] मामिच्छति तथोद्यमस्त्वया कर्त्तव्यः । यत उद्यमात् सकलं भवति । उक्तं[14] च यतः-

"उद्योगिनं सततमत्र समेति लक्ष्मी-
दैवं हि दैवमिति कापुरुषा वदन्ति । १५
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिद्‌ध्यति कोऽत्र दोषः ॥ १४ ॥"

"[15]तथा च-

"रथस्यैकं चक्रं भुजगयमिताः सप्त तुरगा
निरालम्बो मार्गश्चरणरहितः सारथिरपि ॥ २०
रविर्यात्येवान्तं प्रतिदिनमपारस्य नभसः
क्रियासिद्धिः सत्त्वे वसति महतां नोपकरणे ॥ १५ ॥"

अन्यच्च, यतस्त्वया स्वभावेन पृष्टोऽहं तस्मान्मया कथितम् । तद्यदि ममा[16]र्त्तिमपहरसि तत्त्वं पतिव्रता भवसि ।

---

१ लग्ना ते घ०, च० । २ स काम आ- घ०, च० । ३ सुरतावस्था क० । ४ अतः परं ख० पुस्तके निम्नाङ्कितं प्रकीर्णकपद्यमुद्धृतमस्ति—

"ऊंची डालितणाइं फल देखि फाटिम हियाा ।
वीणिन भूमितणाइं जे विडविहि (ची ?) आईयं ॥"

५ -शोषणं कृतम् च० । ६ मोहसदृशे ग० । ७ कथयति क०, ग०, घ०, च० । ८ तुलना-"स्वामिनि गुणान्तरज्ञे गुणवति भृत्येऽनुवर्त्तिनि कलत्रे । सचिवे चानुपचर्ये निवेद्य दुःखं सुखी भवति ।"-पञ्च० मि० भे० ११० । ९ सचिवे ज- ख० । १० सत्यं तत् क-ख० । ११ भाजनम ख, क० । १२ कामः । १३ यथानन्तरं 'सा (सिद्धयङ्गना)' इत्यध्याहार्यम् । १४ पञ्च०मि०भे० २१४ । १५ भोजप्र० १६९ । १६ -मार्त्तम-च० ।

§ ८. ततो रतिरब्रवीत्–भो देव, युक्तायुक्तं किञ्चिन्न जानासि। उक्तञ्च[1]–

"स्वाधीनेऽपि कलत्रे नीचः परदारलम्पटो भवति।
सम्पूर्णेऽपि तडागे काकः कुम्भोदकं पिबति[2] ॥ १६ ॥"

अथ[3] किं क्वाऽपि स्वभार्यादूतत्वमस्ति? तच्छ्रुत्वा कन्दर्पोऽवोचत्– हे प्रिये,
५ युक्तमेतत् त्वयोक्तम्। परं किन्तु त्वया विना कार्यमिदं न भवति। यतस्त्रीभिः स्त्रियो विश्वासमायान्ति। उक्तञ्च[4] यतः–

"मृगैर्मृगाः सङ्गमनुव्रजन्ति स्त्रियोऽङ्गनाभिस्तुरगास्तुरङ्गैः।
मूर्खाश्च मूर्खैः सुधियः सुधीभिः समानशीलव्यसनेषु सख्यम ॥ १७ ॥"

तद्वचनं श्रुत्वा सचिन्ता भूत्वा रतिरभणत्– देव, सत्यमिदमुक्तं भवता। परं किन्तु
१० यद्येवं दर्शयसि[5] तत्ते सिद्धिभार्या भवति।

"काके[6] शौचं द्यूतकारेषु सत्यं सर्पे[7] क्षान्तिः स्त्रीषु कामोपशान्तिः।
क्लीबे धैर्यं मद्यपे तत्त्वचिन्ता यद्येवं[8] स्यात तद्भवेत् सिद्धिरामा ॥ १८ ॥"

अन्यच्च, सा सिद्धयङ्गना जिननाथं वञ्चयित्वाऽन्येषां नामपृच्छामपि नं करोति।
उक्तञ्च यतः–

१५ "ये स्त्रीशस्त्राक्षसूत्राद्यै रागाद्यैश्च कलङ्किताः ॥
निग्रहाऽनुग्रहपराः सा सिद्धिस्तान् न[9] वाञ्छति[10] ॥१९॥"

तत्किं वृथाऽनेनार्त्तेन प्रयोजनम्? उक्तञ्च यतः–

"व्यर्थमार्त्तं[11] न कर्त्तव्यमार्त्तात्तिर्यग्गतिर्भवेत्
यथाऽभूद्धेमसेनाख्यः पक्वे[12] चैर्वारुके कृमिः ॥ २० ॥"

२० § ९. अथ कामोऽवादीत्– कथमेतत्? साऽब्रवीत्–

अस्ति कस्मिंश्चित् प्रदेशे चम्पानाम नगरी सततप्रवृत्तोत्सवा प्रभूतवरजिनालयजिनधर्माचारोत्सवसहितश्रावका घनहरिततरुखण्डमण्डिता, सकलभूमिभागोत्सङ्गसञ्चरद्वरविलासिनीविलासचलितचतुरचरणरणितनूपुर[13]रस[14]नारव[15]बधिरितदिगन्तराला, वर्णत्रय-

१ सुभाषित० भा० १७० । २ पद्यमिदं क०, ग०, घ०, च० पुस्तकेषु नास्ति। ३ अथ क०, ग०, घ०, च० पुस्तकेषु नास्ति। ४ "मृगा मृगैः·····गावश्च गोभिस्तु···।" – पञ्च० मि० भे० ३०५। ५ दर्शयति च०। ६ "···राजा मित्रं केन दृष्टं श्रुत वा।"–पञ्च० मि० भे० १५८। ७ पद्यस्यास्य द्वितीयतृतीयचरणयोः पूर्वापरीभावोऽवलोक्यते ग० पुस्तके। ८ राजा मित्रं केन दृष्टं श्रुतं वा ख०। ९ न च० पुस्तके नास्ति। १० गच्छति च०। वेच्छति ङ०। ११ आर्त्तध्यानमित्यर्थः। १२ "ईर्वारुः कर्कटी स्त्रियौ" इत्यमरः। वै कर्कटी कृ– ग०। चैवातुके च०। १३ रचना र– क०, ग०, घ०, ङ०, च०। १४ राव न-घ०, च०। बधिरीकृतदि– ग०।

गुणशुश्रूष्य[1]शूद्रजनपरिपालितजनपदा, नानाविषयागतानेकपात्रवैदेश्यसार्थसमस्तज्ञानसम्पन्नोपाध्यायशतशोभिता, प्रचुरपुरवधूवदनचन्द्रज्योत्स्नोद्भासि[2]तवसुधाधवलमालोपशोभिता। एवंविधायां नगर्यां हेमसेननामानो मुनयः कस्मिंश्चिज्जिनालये महोग्रं तपश्चरणं कुर्वन्तो हि तस्थुः। एवं तेषां तपश्चरणक्रियावर्त्तमानानां कतिपयैर्दिवसैर्मृत्युकालः प्राप्तः। अथ यावत्तेषामासन्नमृत्युर्वर्त्तते, तावत्तस्मिंश्चैत्यालये श्रावकजना विविधकुसुमफलाद्यैराराधनापूजां[3] चक्रिरे। ततोऽनन्तरं प्रतिमैकायाश्चरणोपरि सुपक्कमेकमैर्वारुकं यत् स्थापितमासीत् तद्गन्धजनितार्त्तेन प्राणान् परित्यज्य तत्क्षणात्तस्मिन्नेवैर्वारुकमध्ये कृमिर्जज्ञिरे। ततः श्रावकजना मिलित्वा महोत्सवपूर्वकं[4] शरीरसंस्कारं चक्रिरे।

§ १०. ततो द्वितीयदिने[5] येऽन्ये[6] चन्द्रसेननामानः साधवस्तिष्ठन्ति तान्प्रति श्रावकाः पृच्छां कर्त्तुमारब्धाः—अहो, हेमसेनैरिमै (रेभि) मरणपर्यन्तमस्मिंश्चैत्यालये महोग्रं तपश्चरणं कृतम्। तत्तपःप्रभावादधुना कां गतिमवापुरेवमवलोकनीयो(यं) भवद्भिः।

अथ ते कालज्ञानसम्पूर्णा मुनयो यावत् पश्यन्ति मोक्षे स्वर्गे पाताले नरके। एतेषु स्थानेषु यदा न तिष्ठन्ति तदा ते विस्मितमानसा बभूवुः। ततो भूयोऽपि यदा पश्यन्ति तदा तत्रैव चैत्यालये सर्वज्ञचरणोपरि[7] पक्वैर्वारुकमध्ये कृमिरूपेण समुत्पन्नाः सन्ति। एवं स्फुटं ज्ञात्वा श्रावकान् प्रत्यभिहितम्—अहो, अस्मिन्नेव[8] चैत्यालये सर्वज्ञचरणोपरि पक्वैर्वारुकमध्ये कृमिरूपेण समुत्पन्नाः सन्ति।

एवं तच्छ्रुत्वा तत्क्षणात् तदै(दे)वैर्वारुकं भित्वा यावदवलोकयन्ति ते, तावत् कृमिरूपमस्ति। अथ ते विस्मितचेतसो भूत्वा श्रावकाः पुनरूचुः—भो स्वामिन्, एवंमिमै[9](एभि)र्हेमसेनैर्महोग्रं तपश्चरणं कृतम्। तत्प्रभावादीदृशाया गतेः सम्भवार्थं किं कारणमिदम्? तदाकर्ण्य चन्द्रसेनमुनयः प्राहुः—अहो, यद्यपि महोग्रं तपश्चरणं क्रियते तथापि ध्यानं बलवत्तरमिति। उक्तञ्च यतः—

"आर्त्ते च [10]तिर्य्यग्गतिमाहु[11]रार्या रौद्रे गतिः स्यात् खलु [12]नारकी च।
धर्मे भवेद्देव[13]गतिर्नराणां [14]ध्याने च [15]जन्मक्षयमाशु शुक्ले ॥२१॥"

§ ११. तदाकर्ण्य श्रावकाः प्राहुः—भगवन्, कीदृशमार्त्त[16]ध्यानम्, कीदृशं[17] रौद्रध्यानम्, कीदृशं[18] धर्मध्यानम्, कीदृशं[19] शुक्लध्यानम्? इति सर्वं प्रकटमस्मान् प्रति कथनीयम्।

अथ ते ध्यानचतुष्कस्य निदर्शनं तान् प्रति निवेदयन्ति स्म। तद्यथा—

१ शुश्रूषा ख०, ङ०। २—स्नोद्भासि व—च०। ३ महासेनमुनीनामाराधनापूजाम्। ४ 'महोत्सवपूर्वकं' क०, ग०, घ०, ङ०, च० पुस्तकेषु नास्ति। ५-अन्यदि— ख०। ६ 'ये' ग० पुस्तके नास्ति। ७ जिनच—क०, ख०, ग०, घ०। ८ अतः पूर्वं 'हेमसेनमुनयः' इत्यध्याहार्यम्। ९ एवं विधि घ०, च०। १० तुलना—"अनन्तदुःखसंकीर्णमस्य तिर्यग्गतेः फलम्।"—ज्ञाना० २५।४२। ११—राद्या क०, ग०, घ०। १२ तुलना— "······श्वभ्रपातफलाङ्कितम्।"—ज्ञाना० २६।३६। १३ तुलना—"संभवन्त्यथ कल्पेषु ······।" —ज्ञाना० ४१।२०। १४ ध्यानेन ज—ग०। १५ तुलना—"···जन्मजानेकदुर्वारबन्धव्यसनविच्युतः ॥"—ज्ञाना० ४२।५५। १६—मार्त्तंकी—ख०, च०। १७ किं रौद्रम् ख०, च०। १८ किं धर्मम् ख०, च०। १९ किं शुक्लम् ख०, च०।

[1]वसनशयनयोषिद्रत्नराज्योपभोग-
　　[2]प्रवरकुसुमगन्धानेकसद्भूषणानि ।
सदुपकरणमन्यद्वाहनान्यासनानि,
　　सततम[3]िति य इच्छेद् ध्यानमार्त्तं[4] तदुक्तम् ॥९॥

गगनवनधरित्रीचारिणां देहभाजां
　　दलनदहनबन्धच्छेदघातेषु यत्नम् ।
इति न[5]खकरनेत्रोत्पाटने कौतुकं यत्
　　तदिह गदितमुच्चैश्चेतसां रौद्रमित्थम्[6] ॥१०॥

दहनहननबन्धच्छेदनैस्ताडनैश्च
　　प्रभृतिभिरिह यस्योपैति तोषं मनश्च ।
व्यसनमति सदाऽघे, नानुकम्पा कदाचि-
　　न्मुनय इह तदाहुर्ध्यानमेवं हि रौद्रम्[7] ॥११॥

श्रुत[8]सुरगुरुभक्तिः सर्वभूतानुकम्पा
　　स्तवननियमदानेष्वस्ति यस्यानुरागः ।
मनसि न परनिन्दा त्विन्द्रियाणां प्रशान्तिः
　　कथितमिह हितज्ञैर्ध्यानमेवं हि धर्मम्[9] ॥१२॥

खलु[10] विषयविरक्तानीन्द्रियाणीति यस्य
　　सततममलरूपे निर्विकल्पेऽव्यये यः ।
परमहृदयशुद्धध्यानतल्लीनचेता
　　यतय इति वदन्ति ध्यानमेवं हि शुक्लम् ॥१३॥

तदवश्यं यादृशं ध्यानमन्तकाले चोत्पद्यते तादृशी गतिर्भवे[11]ति । अन्यच्च-

मरणे या मतिर्यस्य सा गतिर्भवति ध्रुवम् ।
यथाऽभूज्जिनदत्ताख्यः स्वाङ्ग[12]नार्त्तेन दर्दुरः ॥१४॥

अथ ते श्रावकाः प्रोचुः-भगवन्, कथमेतत् ? ते मुनयः प्रोचुः-

§ १२. अ[13]स्ति कस्मिंश्चित् प्रदेशे राजगृहं नाम नगरम् । तत्र[14] च जिनचरणयुगल-

---

१ व्यसनश-ग० । २ प्रचुर कु-ग० । ३-मतिय- च० । -मपिय-ख० । ४ पद्यमिदं सम्पूर्णं क०, ग०, घ०, च० पुस्तकेषु नास्ति । ५ नखकरपदने- क० । ६ ज्ञाना० २६।८ । ७ तुलना-"अनारतं निष्करुणस्वभावः स्वभावतः क्रोधकषायदीप्तः । मदोद्धतः पापमतिः कुशीलः स्यान्नास्तिको यः स हि रौद्रधामा ॥"-ज्ञाना० २६।५ । ८ सुरश्रुतगु-क०, घ०, ङ०, च० । ९ जिनगु-ग० । १० तुलना-"निष्क्रियं करुणातीतं ध्यानधारणवर्जितम् । अन्तर्मुखं च यच्चित्तं तच्छुक्लमिति पठ्यते ॥"-ज्ञाना० ४२।४ । ११ भवेत् च० । १२ स्वाङ्गेना-ग० । १३ 'अस्ति' च० पुस्तके नास्ति । १४ तत्र जि-ख० ङ० ।

विमलकमलपरमशिवसुखरसास्वादनलीनमत्तमधुकरजिनदत्तश्रेष्ठिनामा श्रावकः प्रतिवसति स्म । तस्यैका प्राणप्रिया स्वरूपनिर्जितसुरेशाङ्गनेत्याद्यनेकापूर्वरूपा जिनदत्ताख्या भार्या तिष्ठति । एवं तस्य सागारधर्मक्रियावर्त्तमानस्य जिनदत्तस्य कतिपयैरहोभिरन्तकालः प्राप्तः । ततोऽनन्तरं यावत्तस्य प्राणनिर्गमनकालो वर्त्तते, तावत्तस्मिन्नवसरे निजललनाद्भुतलावण्यमवलोक्यार्त्तव्याप्तः सन्नेवंविधमवोचत् । तद्यथा–

किमिह बहुभिरुक्तैर्युक्तिशून्यैः प्रलापै-
द्वयमिह पुरुषाणां सर्वदा सेवनीयम् ।
अभिनवमदलीलासालसं सुन्दरीणां
स्तनतटपरिपूर्णं यौवनं वा वनं वा ॥ १५ ॥
एषा स्त्रीषु मनोहराऽतिसुगुणा संसारसौख्यप्रदा
वाङ्माधुर्ययुता विलासचतुरा भोक्तुं न लब्धा मया ।
दैवं हि प्रतिकूलतां गतमलं धिग् जन्म मेऽस्मिन्भवे
यत्पूर्वं खलु दुस्तरं कृतमघं दृष्टं मयैतद् ध्रुवम् ॥ १६ ॥

तथा च–

असारे खलु संसारे सारं शीताम्बु चन्द्रमाः ।
चन्दनं मालतीमाला बालाहेलावलोकनम् ॥१७॥

एवं जल्पन् महाज्वरसन्तप्ताङ्गः स्वाङ्गनार्त्तव्याप्तः[10] पञ्चत्वमवाप । तत्क्षणात्[11] स्वगृहाङ्गणवाप्यां दर्दुरोऽजनि ।

§ १३. ततोऽनन्तरं तस्य भार्या कतिपयैर्दिनैस्तस्यामेव वाप्यां पानीयमानयनार्थं यावद् गता तावत्तां दृष्ट्वा पूर्वभवसंस्मरणात्[12] तस्याः सम्मुखो धावन्नागतः । अथ सा तद्दर्शनभयभीता सती शीघ्रं गृहाभ्यन्तरं विवेश । एवं यदा[13] यदा सा स्त्री प्रतिदिनं तद्वाप्यां गच्छति तदा तदा स[14] सम्मुखो धावन्नागच्छति । एवं प्रकारेण भूरि दिनानि गतानि ।

ततः कतिपयैर्दिवसैस्तन्नगरबाह्यप्रदेशस्थोद्यानवने केचित् सुभद्राचार्यनामानो मुनयो मुनिशतपञ्चकसमेता विहारकर्म कुर्वन्तश्चाजग्मुः । अथ तेषामागमनमात्रेण तद्वनं सुशोभितं जातम् । तद्यथा–

शुष्काशोककदम्बचूत[15]वकुलाः खर्जूरकादिद्रुमा
जाताः पुष्पफलप्रपल्लवयुताः शाखोपशाखान्विताः ।

१–स्वादेन ली–क० । –स्वादने ली–क० । २–व्याप्त एवं– ख०, ग०, ङ० । ३ पद्यमिदं क०, ख०, ग०, घ०, च० पुस्तकेषु नास्ति । ४ "·····स्तनभरपरिखिन्न···॥"–सुभाषितत्रि० २।२९ । ५ ततम– ख० । ६ मया तद्द्रुतम् ख० । ७ गीताशु घ० । ८ हेलालीलाव–ग० । ९–वगाहनम् ख० । १० जिनदत्तः । ११–गाङ्ग गृ–च० । १२ 'स जिनदत्त' इत्यध्याहार्यम् । १३ 'यदा यदा' ख० पुस्तके नास्ति । १४ 'स' घ०, च० पुस्तकयोर्नास्ति । १५–तककुलाः ग० ।

शुष्काब्जाकरवापिकाप्रभृतयो जाताः पयःपूरिताः
क्रीडन्ति स्म सुराजहंसशिखिनश्चक्रुः स्वरं कोकिलाः ॥ १८ ॥
जातीचम्पकपारिजातकजपासत्केतकीमल्लिकाः
पद्मिन्यः प्रमुखाः क्षणाद्विकसिताः प्रापुर्मधूपास्ततः।
[1]कुर्वन्तो मधुरस्वरं सुललितं तद्गन्धमाघ्राय ते
गायन्तीव हि गायकाः स्युरपरे (स्वरपरा) भातीदृशं तद्वनम् ॥१९॥

एवं तद्वनं फल[2]कुसुमविराजमानमवलोक्य वनपालको विस्मितमना मनसि चिन्तयामास–केन कारणेनेदं वनं सहसा सुशोभितं सञ्जातम्। तत्किमेषां मुनीनामागमनप्रभावात्? किम्वा किञ्चिद[3]रिष्टमस्य क्षेत्रस्य भविष्यत्येवं न विज्ञायते मया। तदहमेतानि फलानि [4]राज्ञो दर्शनकरणार्थं नेष्यामि। एवं चिन्तयित्वा नानाविधफलानि गृहीत्वा तत्पुरनराधिराजदर्शनार्थमुत्सुकत्वेन य[5]यौ। अथ नृपसकाशमागत्य प्रणामं कृत्वा तस्याकालोद्भवफलानां दर्शनमचीकरत्।

अथ तान्यकालफलानि समालोक्य विस्मितचेता नरपतिरवोचत्–अरे वनपालक, किमेतानि फलान्यकाले? तदाकर्ण्य स चा[6]ह–भो देव, किमाश्चर्यं कथयामि। केचिन्मुनीश्वरा मुनिशतपञ्चकसमेता अस्मद्वनमागताः। तत्क्षणात् तेषामागमनमात्रेण तद्वनं सहसा फलकुसुमविराजमानं मनोहरं सञ्जातमिति।

§ १४. ए[7]वं तद्वचनमात्रश्रवणात् सिंहासना[8]दुत्थाय सप्तपदानि त[9]द्दिशि [प्र-][10] चङ्क्रम्य परमभावेन प्रणामं कृत्वा स राजा सान्तःपुरः सपरिवारो वन्दनार्थं [11]चचाल। अथ तद्वार्त्तामाकर्ण्य तत्पुरनिवासिनः सर्वे श्रावकजना जिनदत्तभार्यादिप्रभूताः [12]श्रावकाङ्गनाः परमभक्त्या वन्दनार्थं निर्ययुः। ततो मुनिसकाशं सम्प्राप्य त्रिःपरीत्य गुरुभक्तिपूर्वकं प्रणम्य सर्वे तत्रोपविविशुः। अथ तत्रैके वैराग्यपरां दीक्षां प्रार्थयन्ति स्म। [13]एके धर्ममाकर्णयन्ति स्म। एके गद्यपद्यस्तुतिवचनैः स्तुतिं चक्रिरे। एके तान् मुनीनवलोक्य 'अद्य वयं धन्या' एवं मनसि दधिरे। एके स्वातीतानागतभवपृच्छां कुर्वन्ति स्म[14]। एवं यावत्तत्र [15]लोकमहोत्सवो वर्त्तते तावत्तस्मिन्नवसरे सा जिनदत्ताङ्गना [16]सम्मुखं स्थित्वा प्रणम्योवाच–भगवन्, अस्मद्भर्त्तुर्जिनदत्तस्य कीदृशी गतिः सञ्जाता, [17]तत् कथनीयं भवद्भिः तच्छ्रुत्वा ते ज्ञानदृष्ट्या विलुलोकिरे। ततः प्रोचुः–हे पुत्रि, किं कथ्यते? [18]कथनं योग्यं न भवति।

---

१ कुर्वन्तं क०, च०। २ 'फलकुसुम–' इत्याद्यादारभ्य 'केन कारणेनेदं वनम्' इतिपर्यन्तः पाठः क०, ग०, घ०, च० पुस्तकेषु नास्ति। ३ अरिष्टं शुभम्। "अरिष्टे तु शुभाशुभे" इत्यमरः। ४ राशी क०, ग०, च०। ५ आययौ ख०, ग०, घ०, ङ०। ६ चावदत् ग०। उवाच क०। ७ एवं वचन–ख०, ङ, च०। ८ समुत्थाय च०। ९ तद्दिशं क०, ख०, ग०, घ०, च०। १० गत्वेत्यर्थः। ११ प्रचचाल क०, ख०, ग०, ङ०। १२ श्रावकजनाः ख०। १३ वाक्यमिदं ख०, ग० पुस्तकयोर्नास्ति। १४ 'स्म' क० पुस्तके नास्ति। १५ लोके श्रु–ग०। १६ सुखं स्थि–घ०, च०। १७ कथनीया भ–घ०, च०। १८ कथनयोग्यं न–क०, ख, ग०, घ०, ङ०।

ततः साऽब्रवीत्–भो भगवन्, किमस्मिन् भवद्भिः शङ्का कर्त्तव्या ? यतोऽस्मिन् संसारे उत्तमो जीवोऽप्यधमः स्यादधमोऽप्युत्तमः स्यात्। अथ ते प्राहुः–हे पुत्रि, यद्येवं तत्तव भर्त्ता स्वगृहाङ्गणवाप्यां दर्दुरो भूत्वाऽऽस्ते।

§ १५. तदाकर्ण्य सा विस्मितमनसा चिन्तयामास–अवश्यमिदं सत्यम्। यतस्तद्वाप्यां प्रतिदिनं मम सम्मुखो धावन्नागच्छति यो दर्दुरः स एव मम भर्त्ता भवति। यतो नान्यथा मुनिभाषितमिति। एवं चिन्तयित्वा भूयोऽपि मुनिं पप्रच्छ। तद्यथा– ५

वशीकृतेन्द्रियग्रामः कृतज्ञो विनयान्वितः।
निष्कषायः प्रसन्नात्मा सम्यग्दृष्टिर्महाशुचिः॥ २०॥
श्रद्धालुर्भावसम्पन्नो नित्यषट्कर्मतत्परः।
व्रतशीलतपोदानजिनपूजासमुद्यतः॥ २१॥ १०
नवनीतसुरामांसैर्मधूदुम्बरपञ्चकैः।
अनन्तकायकाज्ञातफलादिनिशिभोजनैः॥ २२॥
आमगोरससम्पृक्तैर्विदलैः पुष्पितो(तौ)दनैः।
दध्यहर्द्वितयातीतप्रमुखैरुज्झितोऽशनैः॥ २३॥ (युग्मम्)
पञ्चाणुव्रतसंयुक्तः पापभीरुर्दयान्वितः। १५
एवंविधश्च मे भर्त्ता भेकोऽभूत् स कथं प्रभो॥ २४॥ (कुलकम्)

तच्छ्रुत्वा मुनयः प्रोचुः–हे पुत्रि, युक्तमिदमुक्तं भवत्या। परन्तु यद्यपि जीवस्य परमश्रावकगुणाः सन्ति, तथाप्यन्तकाले [11]यादृशी [12]बुद्धिरुत्पद्यते तादृशी गतिर्भवति।

§ १६. अथ सा प्रोवाच–भो भगवन्, तन्मे नाथस्यान्तकाले कीदृशो भावः समुत्पन्नः ? अथ ते ब्रुवन्ति स्म–हे पुत्रि, स जिनदत्तो महाज्वरसंपीडितोऽन्तकाले तवैव वार्त्तेन(र्त्तया) २० मृत्वा निजगृहाङ्गणवाप्यां दर्दुरोऽभूत्। ततः साऽब्रवीत्–हे स्वामिन्, यद्येवमन्तकाले[13] भावः प्रमाणं तत्किं श्रावकाणां सागारधर्माचरणं व्यर्थम् ? तदाकर्ण्य ते मुनयो विहस्य प्रोचुः–हे पुत्रि, न भवत्येवम्। न भावो व्यर्थो न वाऽऽचरणम्। तच्छृणु। यस्य हि जीवस्य

१ किमप्यस्मिन् विषये भवद्भिः शङ्का न कर्त्तव्या ख०। २ क्रियते क०। न कर्त्तव्या ङ०। ३ सविस्मितम–क०, ग०, च०। ४ इतः पूर्वं 'श्रावकाचारसंयुक्तो निजश्लाघापरान्वितः' इत्यधिकः पाठः क० पुस्तके। ४ "मधुवन्नवनीत च मुञ्चेत्तत्रापि भूरिशः। द्विमुहूर्त्तात् परं शश्वत्संसजन्त्यङ्गिराशयः॥"–सागारध० २।१२। ५ "पिप्पलोदुम्बरप्लक्षवटफल्गुफलान्यदन्। हन्त्यार्द्राणि त्रसान् शुष्काण्यपि स्वं रागयोगतः॥"–सागारध० २।१३। ६ अनन्तैर्जीवैरुपलक्षितः कायो येषान्ते तथोक्ताः, त एवानन्तकायका मूलादिप्रभवा वनस्पतिकायिकाः। "अनन्तकायाः सर्वेऽपि सदा हेया दयापरैः।"–सागारध० ५।१७। ७ "सर्वं फलमविज्ञातं ···खादेन्नोदुम्बरव्रती॥"–सागारध० ३।१४। ८ "रागजीववधापायभूयस्त्वात्तद्वदुत्सृजेत्। रात्रिभक्तं तथा...॥"–सागारध० २।१४। ९ "आमगोरससंपृक्तं द्विदलं प्रायशोऽनवम्। वर्षास्वदलितं चात्र पत्रशाकं च नाहरेत्॥"–सागारध० ५।१८। १० भीतिर्दं च०। ११ यादृशो–ख०, क०। १२ भावः–ख०, क०। १३–कालभावप्रमाणं क०, घ०, च०।

शुभधर्माचरणवर्त्तमानस्याप्यन्तकाले यदि कथमप्यशुभो भावः समुत्पद्यते, ततस्तद्भाव-वशात् तादृशीं गतिं प्राप्नोति। ततः स्वल्पतरं भुक्त्वा पश्चाच्छुभगतिं लभते। यतः स्थितिच्छेदोऽस्ति परं गतिच्छेदो नास्ति। अत एव नोभयं व्यर्थम्। तत्तव भर्त्ताऽसौ[2] जिनदत्तः कतिपयैर्दिवसैर्दर्दुरत्वे निवृत्ते देवगतिं प्राप्स्यति। एवं मुनिवचनं श्रुत्वा मुनिं प्रणम्य सा[3] जिनदत्ता[4] स्वगृहमाययौ[5]। अतो[6] वयं ब्रूमः–

मरणे या मतिर्यस्य सा गतिर्भवति ध्रुवम्।
यथाऽभूज्जिनदत्ताख्यः स्वाङ्गनार्थेन दर्दुरः॥

एवमुक्त्वा तस्य कृमिरूपस्य पञ्चनमस्कारान् ददौ। ततः[7] शीघ्रं षोडशे[8] स्वर्गे देवोऽजनि। अतोऽहं ब्रवीमि–

१० व्यर्थमार्तं न कर्त्तव्यमार्त्तात्तिर्यग्गतिर्भवेत्।
यथाऽभूद्धेमसेनाख्यः पक्के चैर्वारुके कृमिः॥

§ १७. एवं श्रुत्वा महाकोपं गत्वा कामः प्रोवाच–हे दुश्चारिणि, किमनेन प्रपञ्चोक्तेन? यत्त्वया रचितमस्ति तत्सर्वं मया ज्ञातम्। शोकेनानेन मां हत्वा त्वयाऽन्यो[9] भर्त्ता हृदि [10]चिन्तितोऽस्ति। यतः स्त्रीणामेकतो रतिर्नास्ति। उक्तञ्च यतः–

१५ "जल्पन्ति सार्धमन्येन पश्यन्त्यन्यं सविभ्रमाः।
हृद्गतं चिन्तयन्त्यन्यं न[11] स्त्रीणामेकतो रतिः॥ २२॥
[12]नाग्निस्तृप्यति [13]काष्ठानां नापगानां महोदधिः।
नान्तकः सर्वभूतानां न पुंसां वामलोचनाः॥ २३॥
[14]वञ्चकत्वं नृशंसत्वं चञ्चलत्वं कुशीलता।
इति नैसर्गिका दोषा यासां ताः सुखदाः कथम्॥ २४॥"

२० [15]तथा च–

"वाचि चान्यन्मनस्यन्यत् क्रियायामन्यदेव हि।
यासां [16]साधारणं स्त्रीणां ताः कथं सुखहेतवः॥ २५॥"

१–मानेऽप्यन्तका–ग०। २ सजि–ग०,ङ०। ३ 'सा' ग० पुस्तके नास्ति। ४ 'जिनदत्ता' ख० पुस्तके नास्ति। ५ गृहम् ख०। ६ वाक्यमिदं च० पुस्तके नास्ति। ७ अत्र 'स' इत्यध्याहार्यम्। ८ षोडशमेस्व–क०, ख०, ग०, घ०, ङ०। ९ अन्यं भर्त्तारं ख०,ङ०। १० चिन्तितम्–क०। ११ "...प्रियः को नाम योषिताम्।"–पञ्च० मि० भे० १४६। तुलना–"एकं दृशा परं भावैर्वाग्भिरन्यं तथेङ्गितैः। संज्ञयाऽन्यं रतैश्चान्यं रमयन्त्यङ्गना जनम्॥"–ज्ञाना० १२।५२। १२ पञ्च०मि०भे०१४८। १३ काष्ठौघैः घ०,च०। १४ तुलना–"निर्दयत्वमनार्यत्वं मूर्खत्वमतिचापलम्। वञ्चकत्वं कुशीलत्वं स्त्रीणां दोषाः स्वभावजाः॥"–ज्ञाना० १२।९। १५ तुलना–"मनस्यन्यद्वचस्यन्यद्वपुष्यन्यद्विचेष्टितम्। यासां प्रकृतिदोषेण प्रेम तासां कियच्चिरम्॥"–ज्ञाना० १२।२१। १६ साधारण-स्त्री–क०, ग०, ङ०, च०।

अन्यच्च[1]–

"विचरन्ति कुशीलेषु लङ्घयन्ति कुलक्रमम् ।
न स्मरन्ति गुरुं मित्रं पतिं पुत्रञ्च योषितः ॥ २६ ॥
देवदैत्योरगव्यालग्रहचन्द्रार्कचेष्टितम् ।
जानन्ति ये महाप्राज्ञास्तेऽपि वृत्तं न योषिताम् ॥ २७ ॥" ५

तथा[2] च–

"सुखदुःखजयपराजयजीवितमरणानि ये विजानन्ति ।
मुह्यन्ति तेऽपि नूनं तत्त्वविदश्चेष्टिते स्त्रीणाम् ॥ २८ ॥
जलधेर्यानपात्राणि प्रहाद्या गगनस्य च ।
यान्ति पारं न तु स्त्रीणां दुश्चरित्रस्य केचन ॥ २९ ॥" १०

तथा[4] च–

"न तत् क्रुद्धा हरिव्याघ्रव्यालानलनरेश्वराः ।
कुर्वन्ति यत् करोत्येका नरि नारी निरङ्कुशा ॥ ३० ॥"

अन्यच्च[6]–

"एता हसन्ति च रुदन्ति च वित्तहेतो– १५
विश्वासयन्ति च नरं[7] न च विश्वसन्ति ।
तस्मान्नरेण[8] कुलशील[9]पराक्रमेण
नार्यः श्मशानघटिका इव वर्ज्जनीयाः ॥ ३१ ॥"

§ १८. एवं तस्य कामस्य दारुणं वचनमाकर्ण्य रतिरब्रवीत्–भो नाथ, सत्यमिदमुक्तं भवता । परं किन्तु युक्तायुक्तज्ञो न [10]भवति । [11]उक्तञ्च [12]यतः– २०

"कौशेयं [13]कृमिजं सुवर्णमुपलाद्दूर्वा[14] च [15]गोलोमतः
पङ्कात्तामरसं [16]शशाङ्क उदधेरिन्दीवरं गोमयात् ।
काष्ठादग्निरहेः फणादपि मणिर्गोपित्तगो(तो)रोचना
प्राकाश्यं स्वगुणोदयेन गुणिनो गच्छन्ति किं जन्मना ॥ ३२ ॥"

तत्त्वां[17] वञ्चयित्वा कोऽन्यो भर्त्ताऽस्माकमस्ति ? तत्त्वया एतद्वक्तव्यं ममोपरि २५ वृथोक्तम् ।

तद्वचनं श्रुत्वा प्रीतिः प्रोवाच–हे सखि, यन्न वक्तव्यं तदनेनोक्तम् । तदिदानीं किं वृथाऽनेन प्रोक्तेन ? यतस्त्वयैवात्मनः सन्देहः कृतः ।

---

१ ज्ञाना० १२।१० । २ ज्ञाना० १२।२४ । ३ ज्ञाना० १२।२५ । ४ ज्ञाना० १२।२६ । ५ ज्ञाना० १२।२५ । ६ "···वेश्याः श्मशानसुमना इव······।"–मृच्छक० ४।१४ । ७ परं न–ख० । –न्ति पुरुषं न–मृच्छक० ४।१४ । ८ सदैव कु–ख० । ९ शीलवता नरेण ख० । १० भवसि क०, ख०, घ०, ङ०, च० । ११ यत उक्तञ्च ख० । १२ पञ्च० मि० भे० १०३ । १३ कृमितः घ०, च० । १४ दूर्वापि गो–ख० । १५ गोरोमतः ग० । १६ शशाङ्कमुदधे–क०, ख०, ग०, घ०, च० । १७ तत्र त्वां क० ग०, च० ।

"मूर्खैरपक्वबोधैश्च सहालापश्(पे) चतुष्फलम् ।
वाचां व्ययो मनस्तापस्ताडनं दुःप्रवादनम् ॥ २५ ॥

अन्यच्च–

"दुराग्रहग्रहग्रस्ते विद्वान् पुंसि करोति किम् ।
कृष्णपाषाणखण्डेषु मार्दवाय न तोयदः ॥ २६ ॥

तत्स्वदोषनाशाय गच्छ । उक्तञ्च[1] यतः–

"अद्यापि नोज्झति हरः किल कालकूटं
कूर्मो बिभर्त्ति धरणीं खलु पृष्ठभागे ।
अम्भोनिधिर्वहति दुःसहवाडवाग्नि–[3]
मङ्गीकृतं सुकृतिनः परिपालयन्ति ॥ ३२ ॥"[2]

तथा च–

मार्त्तण्डान्वयजन्मना क्षितिभृता[4] चाण्डालसेवा कृता
रामेणाद्भुतविक्रमेण गहनाः संसेविताः कन्दराः ।
भीमाद्यैः शशिवंशजैर्नृपवरैर्दैन्यं कृतं रङ्कवत्
स्वाऽऽभाषाप्रतिपालनाय[5] पुरुषैः किं किं न चाङ्गीकृतम् ॥ २७ ॥

एवं सखीवचनमाकर्ण्य रतिरमणी कामं प्रणम्य निर्ग्रन्थमार्गेण[6] निर्गता । तद्यथा–

यथेन्दुरेखा गगनाद्विनिर्गता
यथा हि गङ्गा हिमभेदिनीधरात्[7] ।
क्रुद्धा यथेभात्[8] करिणी विनिर्गता
रतिस्तथा सा मदनाद्विनिर्गता ॥ २८ ॥

§ १९. एवं सा रतिरमणी यावत्तेन निर्ग्रन्थमार्गेण गच्छति, तावत् कामराजस्य सचिवो मोहः सम्मुखः प्राप्तः । अथ तेन[9] मोहेन तां रतिरमणीमतिक्षीणां चिन्तापरिपूर्णां दृष्ट्वा विस्मितमनाः स मोहः प्रोवाच–हे देवि, अस्मिन् विषमे [10]मार्गे कुतो भवतीभिरागमनं कृतम् ? एवं तेन पृष्टा सती सा [11]रतिरमणी सकलवृत्तान्तमकथयत् । तच्छ्रुत्वा मोहोऽब्रवीत्–हे देवि, यदा सञ्ज्वलनेन विज्ञप्तिका प्रेषिता तदैतत्सर्वं मया ज्ञातम् । तदहं [12]तेनैव सैन्यमेलनार्थं प्रेषितः । [13]तद् यावदागमिष्यामि तावत् स न सहते । तदेतदयुक्तं कृतं तेन । ततो रतिराह–भो मोह, विषयव्याप्ता ये भवन्ति ते युक्तायुक्तं किञ्चिन्न जानन्ति ।

---

१ पद्यद्वयमिदं क०, ख०, ग०, घ०, च० पुस्तकेषु नास्ति । २ चौरप० ५० । ३ दुर्वहवा–ख०, ङ० । ४ हरिश्चन्द्रेण । ५ स्वकीयवचननिर्वाहार्थमित्यर्थः । "भाषा गिरि सरस्वत्याम्" इति विश्वः । ६ आर्यिकावेषेण । ७ हिमाचलात् । ८ इभात्करिणः । "द्विरदेभमतङ्गमाः" इति धनञ्जयः । ९ 'तेन मोहेन' इति पदद्वयमत्रासङ्गतं प्रतिभाति । १० 'मार्गे' ग० पुस्तके नास्ति । ११ स्मरर–ग० । पदमिदं ख० पुस्तके नास्ति १२ कामेन । १३ तत्र या– ग० ।

उक्तञ्च यतः–

"किमु कुवलयनेत्राः सन्ति नो नाकनार्य-
स्त्रिदशपतिरहल्यां तापसीं यत्[1] सिषेवे ।
हृदयतृणकुटीरे दीप्यमाने स्मराग्ना-
वुचितमनुचितं वा वेत्ति कः पण्डितोऽपि ॥ ३४ ॥" ५

अन्यच्च, सा सिद्ध्यङ्गना जिननाथं वञ्चयित्वाऽन्येषां नामपृच्छामपि न करोत्येवं त्वं जानासि । तत्किं परदाराभिलाषं (षः) कर्त्तुं युज्यते ? उक्तञ्च यतः–

"प्राणनाशकरा प्रोक्ता परमं वैरकारणम्[2] ।
लोकद्वयविरुद्धा च पररामा[3], ततस्त्यजेत् ॥ ३५ ॥"

तथा[4] च– १०

"भवस्य बीजं नरकस्य द्वारमार्गस्य दीपिका ।
शुचा कन्दः कलेर्मूलं पररामा, ततस्त्यजेत् ॥२९॥"

अन्यच्च[5]–

"सर्वस्वहरणं बन्धं शरीरावयवच्छिदाम् ।
मृतश्च नरकं घोरं लभते पारदारिकाः ॥ ३० ॥ १५
नपुंसकत्वं[6] तिर्यक्त्वं दौर्भाग्यञ्च भवे भवे ।
भवेन्नराणां मूढानां पररामाभिलाषतः[7] ॥ ३१ ॥
दत्तस्तेन[8] जगत्यकीर्त्तिपटहो गोत्रे मषीकूर्चक-
श्चारित्रस्य जलाञ्जलिर्गुणगणारामस्य दावानलः ।
संकेतः सकलापदा शिवपुरद्वारे कपाटो दृढः २०
कामार्त्तस्त्यजति प्रतोदकभिदा(?)स्वस्त्रीं परस्त्रीं न यः ॥३२॥"

§ २०. एवं[9] तस्या वचनमाकर्ण्य मोहमल्लस्तां [10]प्रति[स]प्रपञ्चमवोचत्–हे देवि, युक्तमिदमुक्तं भवतीभिः । परं किन्तु [11]यस्य यथा भवितव्यमस्ति तदन्यथा न भवति । उक्तञ्च[12] यतः–

"भवितव्यं यथा येन न तद्भवति चान्यथा । २५
नीयते तेन मार्गेण स्वयं वा तत्र गच्छति ॥ ३६ ॥
[13]नहि भवति यन्न भाव्यं भवति च भाव्यं विनापि यत्नेन ।
करतलगतमपि नश्यति यस्य च भवितव्यता नास्ति ॥ ३७ ॥"

१–या सि–ङ० । २–कारकाः ङ० । ३–रामास्त–ङ० । ४ तुलना–"दुःखखानिरागधेयं कलेर्मूल भयस्य च । पापबीजं शुचां कन्दः श्वभ्रभूमिर्नितम्बिनी ॥"–ज्ञाना० १२।४९ । "...दुःखानां खानिरङ्गना ॥"–यो० शा० २।८७ । ५ यो० शा० २।९७ । ६ यो० शा० २।१०३ । ७ रामाभिलाषितः च० । ८ "...शीलं येन निजं विलुप्तमखिलं त्रैलोक्यचिन्तामणिः ॥"–सूक्तिमु० ३७ । पद्यमिदं क०, ख०, ग०, घ०, च० पुस्तकेषु नास्ति । ९ एव वच–ग० । १० प्रति प्र–च० । ११ यत्तस्य य–क०, ख०, ग०, ङ० । १२सुभाषित० भा० ९१।३० । १३ पञ्च० मि० सं० १० ।

ततो रतिरुवाच–भो मोह, तदधुना किं कर्त्तव्यम् । तत्कथय । अहञ्चेत् त्वया सह भूयोऽप्यागमिष्यामि तन्मां दृष्ट्वा स कामोऽतिकोपं यास्यति । तत्त्वं गच्छ । अहं नाऽऽगमिष्यामि । मोहः प्राह–हे देवि, युक्तमेतन्न भवति । भवतीभिरवश्यमागन्तव्यम् । रतिराह–भो मोह, त्वं तत्र[1] मां नीत्वा किं तावत् प्रथमं भणिष्यसि ? स[2] मोहः प्राह[3]–

५ उत्तरादुत्तरं वाक्यं वदतां सम्प्रजायते ।
सुवृष्टिगुणसम्पन्नाद् बीजाद्बीजमिवापरम् ॥ ६६[4] ॥

एवमुक्त्वा रतिरमण्या सह कामपार्श्वे समागतो मोहः[5] ।

इति ठक्कुरमाइन्ददेवस्तुतजिन(नाग)देवविरचिते[6] स्मरपराजये संस्कृतबन्धे श्रुतावस्थानामप्रथमपरिच्छेदः ॥ १ ॥
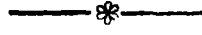
द्वितीयः परिच्छेदः
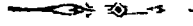
§ १. ततोऽनन्तरं रतिरमणीसहितं मोहमालोक्य लज्जया स[8] तूष्णीं तस्थौ । तदा मोहः प्रोवाच–भो देव, किमेतदुत्सुकत्वं कृतम् । यावदहमागमिष्यामि तावत्त्वं न सहसे ? अन्यच्च, किं केन कापि स्वभार्या दूतत्वं[9] प्रेषितास्ति ? अथवा तस्मिन् विषमे निर्ग्रन्थमार्गे जिननाथस्थानपालकाः ये सन्ति तैर्यदि व्यापाद्यते[10] तदाऽऽत्मनः स्त्रीहत्या भवेदिति ।

१० अन्यच्च, जगद्विख्यातं हास्यं स्यात् । तत् त्वया मया विना दुर्मन्त्रोऽयं[11] कृतः ।

अन्यच्च[12]–

गोहत्या युगमेकं स्यात् , स्त्रीहत्या च चतुर्युगे ।
यतिहत्या नु कल्पान्ते, भ्रूणहत्या न शुद्ध्यति ॥ १ ॥

उक्तश्च[13] यतः–

१५ “[14]दुर्मन्त्रान्नृपतिर्विनश्यति यतिः सङ्गात् सुतो लालनाद्
विप्रोऽनध्ययनात् कुलं कुतनयाच्छीलं खलोपासनात् ।
मैत्री चाप्रणयात् समृद्धिरनयात् स्नेहः प्रवासाश्रयात्
स्त्री मद्यादनवेक्षणादपि कृषिस्त्यागात् प्रामादाद्धनम् ॥ १ ॥”

---

१ ‘तत्र’ ख०, च० पुस्तकयोर्नास्ति । २ स आह ख० । ३ आह क०, ग०, घ०, ङ० । ४ पञ्च० मि० भे० ६४ । ५ ‘मोहः’ ख०, ङ० पुस्तकयोर्नास्ति । ६ ‘ठक्कुरमाइन्ददेवस्तुत’ च० पुस्तके नास्ति । ७–सीदंदेवस्तु–ग० । ८ स काम । ९ दूतत्त्व प्रति प्रेषितास्ति ? इत्यन्वययोजना विधेया । दूतत्वे ख० । १० अत्र ‘रतिः’ इत्यध्याहार्यम् । ११ कृतो मा विना ख० । १२ पद्यमिदं क०, ख०, ग०, घ०, च० पुस्तकेषु नास्ति । १३ पञ्च० मि० भे० १८० । सुभाषितत्रि० ।३३ । १४ दौर्मन्त्र्यात् सुभाषितत्रि० ।

अत एव सचिवेन विना स्वामिना मन्त्रो न कर्त्तव्यः ।

एवं तस्य मोहस्य वचनमाकर्ण्य कामोऽब्रवीत्–भो मोह, किमनेन भूरिप्रोक्तेन ? यत्कार्यार्थं प्रेषितस्त्वं तत्त्वया कीदृशं कृतम् ? तत्कथय । मोहः प्राह–देव, यत्कार्यार्थं त्वया प्रेषितोऽहं तन्मया सकलसैन्यमेलनमेवंविधं कृतं यथा सा सिद्धयङ्गना तवैव भार्या भवति । अन्यच्च, स जिनराजस्तव सेवां यथा करोति तथोपायो मया रचितः । एतद्वचनमाकर्ण्य स्मरोऽवोचत्–मोह, सत्यमिदमुक्तं भवता । तदेवं कर्त्तुं त्वया शक्यते । मोह आह–देवं, अहमिति स्तुतियोग्यो न भवामि । यन्मया स्वामिकार्यं क्रियते स स्वामिनः प्रभावः । यत उक्तञ्च–

"[1]शाखामृगस्य शाखायाः शाखाग्रं नु पराक्रमः ।
यत् पुनस्तीर्यतेऽम्भोधिः प्रभावः प्राभवो हि सः ॥ २ ॥"

अन्यच्च–

"[2]यद्रेणुर्विकलीकरोति तरणिं तन्मारुतस्फूर्जितं
भेकश्चुम्बति यद्भुजङ्गवदनं तन्मन्त्रिणः स्फूर्जितम् ।
चैत्रे कूजति कोकिलः कलतरं तत् सा रसालद्रुम-
स्फूर्तिर्जल्पति मादृशः किमपि तन्माहात्म्यमेतद् गुरोः ॥ ३ ॥"

[3]अथवा धीमतां किमसाध्यमस्ति ? उक्तञ्च यतः–

"सर्पान् व्याघ्रान् गजान् सिंहान् दृष्ट्वोपायैर्वशीकृतान् ।
[4]जिनेति क्रियती मात्रा धीमतामप्रमादिनाम् ॥ ४ ॥"

तथा च–

"वरं बुद्धिर्न सा विद्या, विद्[5]याया धीर्गरीयसी ।
बुद्धिहीना विनश्यन्ति यथा ते सिंहकारकाः ॥ ५ ॥"

एतद्वचनं श्रुत्वा कामः प्राह–भो मोह, कथमेतत् ? स मोहोऽब्रवीत्–

§ २. अथाऽस्ति कस्मिंश्चित् प्रदेशे [7]पौण्ड्रवर्द्धनं नाम नगरम् । तत्र च शिल्पि(ल्प)-कारक-चित्रकारक-वणिक्सुत-मन्त्रसिद्धाश्चेति चत्वारि मित्राणि स्वशास्त्रपारङ्गता[8]नि सन्ध्यासमये एकत्रोपविश्य परस्परं सुखगोष्ठीं कुर्वन्ति स्म । एवं तेषां चतुर्णां मित्रत्व-वर्तमानानां कतिपयैर्दिवसैः शिल्पि(ल्प)कारेण सन्ध्यासमये तान्नीनाहूय एकत्रोपविश्य वचनमेतदभिहितम्–अहो, यदहं भणिष्यामि तद्यूयं करिष्य[9]थ ? तदा तच्छ्रुत्वा ते [10]त्रयः प्रोचुः–भो मित्र, तव वचनं कस्मान्न कुर्मो वयम् ?

---

१ अतः परं 'यद्रेणुः' इत्यादिपर्यन्तः पाठः क०, ग०, घ०, च० पुस्तकेषु नास्ति । २ सुभाषित० भा० ११६।५८६ । ३ 'अथवा' च० पुस्तके नास्ति । ४ "···राजेति कियती···॥"–पञ्च० मि० भे० ४१ । ५ "···विद्याया बुद्धिरुत्तमा···॥"–पञ्च० अप० ३६ । ६ विद्याबुद्धिर्ग–च० । ७ पाण्डु क० । पौण्ड ख०, ङ० । ८ पारङ्गतानि तिष्ठन्ति । एकदा सन्ध्या–ङ०, ग०, घ०, ङ०, च० । ९ करिष्यध्वम् क०, ग०, घ०, च० । १० ते प्रोचुः ख०, ग०, ङ० ।

उक्तञ्च यतः–

"मित्राणां हितकामानां यो वाक्यं नाभिनन्दति ।
तस्य नाशो(शं)विजानीयात् यद्भविष्यो यथा मृतः ॥ ६ ॥"

अथ शिल्पि(ल्प)कारोऽवोचत्–कथमेतत् ? ते प्रोचुः–

५　§ ३. अथास्ति कस्मिंश्चित् स्थाने पद्मिनीखण्डमण्डितो जलाशयः। तत्र ह्रदे महास्थूलास्त्रयो मत्स्याः सन्ति । किंनामधेयास्ते ? अनागतविधाता प्रत्युत्पन्नमतिर्यद्भविष्यश्चेति वसन्ति स्म । एवं तत्र जलाशये कतिपयैर्दिवसैर्मीनलुब्धकाः परिभ्रमन्तश्चागताः । अथ तैस्तं जलाशयं दृष्ट्वैतदभिहितम्–अहो, अस्मिन् जलाशये बहवो मत्स्याः सन्ति । तत्प्रातरागत्याऽत्र जालं प्रक्षिप्य नेतव्या एते । एवमुक्त्वा ते सर्वेऽपि मीनलुब्धकाः स्वस्थानं १० प्रति निर्जग्मुः । अथ तेषां कुलिशपातमिव वचनमाकर्ण्य अनागतविधाता तावाहूय वचनमेतदुक्तवान्–अहो, भवन्तौ कतिपयदिवसपर्यन्तमात्मनो जीवितमिच्छतः ? तच्छ्रुत्वा प्रत्युत्पन्नमतिरवादीत्–भो मित्र, किं त्वमेवं ब्रूषे ? स आह–अहो मित्र, अद्य मीनघातकैरत्रागत्य जलाशयं दृष्ट्वा एतदेवाभिहितम्–'अहो प्रभूतमत्स्योऽयं जलाशयोऽस्ति । तत्प्रभातेऽस्मिन्नागन्तव्यम् ।' एवमुक्त्वा ते [7]निर्गतवन्तः । तदवश्यं प्रभाते धीवरा अत्रागत्य १५ अस्मान्नेष्यन्ति । तच्छीघ्रमन्यत्र गन्तव्यम् । उक्तञ्च यतः–

"त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत् ।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥ ७ ॥"

तदाकर्ण्य सः प्रत्युत्पन्नमतिराह–भो मित्र, एवं भवतु । एवं द्वयोर्वचनं श्रुत्वा यद्भविष्यो विहस्य प्रोवाच–अहो, भवन्तौ परस्परं किं मन्त्रयतः ? मरणं खलु यद्यस्ति २० तदन्यत्रापि गते सति किन्न भविष्यति ? उक्तञ्च यतः–

"अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति ।
जीवत्यनाथोऽपि वने [10]विसर्जितः कृतप्रयत्नोऽपि गृहे न[11] जीवति ॥ ८ ॥
[12]नहि भवति यन्न भाव्यं भवति च भाव्यं विनापि यत्नेन ।
करतलगतमपि नश्यति यस्य च भवितव्यता नास्ति ॥ ९ ॥"

२५　अन्यच्च–

"यथा धेनुसहस्रेषु वत्सो विन्दति मातरम् ।
तथा [13]पूर्वकृतं कर्म कर्त्तारमनुगच्छति ॥ १० ॥"

---

१ तुलना–"सुहृदा हितकामाना न करोतीह यो वचः । स कूर्म इव दुर्बुद्धिः काष्ठाद्भ्रष्टो विनश्यति ॥"–पञ्च० मि० भे० ३४४ । तथा–"अनागविधाता च प्रत्युत्पन्नमतिस्तथा । द्वावेतौ सुखमेधेते यद्भविष्यो विनश्यति ॥" –पञ्च० मि० भे० ३४७ । २ तुलनीया कथेयं पञ्चतन्त्रमित्रभेदीयचतुर्दशकथया सह । ३ कुलिशपातमिव वज्रपातमिव दारुणमित्यर्थः । ४ तानाहू–च० । ५ भवन्तो च० । ६ जीवितुमि–क०, ख०, ग०, घ०, च० । ७ निर्गताः च० । ८ पञ्च० मि० भे० ३८६ । ९ "······गृहे विनश्यति ॥"–पञ्च० अप० ४२ । पञ्च० मि० भे० ३५२ । १० विसर्जति च० । ११ विनश्यति च० । १२ पञ्च० मि० सं० १०, १२१ । १३ "···तथा पुराकृतं कर्म···॥"–पञ्च० मि० सं० १२२ ।

तदन्यत्रापि गते सति यद्भाव्यं तदवश्यं[1] भविष्यति। अन्यच्च, धीवराणां वचनमात्रश्रवणात् पितृपैतृ[2]कोपार्जितं (तो) जलाशयं (यः) त्यक्तुं किं युज्यते[3]? तदहं[4] नाऽऽगच्छामि। एवं तस्य यद्भविष्यस्य वचनं श्रुत्वा तावूचतुः—भो यद्भविष्य, यदि त्वं नाऽऽगच्छसि, तदाऽऽवयोः कोऽपि दोषो नास्ति। एवमुक्त्वा तावन्यजलाशयमाटतुः। ततोऽनन्तरं मीनघातकाः प्रभाते तत्रागत्य जालं प्रक्षिप्य यद्भविष्येन सहाऽन्यानपि जलचरानिन्युः। अतो वयं ब्रूमः—"मित्राणां हितकामानाम्" इत्यादि।

§ ४. एवं तेषां त्रयाणां वचनं श्रुत्वा शिल्पि(ल्प)कारोऽब्रवीत्—अहो, यद्येवं तद्देशान्तरं गत्वा किञ्चिद् द्रव्योपार्जनं क्रियते (येत)। कतिपयदिवसपर्यन्तं स्वदेशे स्थातव्यम्। उक्तञ्च[5]—

"परदेशभयो[6]द्भीता बह्वालस्याः प्रमादिनः।
स्वदेशे निधनं यान्ति काकाः कापुरुषाः मृगाः॥ ११॥"

तथा च[7]—

"कोऽतिभारः समर्थानां किं दूरं व्यवसायिनाम्।
को विदेशः सु[8]विद्यानां कः परः प्रियवादिनाम्॥ १२॥"

अन्यच्च[9]—

"न चैतद् विद्यते किञ्चिद्यदर्थेन न सिद्ध्यति।
यत्नेन मतिमांस्तस्मादर्थमेकं प्रसाधयेत्॥ १३॥
[10]यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः
स पण्डितः स श्रुतवान् गुणज्ञः।
स एव वक्ता स च दर्शनीयः
सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति"[11]॥ १४॥
"[12]यस्यार्थास्तस्य[13] मित्राणि, यस्यार्थास्तस्य बान्धवाः।
यस्यार्थाः स पुमाँल्लोके, यस्यार्थाः स च जीवति॥ १५॥
इह[14] लोकेऽपि धनिनां परोऽपि स्वजनायते।
स्वजनोऽपि दरिद्राणां तत्क्षणाद् दुर्जनायते॥ १६॥"

तथा च[15]—

"पूज्यते यदपूज्योऽपि यदगम्योऽपि गम्यते।
वन्द्यते यदवन्द्योऽपि तत्(स)प्रभावो धनस्य च॥ १७॥

---

१ 'अवश्यं' ख०, ग० पुस्तकयोर्नास्ति। २ पौत्रोपा—क०, ग०, घ०, च०। ३ न युज्यते ख०। ४ अत्र 'एव' इत्यध्याहारो विधेयः। ५ "···बहुमाया नपुंसकाः···।"—पञ्च० मि० भे० ३५०। ६ भयाद्भीता ख०। ७ पञ्च० मि० सं० १२७। ८ सविद्याना ख०, घ०, च०। ९ "न हि तद्विद्यते······॥"—पञ्च० मि० भे० २। १० सुभाषितत्रि० १।३२। ११ पद्यमिदं क०, ख०, ग०, घ०, च० पुस्तकेषु नास्ति। १२ पञ्च० मि० भे० ३। १३ यस्यार्थस्त—क०। १४ "·····सर्वदा दुर्जनायते॥"—पञ्च० मि० भे० ५। १५ पञ्च० मि० भे० ७।

> अर्थेभ्यो हि वृद्धेभ्यः संवृत्तेभ्यो यतस्ततः।
> प्रवर्त्तन्ते क्रियाः सर्वाः पर्वतेभ्य इवापगाः ॥ १८ ॥[1]
> अशनं चेन्द्रियाणां(नादिन्द्रियाणीव)स्युः कार्याण्यखिलान्यपि।
> एतस्मात् कारणाद्वित्तं सर्वसाधनमुच्यते ॥ १९ ॥"[2]

एवं तस्य वचनमाकर्ण्य ते प्रोचुः–भो मित्र, एवं भवति युक्तम्। एवं पर्यालोच्य चत्वारो देशान्तरं निर्जग्मुः।

§ ५. अथ ते चत्वारो यावद् गच्छन्ति तावदपराह्नमध्ये भयङ्करमरण्यमेकं प्रापुः। अथ तस्मिन्नरण्यमध्ये शिल्पि(ल्प)कारेण तान् प्रति वचनमेतदभिहितम्–अहो, एवंविधं भयङ्करं स्थानं रात्रिसमये वयं प्राप्ताः। तदेकैको यामो जागरणीयः। अन्यथा चौर-व्याघ्रादिभयात् किञ्चिद्विघ्नं[3] भविष्यति। अथ ते प्रोचुः–भो मित्र, युक्तमित्युक्तं भवता। तदवश्यं जागरिष्यामः। एवमुक्त्वा त्रयस्ते सुप्ताः।

ततोऽनन्तरं शिल्पि(ल्प)कारो यावत् प्रथमं निजयामं जागर्ति तावत् तस्य निद्राऽऽगन्तुं लग्ना। ततोऽनन्तरं स निद्राभञ्जनार्थं काष्ठमेकमानीय कण्ठीरवरूपं महाभासुराकारं सर्वावयवसंयुतं चकार। तदनु चित्रकारान्तिकमाययौ शिल्पि(ल्प)कारः। ततोऽब्रवीत्–भो मित्र, निजयामजागरणार्थमुत्तिष्ठोत्तिष्ठ। एवमुक्त्वा शिल्पि(ल्प)कारः सुप्तः।

अथ चित्रकार उत्थितः सन् यावत् पश्यति तावदग्रे दारुमयं कण्ठीरवरूपं महारौद्रं घटितं ददर्श। ततोऽवदत्–अहो, अनेनोपायेनानेन शिल्पि(ल्प)कारेण निद्राभञ्जनं कृतम्। तदहमपि किञ्चित् करिष्यामि। एवं भणित्वा हरितपीतलोहितकृष्णप्रभृतीन् वर्णान्[4] दृषद्युपरि[5] उद्घृष्य दारुमयं कण्ठीरवरूपं[6] विचित्रितवान्[7]। ततोऽनन्तरं चित्रकारो मन्त्रसिद्धि(द्ध) संकाशमियाय[8]। प्रोवाच–भो मित्र, उत्तिष्ठोत्तिष्ठ शीघ्रम्। एवमुक्त्वा चित्रकारः सुप्तवान्।

अथ मन्त्रसिद्धो यावदुत्तिष्ठति तावत् सम्मुखं कण्ठीरवरूपं दारुमयं महारौद्रं सर्वावयवसम्पन्नं[9] जीवनमिव(वदिव)[10] विलोक्यातिभीतः[11]। ततः प्रोवाच–अहो, इदानीं किं कर्त्तव्यम्? सर्वेषामद्य मरणमवश्यमागतम्। एवमुक्त्वा मन्दं मन्दं गत्वा मित्राणि[12] प्रत्याह–अहो, उत्तिष्ठत, उत्तिष्ठत।[13] अस्या अटव्या मध्ये[14] श्वापदमेकमागतमस्ति (श्वापद एक आगतोऽस्ति) एवं तस्य कोलाहलमाकर्ण्य त्रयस्त उत्थिताः। ततस्ते प्रोचुः–भो मित्र, किमेवं व्याकुलयसि? अथासौ जजल्प–अहो, पश्यताहो पश्यत। एत (अयं)च्छ्वापदं(दः)मया

---

१ पञ्च० मि० भे० ६। २ पञ्च० मि० भे० ८। ३ विघ्नमनिष्टमित्यर्थः। ४ 'वर्णान्'इत्यारभ्य 'विचित्रितवान्' इति पर्यन्तः पाठः ङ० पुस्तके नास्ति। ५ पाषाणोपरि। ६ सिंहप्रतिमामित्यर्थः। ७ विविधवर्णानुरञ्जितां चकार। ८ सङ्काशमि– ङ०। ९ वाक्यमिदं ख० पुस्तके नास्ति। १० जीवमानं ख०, ङ०। ११ विलोक्येति भी–ग०, घ०, ङ०, च०। १२ प्रति प्राह क०, ग०, ङ०। मित्रान् प्रत्याह ख०। १३ अस्यामटव्या म– क०, ग०, घ०, ङ०, च०। १४ श्वापदशब्दस्य नपुंसकत्वं चिन्त्यमत्र।

मन्त्रेण कीलितम(तोऽ)स्ति । ततः सम्मुखं नायाति । तदाकर्ण्य ते विहस्य प्रोचुः—भो मित्र, दारुमयं श्वापदमेनं किं न जानासि ? तदस्मिन् दारुमये पञ्चाननरूपे निजविद्या प्रभाव आवाभ्यां दर्शितः । तच्छ्रुत्वा मन्त्रसिद्धस्तद्दारुमयं सिंह (मयसिंह) समीपं गत्वा यावत् पश्यति तावदति[2] ललज्जे ।

ततः स मन्त्रसिद्ध आह—अहो, प्रसङ्गेनानेन युवाभ्यामस्मिन् दारुमये पञ्चाननरूपे निजविद्याकौशल्यं दर्शितम् । तदधुना मम विद्याकौतूहलं पश्यत । यदि जीव(न्य)मानमेनम करोमि तदहं मन्त्रसिद्धो न भवामि ।

एवं मन्त्रसिद्धवचनमाकर्ण्य बुद्धिमता वणिक्पुत्रेणैवं मनसि चिन्तितम्—अहो, यदि कथमपि जीव(न्य)मानमिमं[3] करिष्यति तदहं दूरस्थितो भूत्वा सर्वमेतत् पश्यामि । यतो मणिमन्त्रौषधीनामचिन्त्यो हि प्रभावः । एवं चिन्तयित्वा यावद्गच्छति तावत् तावूचतुः—भो मित्र, कुतस्त्वं गच्छसि ? ततो वणिक् प्राह—अहो, मूत्रोत्सर्गं कृत्वाऽऽगमिष्यामि । एवमुक्त्वा यावद् गच्छति तावत् स वणिक्पुत्रो वृक्षमेकं सम्मुखमद्राक्षीत् । कथंभूतम् ?

छाया[4]सुप्तमृगः शकुन्तनिवहैरालीढ[5]नीलच्छदः
कीटैरावृतकोटरः कपिकुलैः स्कन्धे कृतप्रश्रयः ।
विश्रब्धो[6] मधुपैर्निपीतकुसुमैः श्लाघ्यः स एव द्रुमः
सर्वाङ्गैर्बहुसत्त्वसङ्गसुखदो भूभारभूतोऽपरः ॥ २ ॥

एवंविधं वृक्षमारुह्य तत् सर्वमपश्यत् ।

ततोऽनन्तरं मन्त्रसिद्धो ध्यानसिद्धो भूत्वा मन्त्रस्मरणं कृत्वा तस्मिन् दारुमये[7] जीवकलां[8] चिक्षेप । अथाऽसौ जीव(न्य)मानो भूत्वा कृतघनघोरघर्घराट्टहास उच्चलितचपेटः खदिराङ्गारोपनेत्र उच्छलितललितपुच्छच्छटाटोपोऽतिभयङ्करस्त्रयाणामभिमुखो भूत्वा यथासङ्ख्यं निपातिताः[9] (तितवान्) । अतोऽहं ब्रवीमि—"वरं बुद्धिर्न" इत्यादि ।

§ ६. तदाकर्ण्य काम आह—भो मोह, सत्यमिदमुक्तं भवता । बुद्ध्या विना किञ्चिन्न भवति । परमेतत् पृच्छामि यत्त्वया सैन्यमेलनं कृतं तदिहानीतमस्ति नो वा ? ततो मोहः प्राह—हे देव, मया सैन्यसमूहं कृत्वा परिवारं प्रत्येतदभिहितम्—अरे, यावदहं स्वाम्यादेशं गृहीत्वाऽऽगमिष्यामि, तावद्भवद्भिरत्रैव स्थातव्यम् । एवमुक्त्वा तव पार्श्वे समागतोऽहम् । तदिदानीं तवादेशः प्रमाणम् ।

एतद्वचनं श्रुत्वा परमं सन्तोषं गत्वा मदनस्तं[10] मोहमालिङ्ग्य[11] प्रोवाच—मोह, त्वमे-

---

१ आवाभ्या शिल्पकारचित्रकाराभ्याम् । २ अतिलज्जो क०, ग०, घ०, ङ, च० । ३ सिंहम् । ४ पञ्च० मि० सं० ? । ५ विष्वग्विलुप्तच्छदः पञ्च० । ६ विश्रब्धं ङ० । ७ दारुमये कण्ठीरवरूपे । ८ जीवनम् । ९ तांस्त्रीनपि निपातितवानित्यर्थः । १० तमालिङ्ग्य ख०, ङ । ११–य ततः प्रो–क०, ग०, घ०, च० ।

वास्मकं सचिवः। सर्वमेतद्राज्यं त्वया रक्षणीयम्। तत् किमेतन्मां पृच्छसि ? यत्ते प्रतिभासते तदवश्यं कर्त्तव्यं त्वया। उक्तंश्च यतः-

"मन्त्रिणां भिन्नसन्धाने भिषजां सन्निपातके[2]।
कर्मणि युज्यते प्रज्ञा स्वस्थे वा[3] को न पण्डितः॥ २०॥"[1]

५ तच्छ्रुत्वा मोहोऽवोचत् देव[4], यद्येवं तदादौ यावत् सैन्यमागच्छति तावद्[5]दूतः प्रस्थाप्यते। उक्तञ्च[6]-

"पुरा दूतः प्र[7]कर्त्तव्यः, पश्चाद् युद्धं प्र[8]कारयेत्।
तस्माद् दूतं प्रशंसन्ति नीतिशास्त्रविचक्षणाः॥ २१॥
दू[9]तेन सबलं सैन्यं निर्बलं ज्ञायते ध्रुवम्।
१० सैन्यसंख्या च दूतेन दूतात् परबलं प्रभोः॥ २२॥"

§ ७. अथ कामः प्राह-हे मोह, युक्तमेतत् त्वयोक्तम्। युक्तो दूतः प्रक्रियते(येत)। स आह-देव, रागद्वेषाविमावाहूय दूतत्वं दीयते। कामः प्राह-हे मोह, रागद्वेषौ दूतत्वे कुशलौ भवतः [10]किम्? स मोह आह-देव, इमौ वञ्चयित्वा कावन्यौ दूतवरौ तिष्ठतः? [11]उक्तञ्च-

१५ "एतावनादिसम्भूतौ रागद्वेषौ महाग्रहौ।
अनन्तदुःखसन्तानप्रसूतेः प्र[12]थमाङ्कुरौ॥ २३॥"

तथा च[13]-

"स्वतत्त्वानुगतं चेतः करोति यदि संयमी।
रागादयस्तथाप्येते क्षिपन्ति भ्रमसागरे॥ २४॥"

२० तथा च[14]-

"अयत्नेनापि जायेते चित्तभूमौ शरीरिणाम्।
रागद्वेषाविमौ वीरौ ज्ञानराज्याङ्गघातकौ॥ २५॥
[15]क्वचिन्मूढं क्वचिद्भ्रान्तं क्वचिद्भीतं क्वचिद्रतम्।
शङ्कितञ्च क्वचित् क्लिष्टं रागाद्यैः क्रियते मनः॥ २६॥"

२५ एवं रागद्वेषयोः पौरुषमाकर्ण्य तौ द्वावाहूय निजाङ्गवसनाभरणदानेन प्रभूतसम्मानौ कृत्वा वचनमेतदभिहितं मकरध्वजेन-अहो, [16]युवयोर्दूतत्वं किञ्चिदस्ति; तत् कर्त्तव्यम्।

---

१ पञ्च० मि० भे० ४१२। २ सन्निपातके विषमरोगे। ३ को वा न-ख०, छ०। ४ देव देव य-ग०, घ०। ५ दूत प्र-ध० क०। ६ तुलना-"शतमेकोऽपि स यत्त प्राकारस्थो धनुर्धरः। तस्माद् दुर्गं प्रशंसन्ति नीतिशास्त्रविचक्षणाः॥"-पञ्च० मि० भे० २५२। ७ प्रकर्त्तव्यं प-क०, ग०, घ०। प्रहेतव्यः ख०। ८ प्रकुर्वते घ०, च०। प्रकाशयेत् ग०। ९ पद्यमिदं क०, ख०, ग०, घ०, च० पुस्तकेषु नास्ति। १० 'किम्' ख०, छ० पुस्तकयोर्नास्ति। ११ ज्ञाना० २३।२१। १२-माङ्कुरे क०, ग०, च०। १३ ज्ञाना० २३।३। १४ "......जायन्ते......रागादयः स्वभावोत्थज्ञानराज्याङ्गघातकाः॥"-ज्ञाना० ३।५। १५ ज्ञाना० २३।७। १६ युवयोरवश्यं करणीयं किञ्चिद् दूतत्वमस्तीति तात्पर्यम्।

अथ तौ रागद्वेषावूचतुः–करिष्यावोऽवश्यम्। देव[1]: कथयतु। ततः[2] स[3] काम आचष्टे–अहो, तद्युवाभ्यां चरित्रपुरं गत्वा जिनेश्वरं प्रत्येवं वक्तव्यम्–भो जिन, यदि त्वं सिद्धयङ्गनापरिणयनं करोषि तत्ते त्रैलोक्यमल्लस्याज्ञाऽस्ति। अन्यच्च यदस्माकं[4] त्रिभुवनसारं रत्नत्रयं न ददासि तत्प्रभाते सकलसैन्यसमन्वितो रतिनाथः समागमिष्यति। एवमुक्त्वा तौ प्रस्थापयामास। ५

§ ८. अथ तौ तेन विषममार्गेण गच्छन्तौ यावज्जिननाथस्थानं सम्प्राप्तौ तावदतिक्षीणौ बभूवतुः। ततस्तौ[5] द्वारस्थितौ दृष्ट्वा सञ्ज्वलनोऽप्राक्षीत्–अहो किमर्थं जिनपार्श्वे युवाभ्यामागमनं कृतम्? अथ तावूचतुः–

भो सञ्ज्वलन, स्वाम्यादेशात् दूतत्वार्थमावाभ्यामत्रागमनं कृतम्। ततः सञ्ज्वलनो बभाषे–अहो भवत्वेवं परं किन्तु (परन्तु) युवाभ्यां वीरवृत्तिं त्यक्त्वा किमेतद् दूतत्वं कृतम्? १० अथ तावूचतुः–हे सञ्ज्वलन, त्वं किञ्चिन्न वेत्सि। स्वाम्यादेशः सेवकेन कृत्योऽथवाऽकृत्यः परन्तु कर्तव्यः, यतोऽन्यथा राजप्रियो न भवति[6]।

उक्तञ्च[7]–

"यो रणं शरणं यद्वन्मन्यते भयवर्जितः।
प्रवासं स्वर्पुरावासं[8] स भवेद्राजवल्लभः॥ २७॥ १५
न[9] पीड्यते यः क्षुधया निद्रया यो न पीड्यते।
न च शीतातपाद्यैश्च स भवेद्राजवल्लभः॥ २८॥
न[10] गर्वं कुरुते माने नापमाने च रुष्यति[11]।
स्वाकारं रक्षयेद्यस्तु स भवेद्राजवल्लभः॥ २९॥
ताडितोऽपि दुरुक्तोऽपि दण्डितोऽपि महीभुजा। २०
यो न चिन्तयते पापं स[12] भवेद्राजवल्लभः॥ ३०॥
[13]नाहूतोऽपि [14]समभ्येति द्वारे तिष्ठति यः सदा।
पृष्टः सत्यं मितं[15] ब्रूते स भवेद्राजवल्लभः॥ ३१॥
[16]युद्धकालेऽग्रगः सद्यः सदा पृष्ठानुगः पुरे।
प्रभुद्वाराश्रितो हर्म्ये स भवेद्राजवल्लभः॥ ३२॥ २५

---

१ देव ख०, च०। २ 'ततः' ख०, ग०, घ०, ङ, च० पुस्तकेषु नास्ति। ३ स आचष्टे ख०, ङ। ४ यद्यस्माकं घ० च०। ५ 'ततः' आरभ्य 'तावूचतुः' इत्यन्तः पाठः च० पुस्तके नास्ति। ६ अत्र 'सेवकः' इत्यध्याहार्यम्। ७ पञ्च० मि० भे० ६२। ८ श्वसुरावासं ग०। ९ "न क्षुधा पीड्यते यस्तु निद्रया न कदाचन। ······स भृत्योऽर्हो महीभुजाम्।"–पञ्च० मि० भे० ९९। १० "······स भृत्योऽर्हो महीभुजाम्॥"–पञ्च० मि० भे० ९८। ११ कुप्यति क०, ग०, घ०, ङ०, च०। तप्यते–पञ्च०। १२ "······स भृत्योऽर्हो महीभुजाम्॥"–पञ्च० मि० भे० ९७। १३ "योऽनाहूतः···स भृत्योऽर्हो महीभुजाम्॥"–पञ्च० मि० भे० ९५। १४ स्वमभ्येति क०, ख०, घ, ङ०, च०। १५ मिदं क०, ख०, ग०, ङ०, च०। १६ पञ्च० मि० भे० ५८।

प्रभु[1]प्रसादजं वित्तं सुपात्रे यो नियोजयेत् ।
वस्त्राद्यञ्च दद्यात्यङ्गे स भवेद्राजवल्लभः ॥ ३३ ॥"

अन्यच्च, भो सञ्ज्वलन, सेवाधर्मोऽयं महादुःसहो भवति । उक्तञ्च[2] यतः—

"सेवया धनमिच्छद्भिः सेवकैः पश्य यत् कृतम् ।
स्वातन्त्र्यं यच्छरीरस्य मूढैस्तदपि हारितम् ॥ ३४ ॥"

तथा च—

"जीवन्तोऽपि मृताः पञ्च श्रूयन्ते[3]हुरेवं विचक्षणाः ।
दरिद्री व्याधितो[4] मूर्खः प्रवासी नित्यसेवकः ॥ ३५ ॥"

अन्यच्च—

"वरं वनं वरं भैक्ष्यं वरं भारोपजीवितम् ।
पुंसां[5] विवेकतत्त्वानां सेवया न च सम्पदः[6] ॥ ३६ ॥"

तथा च—

"वरं[7] वनं सिंह[8]गजेन्द्र[9]सेवितं
[10]द्रुमालयं पक्कफलाम्बुभोजनम् ।
तृणेषु[11] शय्या [12]वरजीर्णवल्कलं
न सेवके राज्यपदादिकं[13] सुखम्[14] ॥ ३७ ॥"

तथा[15] च—

"प्रणमत्युन्नतिहेतोर्जीवितहेतोर्विमुञ्चति प्राणान् ।
दुःखीयति सुखहेतोः को मूर्खः[16] सेवकादपरः ॥ ३८ ॥"

अन्यच्च[17]—

"भावैः स्निग्धैरुपकृतमपि द्वेषितामेति कश्चित्
साध्यादन्यैरपकृतमपि प्रीतिमेवोपयाति ।
दुर्ग्राह्यत्वान्नृपतिवचसां नैकभावाश्रयाणां
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः ॥ ३९ ॥"

---

१ "···सुप्राप्तं यो निवेदयेत् ।"—पञ्च० मि० भे० ५५ । २ पञ्च० मि० भे० २८७ । ३ "······श्रूयन्ते किल भारते ।"—पञ्च० मि० भे० २८९ । ४ बाधितो ग० । ५ "वरं व्याधिर्मनुष्याणां नाधिकारेण सम्पदः ॥"—पञ्च० मि० भे० ३०३ । ६ सम्पदाः क० । ७ पञ्च० अप० २५ । पद्यमिदं च० पुस्तके नास्ति । ८ व्याघ्र—ख० । ९ गजेन से—ग० । १० द्रुमालये प—क०, ख०, ग०, घ० । ११ तुलानि श—हितो०, पञ्च० । १२ परिधानवल्कलम्—हितो०, पञ्च० । १३ पदाङ्कितं सु—ग० । १४ "बन्धुमध्ये धनहीनजीवनम् ।"—हितो०, पञ्च० । १५ हितो० सुहृद्भे० २३ । १६ मूढः से—ख० । १७ "······प्रीतये चोपयाति ।······नृपतिमनसां··· ॥"—पञ्च० मि० भे० ३०८ ।

तथा च–

"मौनान्मूकः प्रवचनपटुर्वातुलो[2] जल्पको वा,
धृष्टः पार्श्वे भवति च[3] तथा दूरतश्च[4] प्रमादी।
क्षान्त्या भीरुर्यदि न सहते प्रायशो नाभिजातः,
सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः[5] ॥ ४० ॥" ५

§ ९. एवं तदाकर्ण्य सञ्ज्वलनोऽब्रवीत्–अहो, युक्तमेतदुक्तं भवद्भ्याम्। सेवाधर्म[6] एवंविधो भवति। एवं तदिदानीं किं प्रयोजनम्[7]? तत् कथ्यताम्[8]। "अतस्तौ[9] रागद्वेषावूचतुः–भो सञ्ज्वलन, जिनेन सह दर्शनं यथा भवति तथा त्वं कुरु। एवं श्रुत्वा सञ्ज्वलनः सचिन्तो भूत्वाऽब्रवीत्–अहो, करिष्याम्येवम्। परन्तु युवयोर्जिनदर्शनं शुभतरं न भविष्यत्येवं मे प्रतिभासते। यतोऽयं जिनराजो मदननामाऽपि न सहते। तद्युवां दृष्ट्वा किञ्चिद्विघ्नं करिष्यति। तन्महाननर्थो भविष्यति। एवं तदाकर्ण्य तौ[12] रागद्वेषौ[13] कोपं गत्वा प्रोचतुः–भो सञ्ज्वलन, साधु साधु त्वमस्माकं सुहृत्, तत् त्वञ्च यद्येवं वदसि तद्विज्ञाप्यं केन कर्त्तव्यम्? तदभ्यागतेभ्यो वक्तुमेवं युज्यते? उक्तञ्च– १०

"एह्यागच्छ समाश्रयाऽऽसनमिदं कस्माच्चिराद् दृश्यसे,
का वार्ता त्वतिदुर्बलोऽसि कुशली प्रीतोऽस्मि ते दर्शनात् ॥ १५
[15]एवं नीचजनेऽपि कर्त्तुमुचितं प्राप्ते गृहे[16] सर्वदा,
धर्मोऽयं गृहमेधिनां निगदितः प्राज्ञैर्लघुः शर्मदः ॥ ४१ ॥
दृष्टिं[17] दद्यान्मनो दद्याद्वाचं दद्यात्पुनः पुनः।
उत्थाय चासनं दद्यादेष धर्मः सनातनः ॥ ४२ ॥"

तथा च– २०

"ते धन्यास्ते विवेकज्ञास्ते[18] प्रशंस्या हि भूतले।
आगच्छन्ति गृहे येषां कार्यार्थे[20] सुहृदो जनाः ॥ ४३ ॥"

एतदाकर्ण्य सञ्ज्वलनोऽवोचत्–अहो, युष्मद्धितार्थमेतन्मयोक्तम्। तद्युवयोर्द्वेषार्थ[21]मवगमितम्। तदहं स्वामिनं [22]पृष्ट्वाऽऽगमिष्यामि। [23]उक्तञ्च यतः—

---

१ "धृष्टः पार्श्वे भवति च वसन्दूरतोऽप्यप्रगल्भः"–सुभाषितत्रि० १।४७। २ वाचको व–सुभाषितत्रि०। ३ भवति सततं दू–क०, ग०, ङ०। भ्रमति च सदा दू–ख०। ४ दूरतोऽपि प्र–ख०। दूरतश्चाप्रगल्भः क०, ग०, ङ०। ५ अत्र द्वितीयतृतीयपादयोः क०, ग०, ङ० पुस्तकेषु पूर्वापरीकारो दृश्यते। ६ सेवाविधिरेवं–च०। ७ वाक्यमिदं ग० पुस्तके नास्ति। ८ प्रयोजनीयम् च०। ९ 'तत् कथ्यताम्' च० पुस्तके नास्ति। १० कथनीयम् क०, ग०, घ०। ११ तावूचतुः ख, ङ०। १२ तं रा–च०। १३ 'तौ रागद्वेषौ' इति ख० पुस्तके नास्ति। १४–सि च भवान् प्री–क०, ग०, घ०, च०। १५ "......एवं ये समुपागतान्प्रणयिनः प्रह्लादयन्त्यादरात् तेषां युक्तमशङ्कितेन मनसा हर्म्याणि गन्तुं सदा॥"–पञ्च० मि० सं० ६७। १६ गृहे स–च०। १७ पद्यमिदं क०, ख०, ग०, घ०, च० पुस्तकेषु नास्ति। १८ "......सभ्या इह भूतले।"–पञ्च० मि० भे० २८५। १९ प्रशस्यास्ति भू–च०। २० कार्यार्थं सु–ख०। २१ स्वार्थे णिजन्ताद्गम्लृधातोः क्तप्रत्यये प्रयोगोऽयम्। अवगतमित्यर्थः। २२ दृष्ट्वाऽऽग–ख०, घ०। २३ "पर्यन्तो लभ्यते भूमेः समु......।"–पञ्च० मि० भे० १२६।

"लभ्यते भूमिपर्यन्तं समुद्रस्य गिरेरपि।
न कथञ्चिन्महीपस्य चित्तान्तं केनचित् क्वचित् ॥ ४४ ॥"

ततस्तावुक्तवन्तौ–हे सञ्ज्वलन, एवं भवतु। परन्तु त्वया किञ्चिदावयोरशुभं न ग्राह्यम्। सर्वं क्षमितव्यम्। एवं श्रुत्वा सञ्ज्वलनोऽवोचत्–अहो युवाभ्यां गृहमेधिनां धर्म एवंविधोऽभिहितस्तदत्र किमशुभं ग्रहीष्यामि ?

§ १०. एवमुक्त्वा सञ्ज्वलनो जिनपार्श्वे गत्वेदमवादीत्–देव देव[1], मकरध्वजस्य दूतयुगलमागतमस्ति, तद्यदि देवादेशो भवति तदभ्यन्तरमानेष्यामि। एवं तद्वचनं श्रुत्वा परमेश्वरेणोच्चलितकरेण 'आगन्तुं देहि' इत्युक्तम्।

एवं जिनवचनमाकर्ण्य सञ्ज्वलनो यावद्गच्छति तावत् सम्यक्त्वेनोक्तम्–अरे सञ्ज्वलन, किमेवं चिकीर्षसि ? यत्र निर्वेगोपशमादयो वीरास्तिष्ठन्ति तत्र रागद्वेषयोर्न[2] कुशलम्। स[3] ब्रूते–अहो, भवत्वेवम्, परमनयोर्लोकत्रय[4]विदितबलप्रसिद्धिः। तदेतौ केवलं दूतत्वार्थमागतौ। तदत्र किं कुशलाकुशलम् ?

एवं द्वयोर्वचनमाकर्ण्य परमेश्वरः प्रोवाच–अहो परस्परं किमनेन विवादेन ? यतो मया प्रभाते ससैन्यमदनो बन्धनीयोऽस्ति[5]। तद्दूतयुगलस्याभ्यन्तरे प्रवेशो दीयते(येत) किं बहु विस्तरेण ? तच्छ्रुत्वा सञ्ज्वलन उभावभ्यन्तरं[6] प्रवेश्य जिनसकाशमानीतवान्। अथ जिनेन्द्रं पीठत्रयाधिष्ठितं शुभ्रातपत्रत्रयोपशोभितं चतुःषष्टिचामरवी[7]-ज्यमानं भामण्डलतेजसोपशोभितं प्राप्तानन्तचतुष्टयं[8] कल्याणातिशयोपेतं दृष्ट्वा नमश्चक्रतुः। तयोर्मध्ये[9] एकेन नमस्कारः कृतः।

अथ तौ समीपमुपविश्य प्रोचतुः–भो स्वामिन्, अस्मत्स्वाम्यादेशः श्रूयताम्। यान्यस्माकं त्रिभुवनसाराण्यनर्घाणि[10] रत्नानि त्वयाऽऽनीतानि तानि सर्वाणि दातव्यानि। अन्यच्च, यदि त्वं सिद्ध्यङ्गनापरिणयनं करोषि तत्ते त्रैलोक्यमल्लस्य आज्ञास्ति ? अन्यच्च, हे देव, यदि त्वं सुखमिच्छसि तर्हि [11]कामं सेवित्वा सुखेन तिष्ठ। यतस्तस्य प्रसादात् कस्यचिद्वस्तुनोऽप्राप्तिर्नास्ति। उक्तञ्च–

"कर्पूरकुङ्कुमागुरुमृगमदहरिचन्दनादिवस्तूनि।
मदनो[12] यदा[13] प्रसन्नो[14] भवन्ति सौख्यान्यनेकानि ॥ ४५ ॥"

तथा च–

"धवलान्यातपत्राणि वाजिनश्च मनोरमाः।
सदा मत्ताश्च मातङ्गाः[15] प्रसन्नो मदनो यदा ॥ ४६ ॥"

---

१ देव आदेशो भ–च०। २ रागद्वेषयोः कुशलम् ! च०। ३ सोऽब्रवीत् क०। ४–मेनयोर्लो–ग०। ५ वधनीयोऽस्ति च०। ६ उभाभ्यन्तरं प्र–घ०। ७ चामरैर्वी–ख०। ८ अनन्तदर्शनज्ञानसुखवीर्यात्मकमनन्तचतुष्टयम्। ९ द्वयोर्जिनेन्द्रनमस्कारानन्तरं वाक्यमिदमसङ्गतमिवाभाति। १०–ण्यनर्घ्याणि र–क०, ग०, च०। ११ मारं से–क०, ख०, ग०, ङ०। १२ मदने क०, ग०, च०, ङ०। १३ यदि प्र–घ०। १४ प्रसन्ने क०, ग०, च०, ङ०। १५ "......मातङ्गाः प्रसन्ने सति भूपतौ ॥"–पञ्च० मि० भे० ४३।

तत्त्वयाऽवश्यं तस्य सेवा क्रियते(येत) । तथा च–

सेवा यस्य कृता सुरासुरगणैश्चन्द्रार्कयक्षादिकैः
गन्धर्वादिपिशाचराक्षसगणैर्विद्याधरैः किन्नरैः ।
पाताले धरणीधरप्रभृतिभिः स्वर्गे सुरेन्द्रादिकैः
ब्रह्मा(वेधो-)विष्णुमहेश्वरैरपि तथा चान्यैर्नरेन्द्रैरपि ॥ ३ ॥

तदवश्यं तेन मकरध्वजेन सह मैत्री करणीया, न च शत्रुत्वम् । यतोऽयं मदनो महाबलवान् तत्कदाचिदवसरे क्रुद्धो भविष्यति, तदा किञ्चिन्न [1]गणयिष्यति । अन्यच्च–

[2]पातालमाविशसि यासि सुरेन्द्रलोक-
मारोहसि क्षितिधराधिपतिं सुमेरुम् ।
मन्त्रौषधैः प्रहरणैश्च [3]करोषि रक्षां
मारस्तथाऽपि नियतं प्रहणिष्यति त्वाम् ॥ ४ ॥

तथा च–

[4]एष एव स्मरो वीरः स चैकोऽचिन्त्यविक्रमः ।
अवज्ञयैव येनेदं पादपीठीकृतं जगत् ॥ ५ ॥
[5]एकाक्यपि जयत्येष जीवलोकं चराचरम् ।
मनोभूर्भङ्गमानीय स्वशक्त्याऽव्याहतक्रमः ॥ ६ ॥

[6]तथा च–

पीडयत्येव निःशङ्को मनोभूर्भुवनत्रयम् ।
प्रतीकारशतेनापि यस्य भङ्गो न भूतले ॥ ७ ॥

[7]अन्यच्च–

कालकूटादहं मन्ये स्मरसंज्ञं महाविषम् ।
स्यात्पूर्वं सप्रतीकारं [8]निष्प्रतीकारमुत्तरम् ॥ ८ ॥
[9]न पिशाचोरगा रोगा न दैत्यग्रहराक्षसाः ।
पीडयन्ति तथा लोकं यथाऽयं मदनज्वरः ॥ ९ ॥
[10]न हि क्षणमपि [11]स्वस्थं चेतः स्वप्नेऽपि जायते ।
मनोभवशरव्रातैर्भिद्यमानं शरीरिणाम् ॥ १० ॥
[12]जानन्नपि न जानाति पश्यन्नपि न पश्यति ।
लोकः कामानलज्वालाकलापकवलीकृतः ॥ ११ ॥

---

१ गणयति ख०, ग०, घ०, ङ०, च० । २ तुलना–"पातालमाविशसि यासि नभो विलङ्घ्य दिग्मण्डलं भ्रमसि मानसचापलेन ।..."–सुभाषितत्रि० ३।७० । ३ करोति र–च० । ४ "एक एव स्मरो..."–ज्ञाना० ११।१८ । ५ ज्ञाना० ११।१९ । ६ ज्ञाना० ११।२० । ७ ज्ञाना० ११।२१ । ८–र मप्रतीकारमु–ग० । ९ ज्ञाना० ११।२८ । १० ज्ञाना० ११।२६ । ११ स्वच्छं चे–ग०, ङ० । १२ ज्ञाना० ११।२७ ।

अन्यच्च–

सिक्तोऽप्यम्बुधरव्रातैः प्लावितोऽप्यम्बुराशिभिः ।
न हि त्यजति सन्तापं कामवह्निप्रदीपितः ॥ १२ ॥

तथा च–

तावद्धत्ते प्रतिष्ठां परिहरति मनश्चापलञ्चैव ताव–
त्तावत्सिद्धान्तसूत्रं स्फुरति हृदि परं विश्वतत्त्वैकदीपम् ।
क्षीराकूपारवेलावलयविलसितैर्मानिनीनां कटाक्षै–
र्यावन्नो हन्यमानं कलयति हृदयं दीर्घदोलायतानि ॥ १३ ॥

यासां सीमन्तिनीनां कुरवकतिलकाशोकमाकन्दवृक्षाः
प्राप्योच्चैर्विक्रियन्ते ललितभुजलताऽऽलिङ्गनादीन् विलासान् ।
तासां पूर्णेन्दुगौरं मुखकमलमलं वीक्ष्य लीलालसाढ्यं–
को योगी यस्तदानीं कलयति कुशलो मानसं निर्विकारम् ॥ १४ ॥

तथा च–

इह हि वदनकञ्जं हावभावालसाढ्यं
मृगमदललिताङ्कं विस्फुरद्भ्रूविलासम् ।
क्षणमपि रमणीनां लोचनैर्लक्ष(क्ष्य)माणं
जनयति हृदि कम्पं धैर्यनाशञ्च पुंसाम् ॥ १५ ॥

तत्किमनेन बहुप्रोक्तेन यदि त्वमात्मनः सुखमिच्छसि तत्तस्य मकरध्वजस्य सेवां कुरु । किमेतत् सिद्ध्यङ्गनामात्रं परिणेष्यसि ?

§ ११. ततो जिननाथः प्रोवाच–अरे, अज्ञानिनौ, किं जल्पथः ? तस्याधमस्य सेवाऽस्माकं युक्ता न भवति ।

उक्तञ्च–

"वनेऽपि सिंहा मृगमांसभोजिनो बुभुक्षिता नैव तृणं चरन्ति ।
एवं कुलीना व्यसनाभिभूता न नीचकर्माणि समाचरन्ति ॥ ४७ ॥"

अन्यच्च–

"ययोरेव समं शीलं ययोरेव समं कुलम् ।
तयोर्मैत्री विवाहश्च न तु पुष्टविपुष्टयोः ॥ ४८ ॥"

---

१ ज्ञाना० ११।१३ । २ ज्ञाना० १४।२९ । ३ चैष ता–ज्ञाना० । ४ ज्ञाना० १४।२८ । ५–लालसाढ्यं ज्ञाना० । ६ ज्ञाना० १४।३७ । ७–वीक्ष्यमाणं ग० । ८ त्वं सुखमि–ब० । ९ "वनेऽपि··मांस···। ···भूता न नीतिमार्गं परिलङ्घयन्ति ॥"–पञ्च० लब्ध० ७१ । १० "ययोरेव समं वित्तं···। तयोर्विवाहः सख्यं च न तु······ ॥"–पञ्च० काकोलू० २०८ ।

तथा च–

> ययोरेव समं वित्तं ययोरेव समं श्रुतम् ।
> ययोरेव गुणैः साम्यं तयोर्मैत्री भवेद् ध्रुवम् ॥ १६ ॥

तत्किमेतज्जल्पथः ? हरिहरब्रह्मादीनां कातराणां जयनं कथयन्तौ न लज्जेथे ? तदेवं शूरधर्मो[1] न भवति । अथवा शूरतरा ये भवन्ति ते भटनटभण्डवैतालिकवत् याचनां न कुर्वन्ति । तदसौ मदनो युवाभ्यामेवं शूरत्वेन वर्णितस्तत्कथमसौ रत्नानि रङ्कवद्याचते तदनेन प्रकारेण रत्नानि न दास्यामि । तथा[2] च–

> यो मां जयति सङ्ग्रामे यो मे दर्पं व्यपोहति ।
> यो मे प्रतिबलो लोके स रत्नाधिपतिर्भवेत् ॥ १७ ॥

अन्यच्च, ये पूर्वं भोगा भवद्भ्यां कथितास्ते सर्वे मया आदावेव लङ्घिताः सन्ति, न च शाश्वता भवन्ति ते ।

तथा[3] च–

> अर्थाः पादरजःसमा गिरिनदीवेगोपमं यौवनं
> मानुष्यं जलबिन्दुलोलचपलं फेनोपमं जीवितम् ।
> भोगाः स्वप्नसमास्तृणाग्निसदृशं पुत्रेष्टभार्यादिकं
> सर्वञ्च क्षणिकं न शाश्वतमहो त्यक्तञ्च तस्मान्मया ॥ १८ ॥

अन्यच्च[4]–

> वपुर्विद्धि रुजाक्रान्तं जराक्रान्तञ्च यौवनम् ।
> ऐश्वर्यञ्च विनाशान्तं[5] मरणान्तञ्च जीवितम् ॥ १९ ॥
> स्त्री[6] या सा नरकद्वारं दुःखानां खानिरेव च ।
> पापबीजं कलेर्मूलं कथमालिङ्गनादिकम् ॥ २० ॥
> वरमालिङ्गिता[7] क्रुद्धा चलल्लोलाऽत्र सर्पिणी ।
> न पुनः कौतुकेनापि नारी नरकपद्धतिः ॥ २१ ॥

तथा[8] च–

> किम्पाकफलसम्भोगसन्निभं विद्धि[9] मैथुनम् ।
> आपातमात्ररम्यं स्याद् विपाकेऽत्यन्तभीतिदम् ॥ २२ ॥

---

१ शूरत्वे व–च० । २ "तुलना"...लोके स मे भर्त्ता भविष्यति ॥"–दुर्गासप्तशती ५। मं० १२० । ३ "अर्थाः पादरजोपमा"....."जीवितम् । धर्मं यो न करोति निन्दितमतिः स्वर्गार्गलोद्घाटनं पश्चात्तापयुतो जरापरिगतः शोकाग्निना दह्यते ॥"–हितोप० मित्रला० । ४ ज्ञाना० अनित्यभा० १० । ५ विनाशार्त्तं मरणार्त्तञ्च जी–ग०, घ० । ६ तुलना–"दुःखखानिरगाधेयं कलेर्मूलं भयस्य च । पापबीजं शुचां कन्दः श्वभ्रभूमिर्नितम्बिनी ॥"–ज्ञाना० १२।४९ । ७ ज्ञाना० १२।५ । ८ ज्ञाना० ११।१० । तुलना–"किम्पाकफलसमानं वनितासंभोग–संभवं सौख्यम् । आपाते रमणीयं प्रजायते विरसमवसाने ॥"–ज्ञाना० १३।८ । ९ तद्धि मै–ख०, ध०, च० ।

अनन्तदुःखसन्ताननिदानं तद्धि मैथुनम् ।
तत्कथं सेवनीयं स्यान्महानरककारणम् ॥ २३ ॥

स्वैतालुरक्तं किल कुक्कुराधमैः
प्रपीयते यद्वदिहास्थिचर्वणात् ।
५ तथा विटैर्विद्धि वपुर्विडम्बनै-
र्निषेव्यते मैथुनसम्भवं सुखम् ॥ २४ ॥

तत्किम[3]नेन भूरिप्रोक्तेन। अव[4]श्यमहं [5]सिद्ध्यङ्गनापरिणयनं करिष्यामि, येन शाश्वतसुखप्राप्ति[6]र्भविष्यति । अन्यच्च–

समोहं सशरं कामं ससैन्यं कथमप्यहम् ।
१० प्राप्नोमि यदि सङ्ग्रामे वधिष्यामि न संशयः ॥ २५ ॥

§ १२. एवं जिनवचनमाकर्ण्य रागद्वेषौ[7] कोपं गत्वा प्रोचतुः–भो जिनेश्वर, किमेतन्मुखचापल्यादप्रस्तुतं वदसि[8] ? सतां स्वयमेव स्वप्रशंसमाजल्पनं न युक्तम् । तावत्त्वं[10] शाश्वतं सुखमिच्छसि यावन्मदनबाणभिद्यमानो न भवसि। उक्तञ्च यतः–

"प्रभवति[11] मनसि विवेको विदुषामपि शास्त्रसम्पदस्तावत् ।
१५ न पतन्ति बाणवर्षा यावच्छ्रीकामभूपस्य ॥ ७९ ॥

एवं दूतवचनमाकर्ण्य संयमेनोत्थाय द्वयोरर्द्धचन्द्रं दत्त्वा द्वाराद्बहिर्निष्कासितौ ।

इति श्रीठक्कुरमाइन्ददेवस्तुत जिन(नाग)देवविरचिते स्मरपराजये सुसंस्कृतबन्धे दूतविधिसंवादो नाम द्वितीयः परिच्छेदः ॥ २ ॥

तृतीयः परिच्छेदः

२० § १. अथ तौ दूतौ क्रुद्ध्यमानौ (क्रुद्ध्यन्तौ) कामपार्श्वे समागत्य प्रणम्योपविष्टौ । ततः कामः प्राह–अहो भवद्भ्यां तत्र गत्वा जिनं प्रति किमभिहितं, किमुत्तरं ददौ (दे)तेन जिनेन, कथम्भूता तस्य जिनस्य युद्धसामग्री ? एवं तेन कामेन पृष्टौ तौ दूतावुक्तवन्तौ–

---

१ "कथं तदपि सेवन्ते हन्त रागान्धबुद्धयः ॥"–ज्ञाना० १३।१३ । २ ज्ञाना० १३।१७ । ३ किमन्येन भू–ग० । ४–श्यमिह सि– च० । ५ सिद्धेः परि–ख० । ६–र्भवति क०, ग०, घ०, ङ० । ७ रागद्वेषौ कामपक्षं वहन्तौ कोपं–ख० । ८–दपश्रुतं व–ख० । ९ वाक्यमिदं च० पुस्तके नास्ति । १० तावत्त्वं जल्प, शाश्वतसुखाभिलाषं कुरु या–ख० । ११ तुलना–"प्रभवति······शास्त्रसंभवस्तावत् । निपतन्ति दृष्टिविशिखा यावन्नेन्दीवराक्षीणाम् ॥"–प्रबोध च० १।११ ।

अहो देव, किमेतदावां पृच्छसि ? स जिनेन्द्रोऽगम्योऽलक्ष्यो महाबलवान् । न किञ्चिन्मन्यते । आवाभ्यां दण्डप्रभेदसामदानप्रकारैः शिक्षितः; परं निजबलोद्रेकात् किञ्चिन्न गणयति । अन्यच्च, तेनेदमभिहितम्–अरे, किमेतज्जल्पथः ? तस्याधमस्य सेवामहं न करोमि । यतो मया प्रातः[1] ससैन्यमदनो बन्धनीयोऽस्ति ।

तच्छ्रुत्वा शल्यवीरोऽब्रवीत्–अहो, किमेतदसत्यं वदथः ? यद्येवं जिनेश्वरेणोक्तं तदस्मदीयसैन्यबाह्यौ भवन्तौ ? यतो युवयोः किञ्चित् पराभवमात्रं न दृश्यते ? ५

अथ तावूचतुः–भो शल्यवीर, पराभवमात्रस्याऽसम्भवार्थं कारणमेकमास्ते । उन्नतचेतसो ये केचन भवन्ति ते स्वल्पान्न घ्नन्ति । उक्तञ्च यतः–

"तृणानि नोन्मूलयति प्रभञ्जनो मृदूनि नीचैः प्रणतानि सर्वतः ।
समुच्छ्रितानेव तरून् प्रबाधते महान् महद्भिश्च करोति विग्रहम् ॥ १ ॥[2]" १०

तथा[3] च–

"गण्डस्थलेषु मदवारिषु लौल्यलुब्ध-
मत्तभ्रमद्भ्रमरपादतलाहतोऽपि ।
कोपं न गच्छति नितान्तबलोऽपि नागः
स्वल्पे बले न बलवान् परिकोपमेति ॥ २ ॥" १५

§ २. एवं श्रुत्वा मदनो घृतसिक्तानलवत् कोपं गत्वा अन्यायकाहलिकं प्रत्यब्रवीत्–रे अन्यायकाहलिक, शीघ्रं काह[4]लया निनादं कुरु यथा सैन्यसमूहो भवति । एतदाकर्ण्य तेनानीतिकाहला गम्भीररवेण नादिता ।

अथ तच्छ्रवणाज्जिनेन्द्रोपरि बलानि सन्नद्धानि जज्ञिरे । तद्यथा–

प्रापुः षट्त्रिगुणा महाखरतरा दोषास्त्रयो गारवा २०
आजग्मुर्व्यसनाभिधानसुभटाःपञ्चेन्द्रियाख्यास्ततः ।
वीरा वैरकुलान्तका वरभटा दण्डास्त्रयश्चागताः
प्राप्ताः शल्यसमास्त्रयोऽद्भुतबलाः शल्याभिधाना नृपाः ॥ १ ॥
आयुष्कर्मनराधिपाश्च चतुराः प्राप्तास्तु पञ्चाश्रवा
रागद्वेषभटौ ततोऽनु(मि)मिलतुर्दर्पोद्धतौ सिंहवत् । २५
सम्प्राप्तावतिगर्वितौ स्मरदले गोत्रा[5]भिधानौ नृपा-
वज्ञानाख्यनृपास्त्रयोऽथ मिलिताः प्राप्तस्ततश्चानयः ॥ २ ॥

---

१ प्रातः स–क०, ख०, च० । २ "···। स्वभाव एवोन्नत चेतसामयं महान्···॥"–पञ्च० मि० भे० १२३ । ३ "······मदवारिषु बद्धराग·····।·····स्तुल्ये बले तु बलवान्·····॥"–पञ्च० मि० भे० १२४ ४ "काहला वाद्यभाण्डस्य विशेषे', इति विश्वः । काहला पटह इत्यर्थः । ५ गोत्राभिधाना नृपा—ख० । उच्चैर्नीचैर्नामधेयौ ।

प्राप्तौ क्रूरयमोपमौ बलयुतौ [1]द्वौ वेदनीयाभिधौ
पुण्याद्यं[2]क्षितिपालकौ च मिलितौ प्राप्तस्तथा संयमः।
प्रापुर्निर्दलिताखिलारिपृ[3]तनाः पञ्चा[4]न्तराया नृपाः
सम्प्राप्तौ तदनन्तरं दृढतरावाशाभिधानौ नृपौ ॥ ३ ॥

५ पञ्च[5] नरेन्द्रा मिलिता ज्ञानावरणीयनामानः।
दुष्परिणामौ मिलितौ दर्शनमोहोऽतिदुर्जयः प्राप्तः ॥ ४ ॥
त्रिर्न[6]वतिनरनाथा नामकर्माभिधानाः
स्फुरिततरगणा वै भासमानाः प्रपन्नाः ॥
अथ नृपतिशतेन धूतसार्थेन युक्ता
१० भुजग इव सरोषा अष्ट कर्मप्रधानाः ॥ ५ ॥
भूपाला नव[7] सम्प्राप्ता दर्शनावरणीयकाः।
शोभते कामसैन्यं तैर्यथा मेरुर्नवग्रहैः ॥ ६ ॥

तथा च–

प्राप्तश्च षोडशकषायनृपैः[8] प्रयुक्त–
१५ श्चान्यैर्नृपैश्च नवभिर्नवनोकषायैः[9]।
मिथ्यात्वभूमिपतिभिस्त्रि[10]भिरावृतोऽन्यै–
र्यो दुर्जयोऽतिबलवानपि दुर्द्धरो यः ॥ ७ ॥
स्वर्गे जितः शतमखः सगणोऽपि येन
येनेशभानुशशिकृष्णपितामहाद्याः।
२० यस्माद्बिभेति बलवान् धरणीधरो यो
सो(ऽसौ)मोहमल्ल इति भाति यथा कृतान्तः ॥ ८ ॥

एवं तमागच्छन्तं दृष्ट्वा सम्मुखं गत्वा मकरध्वजेन परमानन्देन तस्य मोहमल्लस्य पट्टबन्धनं शेषाभरणञ्च कृत्वा वचनमेतदुक्तम्–भो मोहमल्ल, अधुना सर्वमेतद्राज्यं त्वया रक्षणीयम्। यतस्त्वमेव सैन्याधिपतिः। तव लीलां यः सङ्ग्रामे प्राप्नोति एवं-२५ विधो न कोऽप्यस्ति। उक्तञ्च यतः–

---

१ द्वे वेद–क०, ग०, ङ०, च०। सातासातरूपौ द्वौ वेदनीयौ। २–ण्याद्या शि–च०। पुण्यपापावित्यर्थः। ३–ला रिपुतनाः प–च०। ४ दानलाभभोगोपभोगवीर्यान्तरायभेदात्। ५ मतिश्रुतावधिमनःपर्ययकेवलज्ञानावरणभेदात्। ६ "गतिजातिशरीराङ्गोपाङ्गनिर्माणबन्धनसंघातसंस्थानसंहननस्पर्शरसगन्धवर्णानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपरघातातपोद्योतोच्छ्वासविहायोगतयः प्रत्येकशरीरत्रससुभगसुस्वरशुभसूक्ष्मपर्याप्तिस्थिरादेययशःकीर्तिसेतराणि तीर्थकरत्वं च।"–त० सू० ८।११। ७ "चक्षुरचक्षुरवधिकेवलानां निद्रानिद्रानिद्राप्रचलाप्रचलाप्रचलास्त्यानगृद्धयश्च।"–त० सू० ८।७। ८ क्रोधमानमायालोभानां प्रत्येकमनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानसञ्ज्वलनविकल्पात्। ९ हास्यरत्यरतिशोकभयजुगुप्सास्त्रीपुन्नपुंसकवेदभेदात्। १० मिथ्यात्वसम्यङ्मिथ्यात्वसम्यक्प्रकृतिभेदात्।

"यद्वच्चन्द्रमसा विनाऽपि रजनी यद्वत्सरोजैः सरित्
गन्धेनैव विना न भाति कुसुमं दन्तीव दन्तैर्विना।
यद्वद् भाति सभा न पण्डितजनैर्यद्वन्मयूखै रवि–
स्तद्वन्मोह, विना[1] त्वया मम दलं नो भाति वीरश्रिया ॥३॥"

तदवश्यमिहाऽहमिदानीं जिनेन्द्रं जेष्यामि। एवं यावत्तेनोक्तं तावत्तस्मिन्नवसरे ५ निजमदभरान्धानां मदकुञ्जराणामष्टानां समरभूमौ घटाः[2] सम्प्राप्ताः। तथाऽतिवेग उन्नतो दुर्द्धरश्चपलः सबलो मनस्तुरङ्गमसमूहः सम्प्राप्तः। एवमादि प्रभूतक्षत्रियभटसमूहैः समावृत्तं सैन्यमतिशोभते। तथा च–

दुष्टलेश्याध्वजापट्टैर्निचितमभिरम्यं कुकथात्युच्छ्रितयष्टिकाभिरारब्धग[3]गनान्दोलनाभिराह्लादजनकं जातिजरामरणस्तम्भैरुपशोभितं तथा पञ्चकु[4]दर्शनपञ्चशब्दैर्बधिरीभूतं १० दशका[5]मावस्थातपत्राच्छादितान्धकारीभूतम्। एवंविधचतुरङ्गसैन्यसमन्वितो मनोगजमारुह्य सङ्ग्रामार्थं निर्गन्तुमिच्छति यावज्जिनेन्द्रोपरि तावत्तस्मिन्नवसरे–

प्राप्तो मूढ[6]नृपैस्त्रय(त्रिभि)श्च सहितं(तः)शङ्कादिवीरैस्त्रिभि-
र्युक्ता येन फरी धृता करतले संसारदण्डस्तथा।
यः प्राप्नोति रणे सदा जयरवं लोकत्रयं कम्पितं १५
चैतद्यस्य भयात्, स चातिबलवान् मिथ्यात्वनामा नृपः ॥६॥

§ ३. ततो मिथ्यात्वनृपः प्रोवाच–भो भो त्रिदशकुरङ्गपञ्चानन, क[7]स्योपरि सञ्चलितस्त्वम्? ममादेशं देहि। किमनेन सैन्यमेलनेन? केवलोऽहं जिनेन्द्रं जेष्यामि।

ततो मोहः प्राह–अरे मिथ्यात्व, किमेतज्जल्पसि? एवंविधो बलवान् कोऽस्ति यः सङ्ग्रामे जिनसम्मुखो भवति। तत्प्रभाते तव शूरत्वं ज्ञास्याम्यहं यत्र दलनाथः स[8]म्यक्त्ववीरः प्राप्स्यति। उक्तञ्च यतः– २०

"तावद्गर्जन्ति[9] मण्डूकाः[10] कूपमाश्रित्य[11] निर्भयाः[12]।
[13]यावन्नाशीविषो घोरः [14]फटाटोपो न दृश्यते ॥ ४ ॥
[15]तावद्गर्जन्ति मातङ्गा भिन्ननीलाद्रिसन्निभाः।
[16]यावच्छृण्वन्ति नो कर्णैः क्रुध्यत्पञ्चाननस्वरम् ॥ ५ ॥ २५

---

१ विना मम ख०। २ "करिणां घटना घटा" इत्यमरः। ३ गगनान्दोलिताभिरा–घ०। दोलनादिभिरा–ख०। ४ एकान्तविपरीतसंशयवैनयिकाज्ञानभेदात् पञ्चविध कुदर्शनम्। ५ "अभिलाषश्चिन्तास्मृतिगुणकथनोद्वेगसंप्रलापाश्च। उन्मादोऽथ व्याधिर्जडता मृतिरिति दशात्र कामदशाः ॥"–सा० द० ३।१९०। ६ लोकदेवगुरुमूढताभेदात्त्रिविधा मूढ (ढता) नृपाः। ७ कमुपरि क०, ग०, घ०, ख०। ८ सक्तवीरः प्रा–ख०। ९–गर्जति ख०, च०। १० मण्डूका ख०। ११ कोपमा–ग०। १२ निर्भयः ख०, च०। १३ यावत् करिकराकारं कृष्णसर्पं न पश्यति ख०। १४ घटाटोपो न–ग०। १५ पद्यमिदं क०, ग०, ख०, च० पुस्तकेषु नास्ति। १६ विशिखालम्बलाङ्गूलो यावन्नायाति केसरी ॥ ख०।

तावद्विषप्रभा घोरा यावन्नो गरुडागमः ।
तावत्तमःप्रभा लोके, यावन्नोदेति भास्करः ॥ ६ ॥"

अन्यच्च–

"खद्योतानां प्रभा तावद् यावन्नो रविरश्मयः[1] ।
५ द्विजिह्वानां बलं तावद् यावन्नो विनतासुतः[2] ॥ ७ ॥"

§ ४. एवं वचनमाकर्ण्य मनोभवोऽवोचत्–अहो, युवयोः परस्परं किमनेन विवादेन ? यत[3] उक्तञ्च–

"अज्ञातचित्तवृत्तीनां पुंसां किं गलगर्जितैः ।
शूराणां कातराणाञ्च रणे व्यक्तिर्भविष्यति ॥ ८ ॥"

१० **तत् प्रभाते जिनेन्द्रस्य हरिहरपितामहादीनां यत्कृतं तदहं यदि न करोमि तदा ज्वलितानल[4]प्रवेशं करिष्यामि । इति सर्वजनविदिता मे प्रतिज्ञा । उक्तञ्च–**

"सकृ[5]ज्जल्पन्ति राजानः सकृज्जल्पन्ति पण्डिताः ।
सकृत् कन्याः प्रदीयन्ते त्रीण्येतानि सकृत् सकृत् ॥ ९ ॥"

इति श्रीठक्कुरमाइन्ददेवस्तुतजिन(नाग)देवविरचिते मदनपराजये सुसंस्कृतबन्धे
१५ **कन्दर्पसेनावर्णनो नाम तृतीयः परिच्छेदः ॥ ३ ॥**

—*—

चतुर्थः परिच्छेदः ।

§ १. इतो[6] निर्गते दूतयुगले जिनेन संवेगं प्रत्यभिहितम्–अरे संवेग, झटिति स्वसैन्याह्वानं[7] कुरु । तदाकर्ण्य तेन वैराग्यकाहलिकमाहूय एतदुक्तम्–अरे वैराग्यकाहलिक, शीघ्रं काहलानिनादं कुरु यथा स्वसैन्यसमवायो भवति । ततस्तेन विरतिकाहला 'जिननाथः संप्राप्तः', एवं द्विरुक्त्युच्चारणेन[8] युक्ता कृतगम्भीर[9]कोलाहला नादिता । अथ २० काहलास्वनमाकर्ण्य कन्दर्पोपरि [10]परबललम्पटाः सुभटाः सम्प्रापुः । तद्यथा–

समदमदनदन्तिध्वंसकण्ठीरवा ये
छलबलकुलवन्तश्चागताः [11]धर्मवीराः ।

---

१ विस्मयः च० । २ विनतासुतो गरुडः । ३ पाठोऽयं पद्यश्चेदं क०, ग०, घ०, च० पुस्तकेषु नास्ति । ४ ज्वलितानलकुण्डे प्रवेशो ममेत्यसम्भाव्या सर्व–ख० । ५ पद्यमिदं क०, ग०, घ०, च० पुस्तकेषु नास्ति । ६ 'इतो' ख० पुस्तके नास्ति । इति च० । ७–न्याह्वानन–क०, ग०, घ, च० । सैन्यमेलनं ख० । ८–क्त्युच्चारणेन युता क०, च० । ९ कृताकृतगंभीरको–क० । १० शत्रुसैन्यसंहारका इत्यर्थः । "स्थौल्यसामर्थ्यसैन्येषु बलम्···" इत्यमरः । ११ क्षमामार्दवार्जवशौचसत्यसंयमतपस्त्यागाकिञ्चन्यब्रह्मचर्यभेदाद्धर्मो दशविधः ।

अथ दश नरनाथा [1]मुण्डसंज्ञाः प्रचण्डा
दश हि मनुजनाथाः संयमा[2]ख्या वरिष्ठाः ॥ १ ॥
उन्नतवयसौ शूरौ भूपौ द्वौ क्षमादमाख्यौ च ।
ते दश भूपा मिलिताः प्राय[3]श्चित्ताभिधाना ये ॥ २ ॥
कल्पान्ते मरुताहताश्च मिलिताश्चैकत्र सप्तार्णवा ५
यद्वत्तद्वदतीवशौर्यसहितास्ते सप्त तत्त्वा[4]धिपाः ।
अष्टौ ये हि म[5]हागुणा नृपवराः प्राप्तास्ततस्ते तथा
तद्वच्चाष्टकुलाचला दृढतरा अष्टौ यथा दिग्गजाः ॥ ३ ॥

तथा च–

कल्पान्ते प्राणिनाशाय द्वादशार्का यथोदिताः । १०
स्मरसैन्यविनाशाय तथा प्राप्तास्त[6]पोनृपाः ॥ ४ ॥
पञ्च नरेशा मिलिता आचा[7]राख्या महाशूराः ।
अष्टाविंशति भूपा मू[8]लगुणाख्यास्ततः प्रापुः ॥ ५ ॥
शत्रुत्रासकरा महाखरतराः [9]श्रीद्वादशाङ्गाभिधाः
सम्प्राप्ताः सुभटास्त्रयोदश [10]ततश्चारित्रवीरेश्वराः । १५

---

१ "पंच मुंडा पण्णत्ता, तं जहा–सोतिंदियमुंडे० जाव फासिंदियमुंडे २, अहवा–पंचमुंडा पण्णत्ता, तं जहा–कोहमुंडे माणमुंडे मायामुंडे लोभमुंडे सिरमुंडे । मुण्डनं मुण्डः, अपनयनम् । स च द्वेधा–द्रव्यतो भावतश्च । तत्र द्रव्यतः–शिरसः केशापनयनम् । भावतस्तु चेतसः इन्द्रियाणामर्थगतप्रेमाप्रेम्णोः कषायाणा वापनयनमिति मुण्डलक्षणधर्मयोगात् पुरुषो मुण्ड उच्यते । तत्र श्रोत्रेन्द्रिये श्रोत्रेन्द्रियेण वा मुण्डः, पादेन खञ्ज इत्यादिवत् श्रोत्रेन्द्रियमुण्डः शब्दे रागादिखण्डनात् श्रोत्रेन्द्रियार्थमुण्ड इति भावः । इत्येवं सर्वत्र ।"–स्था० ५।४१ । २ "दशविधे संजमे पण्णत्ते, तं जहा–पुढविकाइय सजमे० जाव वणस्सइकाइयसंजमे, वेइंदियसंजमे तेइंदियसंजमे चउरिंदियसंजमे, पंचेंदियसंजमे अजीवकायसंजमे ।"–स्था० १०।७०९। ३ "प्रमाददोषपरिहारः प्रायश्चित्तम् ।" –स० सि० ९।२० । तस्य चालोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपश्छेदमूलपरिहारश्रद्धानभेदाद्दशविधत्वम् । तथा हि–"आलोयणपडिकमणं उभयविवेगो तहा विउस्सग्गो । तव छेदो मूलं विय परिहारो चेव सद्दहणा ॥" –मूला० ५।१६५ । ४ "जीवाऽजीवास्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्वम् ।"–त० सू० १।४ । ५ सम्यक्त्वदर्शन-ज्ञानागुरुलघुत्वावगाहनत्वसूक्ष्मत्ववीर्यत्वाव्याबाधत्वभेदादष्टौ महागुणाः ।

६ "इच्छानिरोधस्तपः ।"–स० सि० ९ । तत्तपो बाह्याभ्यन्तरभेदाद्विविधम् । तत्र "अनशनावमौदर्यवृत्ति-परिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशा बाह्यं तपः ।" तथा "प्रायश्चित्तविनयवैयावृत्यस्वाध्यायव्युत्सर्ग-ध्यानान्युत्तरम्"–त० सू० ९।१९,२० । ७ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपोवीर्यभेदात् पञ्चाचाराः । ८ पञ्च महा-व्रतानि, पञ्च समितयः, पञ्चेन्द्रियनिरोधाः, षडावश्यकानि, लोचः, आचेलक्यम् , अस्नानं, क्षितिशयनम् , अदन्तघर्षणं, स्थितिभोजनम् , एकभक्तश्चैतेऽष्टाविंशतिमूलगुणाः । तत्र अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहाः पञ्च महाव्रतानि । ईर्याभाषैषणादाननिक्षेपोत्सर्गाः पञ्च समितयः । स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणि पञ्चेन्द्रियाणि । समतास्तववन्दनाप्रतिक्रमणप्रत्याख्यानव्युत्सर्गभेदात् षडावश्यकानि । ९ आचारः, सूत्रकृतम्, स्थानम्, समवायः, व्याख्याप्रज्ञप्तिः, ज्ञातृधर्मकथा, उपासकाध्ययनम् , अन्तकृद्दशम्, अनुत्तरोपपादिकदशम् , प्रश्नव्याक-रणम्, विपाकसूत्रम्, दृष्टिवाद इमानि द्वादशाङ्गानि। १० महाव्रतसमितिपञ्चकत्रिगुप्तिभेदात्त्रयोदशविधं चारित्रम् ।

आजग्मुस्तदनन्तरं हि बलिनः कीनाशदूतोपमा
अष्टौ षड् वरवीरदर्पदलनाः पूर्वाङ्गसंज्ञा[1] नृपाः ॥ ६ ॥
येऽनन्तवीर्यसंयुक्ताः स्मरवीरकुलान्तकाः ।
प्रापुस्ते ब्रह्मचर्य्याख्या[2] भूपाला नव दुर्जयाः ॥ ७ ॥
अरिकुञ्जरगन्धगजा मिलिता नव शूरतरा नय[3]भूपतयः ।
अथ गुप्ति[4]नृपत्रितयं मिलितं त्वरितं[5] जिननाथदले सबलम् ॥८ ॥

तथा च–

शरणागतेषु जन्तुषु सकलेष्वधारभूता ये ।
अनुकम्पागुणभूपा जिनकार्ये तत्क्षणात् प्राप्ताः ॥ ९ ॥
पञ्च[6]वक्रो महाकायो धीरो यो नीरदस्वनः ।
सम्प्राप्तः स्मरनाशार्थं स्वाध्यायः सिंहवत्तथा ॥ १० ॥
धर्मचक्रान्वितः प्राप्तो दृष्टिवीरश्चतुर्भुजः ।
स्मरदैत्यविनाशार्थं दैत्यारिः केशवो यथा ॥ ११ ॥
मतिज्ञानाख्यभूपालः संप्राप्तस्तदनन्तरम् ।
शतत्रय[7]युतश्चान्यैः षट्त्रिंशदधिकैर्नृपैः ॥ १२ ॥
श्रुतज्ञानाभिधानो यो जिनसहायार्थमागतः ।
मनःपर्यय[8]संज्ञोऽथ प्राप्तो भूपयुगान्वितः ॥ १३ ॥

तथा च–

नर[9]नाथत्रययुक्तः स्वपतिश्रमनाशनाय संप्राप्तः ।
अवधिज्ञाननरेशः स्वसैन्यतिलको महाशूरः ॥ १४ ॥
ततोऽनन्तरमायातो महाशूरोऽतिदुर्जयः ।
मोहवीरविनाशार्थं केवलज्ञानभूपतिः ॥ १५ ॥

---

१ उत्पादपूर्वम्, अग्रायणीयम्, वीर्यप्रवादम्, अस्तिनास्तिप्रवादम्, ज्ञानप्रवादम्, सत्यप्रवादम्, आत्मप्रवादम्, कर्मप्रवादम्, प्रत्याख्याननामधेयम्, विद्यानुप्रवादम्, कल्याणनामधेयम्, प्राणावायम्, क्रियाविशालम्, लोकबिन्दुसारमिति पूर्वपरिकरश्चतुर्दशविधः । २ स्त्रीनिकटावासतद्रागनिरीक्षणमधुरसंभाषणपूर्वभोगानुस्मरणवृष्याहारशरीरशृङ्गारस्त्रीशय्याशयनकामकथाऽऽकण्ठोदरपूर्तित्यागरूपा नव ब्रह्मचर्यभूपालाः । एत एव आगमे शीलस्य नव 'बाड़' रूपेण प्रसिद्धाः । ३ द्रव्य-पर्याय-द्रव्यपर्यायनैगमसंग्रहव्यवहारर्जुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतभेदान्नव नयाः ।–त० श्लो० पृ० २६९ । ४ मनोवाक्कायगुप्तिभेदाद्गुप्तिस्त्रिधा । ५ चरितं जि–ख०, ग० । ६ वाचनापृच्छनानुपेक्षाम्नायधर्मोपदेशमुखः । ७ बहुबहुविधक्षिप्रानिःसृतानुक्तध्रुवाणां सेतराणां प्रत्येकमवग्रहेहावायधारणाभेदादष्टचत्वारिंशद्भेदाः । एते भेदाः षड्भिरिन्द्रियैर्गुणिता अष्टाशीत्यधिका द्विशती भवति । अत्र व्यञ्जनावग्रहस्याष्टचत्वारिंशद्भेदयोगे मतिज्ञानभेदमाला षट्त्रिंशदधिका त्रिशती विज्ञेया । ८ ऋजुविपुलमतिभेदान्मनःपर्ययो द्विविधः । ९ देशावधिपरमावधिसर्वावधिभेदात्त्रिविधमवधिज्ञानम् ।

तथा च–

> धर्मध्यानमहीपेन[1] युक्तो निर्वेगभूपतिः ।
> शुक्लेन सह सम्प्राप्तः ततश्चोपशमो बली ॥ १६ ॥
> अष्टोत्तरसहस्रेण संयुक्तो लक्षणाधिपः ।
> अष्टादशसहस्रैश्च[2] मिलितः शीलभूपतिः ॥ १७ ॥ ५
> भूपालैः पञ्च[3]भिर्युक्तो निर्ग्रन्थाख्यो नरेश्वरः ।
> बलवीरकुलान्तौ[4] यौ गुणावाजग्मतुस्ततः ॥ १८ ॥

तथा च–

> सम्प्राप्तस्तदनन्तरं जिनबले वैरीभपञ्चाननो-
> यस्यांङ्घ्री[5] नमति स्वयं सुरपतिर्विद्याधराद्यास्तथा । १०
> ब्रह्माद्या धरणीधरार्कशशिनो यस्याङ्घ्रियुग्मं[6] नम-
> न्त्येते नित्यमसौ रतीशदलनः सम्यक्त्वदण्डाधिपः ॥ १९ ॥

एवमाद्यसङ्ख्यवीरक्षत्रियसामन्तनिचयैर्निचितं जिनबलमतिराजते । तथा च दुर्धरोन्मतदुर्जयबलचपलमनोहरजीवस्वभावतुरङ्गमखुरपुट[7]निचयोद्धूतपांसुच्छन्नाम्बरमण्डलं प्रमाण[8]चतुष्कसप्तभङ्गि[9]म[10]हागजचीत्काररवश्रवणदिग्गजभयजनकं [11]चतुरशीतिलक्षगुणमहारथरवकोलाहल[12]निर्जितजनिधिगर्जितं पञ्चसमितिपञ्चमहाव्रतशब्दस्याद्वादभेयत्रि(ता)ट-(ड)नसमु[13]त्थितातिकोलाहलबधिरीभूतं[14] शुभलेश्यातिदीर्घयष्टिकाभिः कृतगगनमण्डल- १५

---

१ ज्ञानम–च० । २ "जोए करणे सण्णा इंदियभोम्मादिसयणधम्मे य । अण्णोण्णेहिं अभत्था अट्ठारहसील-सहस्साइं ॥ तथाहि—योगैः करणानि गुणितानि नव भवन्ति, पुनराहारादिसंज्ञाभिश्चतसृभिर्नवगुणितानि षट्त्रिंशद्भवन्ति शीलानि । पुनरिन्द्रियैः पञ्चभिर्गुणितानि षट्त्रिंशदशीत्यधिकं शतम् । पुनः पृथिव्यादिभिर्दशभिः कायैरशीतिशत गुणितमष्टादशशतानि भवन्ति । पुनः श्रमणधर्मैर्दशभिरष्टादशशतानि गुणितानि अष्टादशशीलसहस्राणि भवन्तीति ।–मूला० ११।२ । ३ "पुलाकबकशकुशीलनिर्गन्थस्नातका निर्ग्रन्थाः" ।–त० सू० ९।४६ । ४ कुलान्तो यो च० । ५ यस्यां हीनमतिः च० । ६ यस्या हि न–च० । ७ खरपु–च० । ८ प्रत्यक्षानुमानागमोपमानभेदात् । ९ स्यादस्ति, स्यान्नास्ति, स्यादस्तिनास्ति, स्यादवक्तव्यम् , स्यादस्त्यवक्तव्यम् , स्यान्नास्त्यवक्त व्यम् , स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यमिति सप्तभङ्गी । १० महाराज ची–च० । ११ प्राणिवधमृषावादादत्तमैथुनपरिग्रहक्रोधमदमायालोभभयरत्यरति-जुगुप्सामनोवचनकायमंगुलमिथ्यादर्शनप्रमादपिशुनत्वाज्ञानेन्द्रियानिग्रहा एकविंशतिभेदा हिंसादयः । अतिक्रमण-व्यतिक्रमणातीचारानाचारविकल्पैर्गुणिता एकविंशतिश्चतुरशीतिर्भवति । तथा पृथिव्यप्तेजोवायुप्रत्येकानन्तकायिक-द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियाणां परस्परमाहतानां विकल्पैर्गुणिताश्चतुरशीतिर्विकल्पाश्चतुरशीतिशतभेदा भवन्ति । इमानि चतुरशीतिशतानि स्त्रीसंसर्गप्रणीतरसभोजनगन्धमाल्यसंस्पर्श–शयनासनभूषण–गीतवादित्रार्थसंप्रयोग–कुशीलसंसर्ग-राजसेवा–रात्रिसंचरणरूपैर्दशविकल्पैर्गुणितानि चतुरशीतिसहस्राणि, भवन्तीति । एतानि चतुरशीतिसहस्राणि, आकम्पितानुमानितदृष्टबादरसूक्ष्मच्छन्नशब्दाकुलितबहुजनाव्यक्ततत्सेविदशविकल्पैर्गुणितान्यष्टलक्षाभ्यधिकानि चत्वारिंशत्सहस्राणि भवन्ति । अमून्यष्टलक्षाभ्यधिकचत्वारिंशत्सहस्राणि, आलोचनप्रतिक्रमणतदुभयविवेकव्युत्सर्गतपच्छेदमूलपरिहारश्रद्धानदशविकल्पैर्गुणितानि चतुरशीतिलक्षसावद्यविकल्पा भवन्ति । तद्विपरीतास्तावन्त एव गुणा भवन्तीति ।—मूला०,टी० ११।९–१६ । १२ जलधिग–ग० । १३ समुच्छलितातिको–क०,ग० । १४ 'महारथरव' –इत्यारभ्य–'वधिरीभूतम्' इतिपर्यन्तः पाठः ख० पुस्तके नास्ति ।

स्पर्शनाभिरनङ्गदलभयजनकं विस्फुरल्लब्धिचिह्नच्छायाच्छादितदिक्चक्रं बहुव्रतबहुरतम्भैरूपशोभितम्। एवंविधिचतुरङ्गसैन्यसमन्वितः क्षायिकदर्शनमातङ्गारूढोऽनुप्रेक्षासंनाह[1]च्छादिताङ्गः स्वसमय[2]नेत्रपटोत्तमाङ्गबद्धविराजमानः करतलकलितमहासमाधिगदाप्रहरणः सिद्धस्वरूपस्वरशास्त्रतत्त्वज्ञसहितः परमेश्वरो मदनोपरि यावत् सञ्चलितस्तावत्तस्मिन्नवसरे
५ भव्यजनैरभिवन्द्यते, शारदयाऽग्रे मङ्गलगानं गीयते, दयया शेषाभरणं क्रियते, मिथ्यात्वपञ्चक (केन) निम्बलवणमुत्तार्यते[3]।

§ २. एवंविधस्य समरभूमिसञ्चलितस्य [4]जिनेशस्याग्रे सुशकुनानि जज्ञिरे। [5]तद्यथा–

दधिदूर्वाक्षतपात्रं जलकुम्भश्चेक्षुदण्डपद्मानि।
[6]सूनुमती स्त्री वीणाप्रभृतिकमग्रे सुदर्शनं जातम् ॥२०॥

१० तद्यथा–

प्रदक्षिणेन प्रतिवेष्टयन्ती यतो(तः)कुमारी सकलार्थसिद्धये।
वामाङ्गभागे ध्वनिरम्बुदानां [7]जातास्त्रिसीनाञ्च तथा वृषाणाम् ॥२१॥
(जातो वृषाणां शिखिनां तथा च ॥)

उन्नत[8]दक्षिणपक्षविभागा [9]तत्क्षणमुखकृतपार्थिवशब्दा[10]।
१५ शान्तदिशा[11] भगवत्यनुलोमा सेति[12] जिनस्य जयाय [13]गताऽग्रे ॥२२॥

दुर्गाकौशिक[14] वाजिवायसखरोलूकीशिवासारसा–
ज्येष्ठाजम्बुकपोतचातकवृकागोदन्तिचक्रादयः।
यस्यैते पुरतोऽनिशं च पथिकप्रस्थानवामस्थिता–
स्तस्याग्रे मनसः समीहितफलं कुर्वन्ति सिद्धिं सदा ॥२३॥

२० § ३. एवं निर्गच्छन्तं जिनमवलोक्य सञ्ज्वलनेनैवं हृदि चिन्तितम्–अहोऽधुनाऽस्माकमत्रावासो युक्तो न भवति। एवमुक्त्वा मदनसकाशमागत्य प्रणम्य विज्ञापयामास[15]–'देव देव, जिनेन्द्रोऽसौ महाबलवान् दर्शनवीरमग्रणीकृत्य सम्प्राप्त एव तच्छीघ्रं [16]जीवनस्थानं प्रति गम्यते।' [17]उक्तञ्च यतः–

"त्यजेदेकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
२५ ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत् ॥ १ ॥

---

१ "जगरः कङ्कटो योगः संनाहः स्यादुरश्छदः।" इति बोपालितः। २ समय आगम इत्यर्थः। ३ लोकेऽपि दृष्टिदोषनिवारणार्थमेतादृशी पद्धतिरवलम्ब्यते। ४ जिनेशाग्रेसु–घ०, ङ०, च०। ५ तथा च च०। ६ सूनुवती च०। ७ जाता शिखीणां च त–ख०, ङ०। जातारिक्त्रसीनां च त–क० ग०, घ०, च०। ८ उन्नतिद्–क०, ग०, घ०, च०। ९ भक्ष्यमुखीकृत क०, ख०, ग०, घ०, च०। १० शब्दाः ख०। ११ दिग्ं भ–क०, ख०, ग०, ङ०, च०। १२ याति जि–च०। १३ गता ये ङ०। १४ पद्यमिदं क०, ग०, घ०, च० पुस्तकेषु नास्ति। १५ व्यजिज्ञपत् ख०। १६ जीवितस्था–च०। ख० पुस्तके पदमिदं नास्ति। १७ पञ्च० मि० भे० ३८६। पद्यमिदं क०, ग०, घ०, ङ०, च० पुस्तकेषु नास्ति।

रक्षन्ति देशं ग्रामेण ग्राममेकं कुलेन वै ।
कुलमेकेन चात्मानं पृथ्वीत्यागेन पण्डिताः ॥ २ ॥'

तच्छ्रुत्वा मदनः संक्रुद्ध्यमानो[1] भूत्वा (सङ्क्रुद्धयन्) अब्रवीत्–अरे सञ्ज्वलन, यद्येवं भूयो वदसि तत्तत्क्षणादेव वधिष्यामि । अन्यच्च–

दृष्टं श्रुतं न क्षितिलोकमध्ये मृगा मृगेन्द्रोपरि सञ्चलन्ति । ५
विधुन्तुदस्योपरि चन्द्रमा(मोऽ)[2]र्कौ किं वै विडालोपरि मूषकाः[3] स्युः ॥२४॥

तथा च–

किं वैनतेयोपरि काद्रवेयाः[4] किं सारमेयोपरि[5] लम्बकर्णाः[6] ।
किं वै कृतान्तोपरि भूतवर्गाः किं क्वत्र श्येनोपरि वायसाः स्युः ॥२५॥

एवमुक्त्वा मोहमाहूय[7] एतदुक्तं कामेन[8]–अहो मोह, अद्य रणे युद्ध्वाऽहं जिनं न जयामि चेत्तत् सागरवडवानलवदने निजकलेवरं क्षिपामि । १०

मोहः प्राह–देव, सत्यमिदम् । यतः कोऽप्येवंविधः सुरतरोऽस्ति यस्त्वां जित्वा जयवान् भूत्वा निजगृहं गच्छति ? एवं मया न दृष्टो न श्रुतोऽस्ति । उक्तंञ्च–

"[9]हरिहरपितामहाद्या बलिनोऽपि तथा त्वया प्रविध्वस्ताः ।
त्यक्तत्रपा यथैते [10]स्वाङ्गनारीं न मुञ्चन्ति ॥ ३ ॥" १५

अन्यच्च, अहो देव, जिनेन्द्रोऽसौ यदि कथमपि संग्रामसम्मुखो भवति, तत्तस्य किञ्चिदन्यन्न कर्त्तव्यं भवति । निगडबन्धैर्बन्धयित्वाऽविचारकारायतने प्रक्षिप्यते(ताम्) ।

तदाकर्ण्य पञ्चेषुना(णा)बहिरात्मानं बन्दिनमाहूय समभिहितम्–अरे बहिरात्मन्, यदद्य त्वं जिनं मे [11]दर्शयसि तत्तव प्रभूतं सम्मानं करिष्यामि । एवमुक्त्वा स्मरवीर-[12]नामाङ्कितं कटिसूत्रं बन्दिनो हस्ते [13]दत्त्वा द्रुततरं सम्प्रेषितः । २०

§ ४. अथाऽसौ बन्दी जिनसकाशमागत्य प्रणम्योवाच–देव देव, सम्प्राप्तो द्रुततर-मयमनङ्गो निजदूतापमानमाकर्ण्य । देव, तत्त्वयेदमशुभं कृतं यदनेन मकरध्वजेन सह युद्धमारब्धम् । अन्यच्च, यद्यपि तस्य मकरध्वजस्य मयात् स्वर्गे गमिष्यसि तत्त्वां सहेन्द्रं हरिष्यति । यदि कथमप्यधुना पातालं प्रविश्य(श)सि तत् सफणीन्द्रं [14]वधिष्यति । यदि तोयनिधौ प्रविश्य(श)सि तज्जलं संशोष्य असून् [15]गृहीष्यति । देव, तत् किमनेन २५

---

१ क्रुध्धातोः परस्मैपदत्वाच्छानचोऽप्राप्तेः 'सङ्क्रुध्यमानः' इति प्रयोगस्य संभावना नास्ति । २ चन्द्रमसः सान्तत्वात् 'चन्द्रमोऽर्कौ' इत्येव साधु । 'सान्ता अदन्ता अपि भवन्ति' इति प्रवादात् 'चन्द्रमार्कौ'इत्यस्यापि साधुत्वम् । ३ मूषिकाः स्युः क०, ख०, ग०, घ०, ङ० । ४ "नागाः काद्रवेयाः" इत्यमरः । ५ सारमेयः श्वा । ६ "लम्बकर्णो मतश्छागे स्यादङ्कोरमहीरुहे" इति विश्वः । ७ मोहमल्लमा–ख० । ८ 'कामेन' ख० पुस्तके नास्ति । ९ "..........तथा स्मरेण विध्वस्ताः"–ज्ञाना० ११।४६ । १० स्वाङ्गेन ना–क०, घ०, ङ०, च० । ११ दर्शयिष्यसि ङ०, च० । दर्शसि क०, ख० । १२ नामाङ्कितकटि–च० । १३ दत्त्वाथ द्रु–ख०, ग०, घ०, च० । १४ वधिष्यसि ग०, च० । १५ गृहीष्यसि च० ।

भूरिप्रोक्तेन। यदि भवान् सङ्गरकामस्तत्स्मरकठिनकोदण्डाद्विमुक्तां बाणावलीं प्रतिसहस्व[1]। अथवा, तस्य भृत्यत्वेन जीव। अन्यच्च–

प्रस्थापिता मम करे निजधीरवीर–
नामावली च मदनेन शृणु प्रभो त्वम्।
कोऽस्तीन्द्रियौघविजयी तव सैन्यमध्ये
कोऽप्यस्ति दोषभयगारववीरजेता? ॥२६॥

कोऽप्यस्ति यो व्यसनदुष्परिणाममोह–
शल्यास्रवादिविजयी वद हे जिनेन्द्र।
मिथ्यात्ववीरसमरार्णवमज्जताश्च
कस्तारकस्तव[2] बले कथय त्वमेव? ॥२७॥

इत्यादिवीरनिचयस्य पृथक्-पृथक्को नाम(नामाद्य)वीरमवधारयितुं समर्थः।
चेत् सन्ति ते वरभटाः परिमार्जयन्तु नामावलीमलमिमाम्[3]अथवा नमन्तु[4] ॥२८॥

§ ५. तत्कठिनवचनं श्रुत्वा सम्यक्त्ववीरो[5]ऽप्यब्रवीत्–अरे बन्दिन्, मया मिथ्यात्वसंज्ञको[6] वीरोऽङ्गीकृतः। पञ्चमहाव्रतैः पञ्चेन्द्रियाण्यङ्गीकृतानि। केवलज्ञानेन मोहोऽङ्गीकृतः। शुक्लध्यानेनाष्टादश दोषा अङ्गीकृताः। तपसा कर्म्माश्रवश्चाङ्गीकृतः। सप्ततत्त्वैर्भयवीराः। अज्ञानं श्रुतज्ञानेन। प्रायश्चित्तैः शल्यत्रयम्। गारवाश्चारित्रेणाङ्गीकृताः। सप्तव्यसनानि दयाधर्मेणाङ्गीकृतानि। एवमादि परस्परं वरवीरलक्षैर्नरेन्द्राः अङ्गीकृताः। ततोऽनन्तरं बन्दिनं प्रति जिनेनोक्तम्–अरे बन्दिन्, यदद्य सङ्ग्रामे[7] मम मारं दर्शयसि[8] तत्तुभ्यं बहुदेशमण्डलालङ्कारच्छत्रादीनि दास्यामि। स चाह–देव, यद्यत्र क्षणमेकं[9] स्थिरो भविष्यसि तत् समोहं कृतसङ्गरमनङ्गं दर्शयिष्यामि।

एवमाकर्ण्य निर्वेगः सङ्क्रुद्ध्यमानो भूत्वा(संक्रुध्यन्)अवोचत्–अरे [10]भ्रष्ट, तवैतद्वचनमप्रस्तुतं प्रभूतमुपसहितम्[11]। अतो यदि किञ्चिद्वदिष्यसि तद्वधिष्यामि। ततः स बन्दी चाह–भो निर्वेग, किमेवं जल्पसि, कोऽस्मिन्नस्ति यो [12]मां हन्ति। एतदाकर्ण्य निर्वेगेणोत्थाय[13] तस्य बन्दिनः शिरोमुण्डनं[14] नासिकाछेदञ्च कृत्वा द्वाराद्बहिर्निष्कासितः।

ततो घृतसिक्तानलवत् कोपं गत्वाऽब्रवीत्–हे निर्वेग, युष्माकं चेदनङ्गहस्तेन यमायतनं न [15]दर्शयामि तदहमनङ्गचरणद्रोहको भवामि। एवमुक्त्वा निर्गतो बन्दी।

---

१ प्रति सह ख०। २ कस्तावकस्त–च०। ३ नामावलीमि–च०। ४ नयन्तु च०। ५ सम्यक्त्ववीरेण ख०। ६ सशिको व–च०। सशाङ्गीकृता क०। ७ संगरे म–क०, ख०, ग०, ङ०। ८ दर्शयति च०। ९–मेकोस्थि–च०। १० अधम ख०, क०। ११ –मुपहसितम् ख०, च०। १२ मोहं ह–ग०। मा क०। १३ निर्वेगोत्थाय क०, ग०, घ०, च०। १४ मुण्डितं ना–च०। १५ दर्शयिष्यामि ख०।

§ ६. ततस्तमागच्छन्तमेवंविधं मकरध्वजं प्रति कैश्चिद् दृष्ट्वा परस्परं विहस्योक्तम्-अहो, पश्यत पश्यत बन्दिनोऽवस्थाम् । कीदृशो भूत्वाऽऽगच्छति ?

ततः स उवाच-अहो हताश, प्रथमं ममैवं सञ्जातम् । अधुना युष्माकमपीत्थमेवं (व) भविष्यति । यतो यस्मिन् कार्ये प्रथमं यादृशी शकुनलब्धिः स्यात्तादृशं तत्कार्यं भवति । तथैवं मे प्रथमं सञ्जातम् । तदत्रैवेदं शकुनम् । तदधुना यद्यस्ति शक्तिस्तद्युद्धं क्रियते(ताम्) । अथवा देशत्यागेन जीव्यंते(ताम्) । ५

एवं श्रुत्वा मन्मथो बन्दिनमपृच्छत्-अरे बहिरात्मन्, स जिनः किं वदति ? तदाकर्ण्य सम्मुखो भूत्वाऽब्रवीद् बन्दी-हे स्वामिन्, पश्यन्नपि किं न पश्यति ? अन्यच्च-

जनो ज[3]नोक्तिं या(यां) ब्रूते सा सत्याऽस्मिंश्च दृश्यते ।
विद्यमानं शिरो हस्ते कति घाताश्च[4] तत्क[5]रे ॥ २९ ॥ १०

तथा च-

कोऽस्मिँल्लोके शिरसि सहते यः पुमान् वज्रघातं
कोऽस्तीदृक् यस्तरति जलधिं बाहुदण्डैरपारम् ?
कोऽस्त्यस्मिन् यो दहनशयने सेव[6]ते सौख्यनिद्रां
ग्रासैर्ग्रासैर्गिलति सततं कालकूटश्च कोऽपि ॥ ३० ॥ १५

अ[7]न्यच्च-

सन्तप्तं द्रुतमायसं पिबति कः को याति कालगृहं
को हस्तं भुजगानने क्षिपति वै कः सिंहदंष्ट्रान्तरे ।
कः शृङ्गं यममाहिषं निजकरैरुत्पाटयत्याशु वै
कोऽस्तीदृग् जिनसम्मुखो भवति यः संग्रामभूमौ पुमान् ॥ ३१ ॥ (युग्मम्) २०

एवं बन्दिनो वचनमाकर्ण्या[8]रुणलोच[9]नः क्रुद्ध्यमानो भूत्वा(क्रुद्ध्यन्) निर्गतो मकर[10]-ध्वजः । तद्यथा-

सीमां[11] यथाऽपार्श्व[12] विनिर्गतोऽम्बुधिः
केतुर्यथा क्रुद्धशनैश्चरो यथा ।
कल्पान्तकालेऽद्भुतपावको यथा २५
विनिर्गतो भाति [13]तथा मनोभवः ॥ ३२ ॥

---

१ 'अधुना' च० पुस्तके नास्ति । २ जीवति क० । ३ जिनोक्ति वा क०, ख०, ङ० । ४ यातश्च ग० । घोताश्च च० । ५ तस्करे क०, ख०, ङ०, च० । तस्करः ग० । ६ सेव्यते सौ-च० । ७ 'अन्यच्च' च० पुस्तके नास्ति । ८ अरुणवर्णलो-क०, ग०, घ०, ङ० । ९-लोचनक्रुद्धमानो भू-क०, ग०, ङ०, च० । १० 'मकरध्वजः' ख०, ङ० पुस्तकयोर्नास्ति । ११ "सीमां यथा त्यज्य विनिर्गतो भाति तथा मनोभवः" इत्येवं खण्डितमशुद्धञ्च पद्यं ख० पुस्तके वर्त्तते । १२ त्यज्य वि-ख०, ङ० । १३ यथा च० ।

तस्मिन्नवसरे तस्या[1]पशकुनानि बभूवुः । तद्यथा–

शुष्कारिष्टस्थितो[2]ऽरि[3]ष्टो विरौति[4] विरसस्वनैः ।
पूर्व्वदिक् ध्वांक्ष[5]वज्ञाता पथि वामो गतः फणी ॥ ३३ ॥
लग्नोऽनलः प्रचण्डश्च खररवौ खरोलूकौ ।
दृष्टौ शूकरशशकौ गोधानकुलौ शिवासखा(खः) ॥ ३४ ॥
तारस्वरेण सुमुखो(शुनको) रोदिति कर्णौ धुनोति सम्मुखो भूत्वा ।
दृष्टो रिक्तघटो वै पुरतः शरटं तथा तु(तथौतु) मद्राक्षीत् ॥ ३५ ॥

त[6]था च–

अकालवृष्टिस्त्वथ भूमिकम्पो नि[7]र्वातमुल्कापतनं प्रचण्डम् ।
इत्याद्यनिष्टानि ततो बभूवुर्निवारणार्थे सुहृदो यथैव ॥ ३६ ॥

एतान्यपशकुनान्यवगणय्यमाणो(न्यवगणयमानो)[8]मदनो यावन्निर्गतस्तावत्तस्मिन्नवसरे यादृशं यत्प्रवृत्तं तन्निरूप्यते ।

दिक्चक्रं चलितं भयाज्जलनिधिर्जातो महाव्याकुलः
पाताले चकितो भुजङ्गमपतिः क्षोणीधराः कम्पिताः ।
भ्रान्ता सुपृथिवी महाविषधरा क्ष्वेडं[9] वमन्त्युत्कटं
जातं सर्वमनेकधा रतिपतेरेवं चमूनिर्गमे ॥ ३७ ॥

तथा च–

पवनगतिसमानैरश्वयूथैरनन्तै–
र्मदधरगजयूथै[10]राजते सैन्यलक्ष्मीः ।
ध्वजचमरवरास्त्रैरावृतं[11]खं समस्तं
पटुपटहमृदङ्गैर्भेरिनादैस्त्रिलोकी ॥ ३८ ॥

[12]अश्वाङ्घ्र्याहतरेणुभि[13]र्बहुतरैर्व्याप्तं त्वशेषं नभः
छत्रैरावृतमन्तरालमखिलं व्याप्ता च वीरैर्धरा[14] ।
निर्घोषै रथजैः स्व[15]नः प्रपतितं(तः)कर्णेऽपि न श्रूयते
वीराणां निनदैः प्रभूतभयदैर्युक्ता प्रपन्ना चमूः ॥ ३९ ॥

§ ७. एवमुभयसैन्यकोलाहलमाकर्ण्य सञ्ज्वलनेनैवं हृदि चिन्तितम्–किमयमनङ्गो मूर्खः ? यतो जिनबलं सबलं दृश्यते । तत्किं करोमि ।

---

१ तस्य मकरध्वजस्य । २ स्थितौ घ० । ३–रिष्टौ क०, घ, ङ० । ४ विरौती घ० । ५ ध्वक्षथुर्जाता–ख० । ६ 'तथा च' च० पुस्तके नास्ति । ७ निर्वातमु–क०, ग०, घ०, ङ०, च० । ८–न्यवगम्यमाणो क०, ग०, घ०, ङ०, च० । ९ "क्ष्वेडस्तु गरलं विषम्" इत्यमरः । १० राजितैः ङ०, च० । ११ खमाकाशम् । "खं विहायो वियद्व्योम" इति धनञ्जयः । १२ अश्वा युद्धतरे–क०, ग०, घ०, ङ०, च० । १३ वरतरैर्व्या–ङ० । १४ 'बहुतरैः' इत्यारभ्य धरा' इति पर्यन्तः पाठः ङ० पुस्तके नास्ति । १५ स्वनं प्र–ख० ।

उक्तञ्च[1] यतः–

"उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये ।
पयःपानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्द्धनम् ॥ ४ ॥
प्रायः[2] सम्प्रति कोपाय सन्मार्गस्योपदेशनम् ।
निर्लूननासिकस्यैव विशुद्धादर्शदर्शनम् ॥ ५ ॥
मूर्खत्वं[3] हि सखे ममापि रुचितं तस्मिंस्तदष्टौ गुणा
निश्चिन्तो बहुभोजनो वठरता रात्रौ दिवा सुप्यते ।
कार्याकार्यविचारणान्धबधिरो मानापमानौ समौ
दत्तं सर्वजनस्य मूर्ध्नि च पदं मूर्खः सुखं जीवति ॥ ६ ॥
मूर्खैरपक्वबोधैश्च[4] सहालापैश्च[5](पि च)तुष्फलम् ।
वाचां व्ययो मनस्तापस्ताडनं दुष्प्रवादनम् ॥ ७ ॥"

इति । तथापि परं[6] किञ्चिद्भणिष्यामि यतो[7]ऽयमस्मत्स्वामी[8] । एवमुक्त्वा सम्मुखो भूत्वाऽब्रवीत्–देव, दुर्द्धरोऽयं जिनराजः । ततः किमनेनच्छलेन प्रयोजनम् ?

ततः स्मर ऊचे–अरे मूढ, क्षत्रियाणां छलार्थं जीवितम्[9] ? [10]उक्तञ्च–

"यज्जीव्यते[11] क्षणमपि प्रथितं मनुष्यै–
र्विज्ञानशौर्य्यविभवार्य्यगुणैः समेतम् ।
तन्नाम जीवितफलं प्रवदन्ति[12] तज्ज्ञाः
काकोऽपि जीवति[13] चिरञ्च बलिञ्च भुङ्क्ते ॥ ८ ॥"

अन्यच्च[14]–प्रथमं[15] मे[16] रत्नानि गृहीत्वा गतः । द्वितीयं मम दूतापमानं[17] कृतम् । तृतीयं जगत्प्रसिद्धबन्दिनो नासिकाछेदः[18] कृतः । चतुर्थे स्वयमेवा[19]क्रम्यागतोऽस्ति । [20]तदे-तच्छलं सिद्धयङ्गनार्थं [21]परित्यजन् न लज्जेऽहम् । अन्यच्च, यदि कथमपि जिनं संग्रामे प्राप्नोमि, तत्सुरनरकिन्नरयक्षराक्षसफणीन्द्रादीनां [22]यत् कृतं तत् करिष्यामि । यतो हि प्रभूतदिवसपर्यन्तं स्वगृहाभ्यन्तरे गर्जनां [23]कुर्वन् सुखेन स्थितः । अतो मद्गुरायां पतितः कुतो यास्यति ।

५ १० १५ २०

---

१ पञ्च० मि० भे० ४२० । २ यश० च० ६।२७० । ३ "मूर्खत्वं सुलभं भजस्व कुमते मूर्खस्य चाष्टौ गुणा निश्चिन्तो बहुभोजनोऽतिमुखरो रात्रिंदिवं स्वप्नभाक् ।·········मानापमाने समः प्रायेणामयवर्जितो दृढवपुर्मूर्खः सुखं जीवति ॥"–सुभाषित० भा० ४१।६६ । ४ सहालपञ्च–ग० । ५ च निष्फलम् ग० । ६ 'परं' च० पुस्तके नास्ति ७ ततोऽयम–च० । ८ 'स्वामी' इति च० पुस्तके खण्डितः । ९ क्षत्रियाणां जीवितं छलार्थम् ख०, ङ० । १० पञ्च० मि० भे० २४ । ११ जायते क्ष–क०, घ०, च० । १२ प्रज्ञाः च० । १३ चिराय ङ० । पञ्च० मि० भे० । १४ 'अन्यच्च' ख० पुस्तके नास्ति । १५ प्रथमे क०, ङ० । १६ 'मे' क०, घ०, ङ०, च० पुस्तकेषु नास्ति । १७ कृतः क०, ङ० । १८–च्छेदः कुर्वन्तं नियमेन निरोधः कृतः क०, घ०, ङ०, च० । १९ चङ्क्रम्या–क०, घ०, ङ०, च० । २० तदेवच्छ–ख०, घ० । २१ परितस्त्यजनुपयोजयन्नित्यर्थः । २२ यत्कृतं त–च० । २३ कुर्वन्नयत् घ०, ङ०, च० ।

उक्तञ्च–

"तावच्छौर्यं ज्ञानसम्पत् प्रतिष्ठा तावच्छीलं संयमः [1]स्यात्तपश्च ।
तावत् सिद्धिः सम्पदो विक्रमो वै यावत् क्रुद्धः सङ्गरे नाहमेकः [2] ॥ ९ ॥"

§ ८. ततो बन्दिनाऽभिहितम्–देव, पश्य प[3]श्य । स[4]म्प्राप्तः सम्प्राप्तोऽयं जिननाथः
५ तत्किमेवं ग[5]लगर्जसि । एवमुक्त्वा बन्दी स्मरं प्रति जिन[6]सुभटान् दर्शयामास ।
तथा च–

पश्य निर्वेगवीरोऽयं ख[7]ड्गहस्तो महाबलः[8] ।
पश्य दण्डाधिनाथोऽयं सम्यक्त्वाख्यो हि दुर्द्धरः ॥ ४० ॥
सम्मुखो दुर्द्धरोऽयं वै तत्त्ववीरोऽतिदुर्ज्जयः ।
१० सम्प्राप्ताः पश्य पश्यैते महाव्रतनरेश्वराः ॥ ४१ ॥
ज्ञानवीरा महाधीरा यैर्जितं सचराचरम् ।
प[9]श्यायं संयमो वीरो वैरिणामपरो यमः ॥ ४२ ॥

एवमाद्यनन्तं[10] जिनसैन्यं यावद्बन्दिना दर्शितं तावन्मदनबलं वेगेन[11] निर्गतम् ।
ततोऽनन्तरं [12]जयका(क)रणार्थं दलयुगलमामिलितम्[13] । तद्यथा–

१५ तीरैर्वाचालभल्लैः परशुहयगदामुद्गरार्द्धेन्दुचापै-
र्नाराचैर्भिण्डिमा(पा)ला(लैः)हलक्षयमुसलैः[14] शक्तिकुन्तैः कृपाणैः ।
पट्टीशैश्चक्रवज्रप्रभृतिभिरपरैर्दिव्यशस्त्रैस्तथास्त्रै-
रन्योन्यं युद्धमेवं मिलितदलयुगे वर्त्तते सद्भटानाम् ॥ ४३ ॥

तथा[15] च–

२० [16]एके वै हन्यमाना रणभुवि सुभटा जीवशेषाः पतन्ति
ह्येके मूर्च्छा प्रपन्नाः स्युरपि च पुनरुन्मूर्छिता वै [17]भवन्ति ।
मुञ्चन्त्येकेऽट्टहासं[18] निजपतिकृतसम्मानमाद्यं प्रसादं
स्मृत्वा धावन्ति चाग्रे [19]जिनसमरभयाः प्रौढिवन्तो हि भूत्वा[20] ॥ ४४ ॥
एके वै कातराणां समरभरवशात् त्रासमुत्पादयन्ति
२५ ह्येके सम्पूर्णघातैरुपहतवपुषो[21] नाकनारीप्रियाः[22] स्युः ।

---

१ चात्र पश्य घ० । श्चात्रपस्य ङ० । श्चात्तपस्य क० । २ मेकम् क०, घ०, ङ० । ३ पश्य क०, घ०, ङ०, च० । ४ 'सम्प्राप्तः' क०, ख०, ङ०, च० पुस्तकेषु नास्ति । ५ गर्जसे ख० । गल्लस्थो गर्जो यस्यासौ तथोक्तस्तमिवात्मानमाचरसीति गल्लगर्जसि । ६ वीरान् द–ख० । ७ खर क०, घ०, ङ०, च० । ८ महाबली ख० । महाबलैः ङ० । ९ पश्येयं घ०, ङ०, च० । यस्योऽयं सं–क० । १० एवमादितं जि–क०, घ०, च० । ११ धावन् नि–ख० । मयवे नि–च० । यवे नि–घ० । १२ जिनका–घ०, ङ०, च० । रणका–ङ० । १३–मामीलितम् क०, च० । १४ जसमु–ख० । १५ 'तथा च' क०, घ०, ङ०, च० पुस्तकेषु नास्ति । १६ केचिद् वै ङ० । एवं वै–च० । १७ भरन्ति क०, ङ०, च० । १८–ट्टहासानि–ख० ।–हास नि–च० । १९ जितस–ख० । २० न विद्यन्त उपरिलिखितपद्यस्यान्तिमषट्चरणानि घ० पुस्तके । २१ वपुषे ख० । मृताः सन्तः । २२ नाकनारिप्रिया क०, ख० । देवाङ्गनाप्रेमपात्राः ।

एके ये[1] धीरधैर्या रिपुहतजठरालम्ब्य(म्ब)मानान्त्रजाला-
घातैः संभिन्नदेहा अपि भयरहिता वैरिभिर्यान्ति योद्धुम् ॥ ४५ ॥
एके विभ्रान्तनेत्रास्त्रुटितपदभुजा[2] शोणितैर्लिप्तदेहाः
सङ्ग्रामे भान्ति वीरा द[3]वतरुगहने[4] पुष्पिताः किंशुकाः स्युः ।
अन्योन्यं बाणघातोच्छलितभटशिरोराहुशङ्कां दधेऽर्कौ[5] ५
युद्धं मिथ्यात्वनाम्नस्त्विवति समरभरे वर्तते दर्शनस्य ॥ ४६ ॥

एवं यावदुभौ विग्रहं कुरुतस्तावद्यो जिनस्याग्रणीर्दर्शनवीरः स मिथ्यात्ववीरेण सङ्ग्रार्णवे भङ्गमानीतः । ताव[6]त् कीदृशः सङ्ग्रार्णवः । तद्यथा-

मेदोमांसवसादिकर्दमयुतो रक्ताम्भसा पूरितः
प्रध्वस्ताश्वखुरौघ[7]शुक्तिसहितः छत्रादिफेनाकुलः । १०
नानावीरकिरीटमौक्तिकमहारत्नादिशिक्ता[8] (सिकता)न्वितो
मिथ्यात्वाद्भुतबाडवानलयुतः कोलाहलैर्गर्जितः ॥ ४७ ॥
तत्रासिच्छुरिकादिशस्त्रनिचयो[9] भातीव मीनाकृतिः
केशस्नायुशिरा[10]न्त्रजालनिचयः शैवालवद् दृश्यते ।
[11]यानीभेन्द्रकलेवराणि पतिता[12]नीदृग्रणाम्भोनिधौ १५
[13]पोतानीव विभान्ति तानि रुधिरे वाऽस्थीनि शङ्खा इव ॥ ४८ ॥
वीक्ष्येदृग्रणसागरं जिनपतेः सैन्यञ्च नश्यत्यलं
मार्गं [14]त्यज्य(त्यक्त्वा वर्त्म)विशत्यमार्गनिचये दीना[15](नं)जनं(ना)शङ्कितम् ।
धीरत्वं स्वपतेर्न लक्षयति तद्वाञ्छत्यहो मन्दिरं
मिथ्यात्वस्य भया[16]तुरेषु[17] शरणं [17]गच्छत्स्वनेकेषु च ॥ ४९ ॥ २०
त्यक्तात्मशरणं जात[18]मतीचारे प्रवर्त्तितम् ।
कस्यापि मन्यते[19] नाम्नां मिथ्यात्वेनेति[20] तर्जितम् ॥ ५० ॥

§ ९. यावदेवं प्रवर्त्तते तावद्ग[21]गनस्थिता ब्रह्मा[22]द्यास्त्रिदशाः कौतूहलं विलुलोकिरे । तत्र पितामहः प्रोवाच-भो सुरनाथ, पश्य पश्य जिनस्य सैन्यं भज्यमानं दृश्यते । ततः

---

१ हा धी-ख० । जे धी-क० । २ पदभुजाशो-ङ०, च० । ३ हृदत-ख० । द्रव त-घ०, च० । इव त-ङ० । ४ गहनैः पु-घ०, ङ० । ५-धेऽर्कैः घ०, च० । ६ तत्की-ख० । ७-रोऽथ शु-च० । ८ शक्तान्वि-क०, च० । ९ 'शिक्तान्वितो' इत्यारभ्य 'शस्त्रनिचयो' इति पर्यन्तः पाठः ख० पुस्तके नास्ति । १० शिरा नाडी । "नाडी तु धमनिः सिरा" इत्यमरः । ११ गजेन्द्रशरीराणि । "द्विरदेभमतङ्गमाः" इति धनञ्जयः । १२ पतिता तादृ-क०, घ०, च० । १३ चिन्त्यमत्र नपुंसकत्वम् । १४ अत्र क्त्वाप्रत्ययान्तत्वमेव साधु । १५ मार्गस्य दीनत्वोक्त्या तस्योत्तमजनगर्हणीयत्वं व्यञ्जितम् । १६ भयातुरेषु श-क०, ङ०, च० । १७ गच्छन्ति अन्येषु च क०, घ०, ङ०, च० । १८ अतीचारेऽपथ इत्यर्थः । १९ शानं मि-क०, घ०, ङ०, च० । २०-ति अर्जितः ख० । २१ गगनं स्थित्वा घ० । २२ 'द्यास्त्रिदशाः' इत्यारभ्य 'अम्भोजभव' इति पर्यन्तः पाठः घ०, च० पुस्तकयोर्नास्ति ।

शचीपतिरवोचत्–भो अम्भोजभव, यावन्निर्वेगसहितः प्रचण्डसम्यक्त्ववीरः न प्राप्नोति तावज्जिनसैन्यस्य भङ्गो[1] भविष्यति। तदिदानीं क्षणमेकं स्थिरीभव, यावत्सम्यक्त्वनिः[2]शङ्काशक्तिघातेन शतखण्डीभूतं मिथ्यात्वं न दर्शयामि।

पुनः स चाह–भो शक्र, यदि कथमपि मिथ्यात्वस्य भङ्गो भविष्यति तन्मोहमल्लः ५ केन जेतव्यः? उक्तञ्च–

"न मोहाद्बलवान् धर्मस्तथा दर्शनपञ्चकम्।
न मोहाद्बलिनो देवा न मोहाद्बलिनोऽसुराः[3] ॥ १० ॥
न मोहात् सुभटः कोऽपि त्रैलोक्ये [4]सचराचरे।
यथा गजानां गन्धेभः[5] शत्रूणाञ्च तथैव सः ॥ ११ ॥"

१० तच्छ्रुत्वा सुरेन्द्रो विहस्योवाच–हे पद्मयोने[6], तावन्मोहस्य पौरुषं यावत् केवलज्ञान[7]वीरो न दृश्यते। उक्तञ्च यतः–

"निद्रामुद्रितलोचनो मृगपतिर्यावद्गुहां सेवते
तावत्स्वैरममी चरन्तु हरिणाः स्वच्छन्दसञ्चारिणः।
उन्निद्रस्य विधूतकेसरसटाभारस्य निर्गच्छतो
१५ नादे श्रोत्रपथं गते हतधियां सन्त्येव दीर्घा दिशः[8] ॥१२॥
[9][10]तावद्गर्जन्ति फूत्कारैः काद्रवेया विषोत्कटाः।
यावन्नो दृश्यते शूरो वैनतेयः [11]खगेश्वरः ॥ १३ ॥"

ततः [12]पङ्कजभवोऽवोचत्[13]–भो [14]कुलिशधर, यदि कथमपि संग्रामे केवलज्ञानवीरेण मोहो जितस्तन्मदनराजस्य मनोमातङ्गं धावन्तं धर्त्तुं कः समर्थोऽस्ति? तदेतदनिष्टं २० जिनेश्वरेण कृतं यदनेन सह युद्धं कर्त्तुमारब्धम्। यतोऽस्माभिरस्य पौरुषं [15]दृष्टं श्रुतमनुभूतमस्ति। अन्यच्च, ये ये चानेन जितास्तान् [16]प्रकटान् किं कथयामि। एवमुक्त्वा सम्मुखं गत्वा सुरेन्द्रश्रवणे सकलं वृत्तान्तमकथ(य)त्। 'अहं शङ्करो हरिश्चेति त्रयोऽप्येकत्र मिलित्वा वयं मदनोपरि युद्धार्थं चलिताः। ततोऽनन्तरं शङ्कर एवं ववाद–"अहं मदनारिरिति जगत्प्रसिद्धः।" एवं तस्य वचनबलादावामपि[17] सगर्व्वौ जातौ।

२५ ततो गिरिजेशो मदनारिनामगर्वादग्रेऽग्रे धावन्निर्गतो यावद् मदनस्थानं सम्प्राप्तस्तावत्तेन सम्मुखो दृष्टः। तदनन्तरं स्वबाणेनैकेन मदनेन [18]श्रीकण्ठो वक्षस्थले विद्धो

---

१ भङ्गो भवेत् घ०, च०। २ सम्यक्त्वस्य नि–ख०। ३–नो नराः क०, घ०, ङ०, च०। ४ सचराचरः च०। ५ गन्धप्रधान इभो गन्धेभः, प्रमुखहस्तीत्यर्थः। ६ पद्मयोने ब्रह्मन्।, "पद्मयोनिरयोनिजः" इति धनञ्जयः। "७ बाह्येनाभ्यन्तरेण च तपसा यदर्थमर्थिनो मार्गं केवन्ते सेवन्ते तत्केवलम्। असहायमिति वा।" —स० सि० १।९। ८ "······गते गतधियः सन्त्येव दीर्घायुषः।"–सुभाषितत्रि० २३१।५१। ९ पद्यमिदं क०, घ०, च० पुस्तकेषु नास्ति। १० पद्यमिदं ख० पुस्तके नास्ति। ११ खे व्योम्नि गच्छन्तीति खगाः पक्षिणस्तेषामीश्वरः स्वामी। १२ पङ्कजभवो ब्रह्मा।–१३–वो वक्ति क०, ख०, ङ०, च०। १४ कुलिशं वज्रं धरतीति यथोक्त इन्द्रः, तत्सम्बुद्धौ हे कुलिशधर। १५ 'दृष्टं' ख० पुस्तके नास्ति। १६ प्रत्येकान् किं–ख०। १७ हरिब्रह्माणावपि। १८ श्रीकण्ठो हरः। "उग्रः कपर्दी श्रीकण्ठः" इत्यमरः।

मूर्च्छां प्रपन्नो निपपात।[1] तस्मिन्नवसरे गि[2]रितनुजया निजवसनाञ्चलेन वातं कृत्वा निजमन्दिरं नीत्वा गङ्गाजलेन संसिक्तः स्वस्थोऽभूत्।

इतोऽनन्तरं नारायणो बाणद्वयेन हतः। तस्मिन्नवसरे कमलाऽनङ्गपादयोर्लग्ने। ततः पुरुषभिक्षां ययाचे—देव, मम भर्तृ[3]दानं दीय[4]ताम्। र[5]क्ष मे(मां) वैधव्यम्(व्यात्)। [7] मुक्त्वा स्वगृहं निर्[6]नाय।

त[8]द्बाणद्वयेन मां विव्याध। तदवसरे ऋश्य[9]या रक्षितोऽहम्। तदुपकारात्तद्दिन-प्रभृति ऋश्या मम [10]भार्या बभूव।

तदेतद्वृत्तान्तं[11] त्वां प्रति कथ्यते, यतः कथनयोग्यस्त्वम्। अन्यान्यमूढान् प्रति चेत् कथ्यते तत् केवलं हास्यं भवति। यतः प्रसूता एव वेदनां वेत्ति, न च वन्ध्या। तदस्मत्सदृशानां देवानां य एवंविधस्त्रासो[12] दर्शितस्तत्र जिनेश्वरस्य किं प्रष्टव्यम्। यतो जिनः, सोऽपि देवसंज्ञकः।'

तच्छ्रुत्वाऽत्रार्थे सुरेन्द्रः प्रमाणवचनमवोचत्—[13]अहो भवन्, भवत्वेवम्, परं किन्त्व[14]न्तरान्तरमस्ति। [15]उक्तञ्च यतः—

> "[16]गोगजाश्वखरोष्ट्राणां काष्ठपाषाणवाससाम्।
> नारीपुरुषतोयानामन्तरं[17] महदन्तरम्॥ १४॥"

तत्किं देवत्वेन समत्वं प्राप्यते? तथा च—

> [18]मीनं भुङ्क्ते सदा शुक्लः पक्षौ द्वौ गगने गतिः।
> निष्कलङ्कोऽपि चन्द्राच्च(चन्द्रेण)न याति समतां बकः॥ ५१॥

---

१ ततस्तस्य जायया नि—ख०। २ गिरितनुजा गौरी, तया। ३ भर्तुर्नारायणस्य दानं जीवनदानमित्यर्थः। ४ दीयते च०। ५ 'रक्ष मे' च० पुस्तके नास्ति। ६ 'सा कमला तम्' इत्यध्याहार्यम्। ७ हरिहरवत्। ८ 'स' इत्यध्याहार्यम्। ९ ऋश्या मृगी। "एणः कुरङ्गमो ऋश्यः स्यादृश्यश्चारुलोचनः।" इति पुरुषोत्तमः। १० "एवं हि पुराणेषु प्रसिद्धम्—'ब्रह्मा स्वदुहितरं सन्ध्यामतिरूपिणीमालोक्य कामवशो भूत्वा तामुपगन्तुमुद्यतः। सा चायं पिता भूत्वा मामुपगच्छतीति लज्जया मृगीरूपा बभूव। ततस्तां तथा दृष्ट्वा ब्रह्माऽपि मृगरूपं दधार। तच्च दृष्ट्वा त्रिजगन्नियन्त्रा श्रीमहादेवेनायं प्रजानाथो धर्मप्रवर्तको भूत्वाऽप्येतादृशं जुगुप्सितमाचरतीति महताऽपराधेन दण्डनीयो मयेति पिनाकमाकृष्य शरः प्रक्षिप्तः। ततः स ब्रह्मा व्रीडितः पीडितश्च सन् मृगशिरोनक्षत्ररूपो बभूव। ततः श्रीरुद्रस्य शरोऽप्यार्द्रानक्षत्ररूपो भूत्वा तस्य पश्चाद्भागे स्थितः। तथा चार्द्रामृगशिरसोः सर्वदा सन्निहितत्वादद्यापि न त्यजति, इत्युक्तम्।"—म० स्तो० म० टी० २२। ११ "वार्ता प्रवृत्तिर्वृत्तान्त उदन्तः स्यात्" इत्यमरः। वृत्तान्तशब्दस्य नपुंसकत्वं चिन्त्यमत्र। १२—त्रासः क्लेशः। १३ अहे ब्र०—च०। १४ अन्तरेऽप्यन्तरं भवति। न ह्यन्तरं कदाचिदप्येकरूप भवितुमर्हतीति तात्पर्यम्। १५ हितोप० सुहृ० ३५। १६ वाजि-वारणलोहानां का—ख०। १७—मन्तरान्म—ग०, घ०, ङ०, च०। १८ चन्द्रो मीनं मीनराशिं भुङ्क्ते, बकश्च मीनं मत्स्यराशिमश्नाति। सदा शुक्लत्वमुभयोरपि वर्त्तत एव। चन्द्रस्य कृष्णशुक्लत्वेन द्वौ पक्षौ, बकस्यापि गतिहेतू तौ द्वौ। गगनचारिणावप्युभौ। निष्कलङ्कत्वमप्युभयोः सममस्ति। इति तुल्यतायामपि न ह्युभयोरेकत्वं सम्भवति यथा, तथा हरिहरब्रह्मादीनां जिनेन्द्रस्यापि च समानत्वेऽपि देवाभिधेये न वरीवर्ति तादृशी समत्वकल्पनेति रहस्यम्।

§ १०. ततोऽनन्तरं सम्यक्त्ववीरेण यावत्स्वसैन्यं भंज्यमानं दृष्टम्,[1] तावद्धावन्नागत्य(धावं धावमागत्य) 'अरे रे भवद्भिर्मा [3]भेतव्यम्' इ[4]त्युक्त्वाऽऽत्मदलस्याश्वासनं कृत्वा जिनराजं प्रति प्रतिज्ञां(ज्ञा)गृहीतवान्(गृहीता)। तद्यथा—

(५)

ये [5]चर्मसंस्थितदधिर्जलतैलभोजिनो
५ ये क्रूरजीवगणपोषणतत्परा नराः।
ये रात्रिभोजनरता व्रतशीलवर्जिता
ये निष्कृपाः कृततिलादिकधान्यसंग्रहाः॥ ५२॥
द्यूतादिकव्यसनस[6]प्तकशीलिनो हि ये
हिंसारताश्च जिनशासननिन्दका नराः।
१० ये क्रोधिनः खलु कुदेवकुलिङ्गधारिणो
ये चार्तरौद्रसहिताः स्युरसत्यवादिनः॥ ५३॥
ये शून्यवादिन उदुम्बरपञ्चकाशिनो
लब्ध्वा त्यजन्ति किल जैनमहाव्रतानि ये[7]।
तेषां भवामि सदृशो दुरितात्मनामहं
१५ मिथ्यात्वनामसुभटं न जयामि चेद्रणे॥ ५४॥ (संदानितकम्)

एवंविधप्रतिज्ञारूढो भूत्वा सम्यक्त्ववीरो जिनमानम्य निर्गतः। ततो मिथ्यात्वं प्रत्याह—अरे[10] मिथ्यात्व, सम्प्राप्तोऽहमधुना। मा [11]भङ्गं यासि। यतो गगनस्थानाममराणां विद्यमानमु[12]भयबल(लं)प्रत्यक्षम्। आवयोर्विग्रहेणा[13]नङ्गजिनयोर्जयो [14]वाऽजयो भविष्यति।

ततो मिथ्यात्ववीरोऽवोचत्—अरे सम्यक्त्व, गच्छ गच्छ। किं ते [15]मरणेन प्रयो-
२० जनम्? प्रथमं दर्शनवीरस्य यादृशस्त्रासो दर्शितस्तादृशं यत्ते न करोमि चेत्तदा स्मरचरणद्रोहकोऽहं भवामि।

तदाकर्ण्य सम्यक्त्ववीरोऽब्रवीत्—अरे अधम, किमेतज्जल्पसि? यद्यस्ति शक्तिस्ते तत् स्वशस्त्रसंस्मरणं कुरु। एवं वचनमात्रश्रवणाद् मिथ्यात्ववीरस्तस्य सम्यक्त्ववीरोपरि मूढत्रयबाणावलीं मुमोच। ततः सम्यक्त्वेनान्तराले [16]षडायतनबाणैर्विध्वंसिता। ततो-
२५ ऽनन्तरं मिथ्यात्ववीरः समररौद्रकोपानलदीप्यमानः शङ्काशक्तिं करतले जग्राह। तद्यथा—

१ भङ्गं प्राप्तमवलोकितम्। भग्यमानं द—क०, ख०, च०। २ धावन्नित्यस्य 'सम्यक्त्ववीरेण' सह विशेषणविशेष्यभावासाङ्गत्यं स्पष्टमेव। ३ न मे—ख०, घ०। ४—ति विश्वासकराणि वचनानि उक्त्वा—ख०। ५ "चर्मस्थमम्भः स्नेहश्च हिङ्ग्वसहृतचर्म च। सर्वं च भोज्यं व्यापन्नं दोषः स्यादामिषव्रते॥—सागारध० ३।१२। ६ सप्तकुशीलितो हि क०। ७ 'ये' ख०, घ० पुस्तकयोर्नास्ति। ८ जिधातुर्न्यूनीकरणे सकर्मकः। ९ एवंविधा प्र-च०। १० रे रे मि—घ०। ११ सङ्ग या—ख०। १२ उभयपक्षीयसैन्यम्। १३—णाङ्गजिन—च०। १४—'वाऽजयो' ख० पुस्तके नास्ति। १५ मरणे प्र—क०, च०। मरणं प्र—घ०। १६ षडावश्यकवा—ख०। षडायतनानि देवशास्त्रगुरुतद्भक्तरूपाणि।

वीरश्रीवेणिरेखा मदनभुजलसद्द्रव्यरक्षाभुजङ्गी
किं वा दुर्वारवैरिक्षितिपतिपृतनानाशकीनाशजिह्वा ।
किं वा क्रोधाग्निकीला किमु विजयवधूमूर्धिमन्मन्त्रसिद्धि-
र्मिथ्यात्वाख्यो हि तस्योपरि समरभरे प्रेरयामास शक्तिम् ॥५५॥

ततस्तूर्णं सम्यक्त्वेन निःशङ्कशक्त्यान्तराले शङ्काशक्तिर्विध्वंसिता । ततो मिथ्यात्ववीरेण आकांक्षाप्रभृतीन्यायुधानि [10]तस्य सम्यक्त्ववीरस्योपरि प्रेरितानि । तावत्तेन[11] सम्यक्त्ववीरेण [12]निष्कांक्षाद्यायुधै[13]र्निवारितानि । ५

एवमन्योऽन्यं तयोस्त्रैलोक्यचमत्कारकारि[14] युद्धं कुर्वतोर्न च कस्यापि भङ्गो भवति, तदा सम्यक्त्वेनैवं मनसि चिन्तितम्–अतः किं कर्त्तव्यम् । यद्यनेन सह [15]सम्यग् युद्धयुक्त्या युद्धं करिष्यामि तदधमोऽयं मम[16] दुर्ज्जयो भविष्यति । [17]तदेकेन घातेनायं हन्यते मया । एवमुक्त्वा परमतत्त्वसुतीक्ष्णासिना [18]जघान । [19]यज्ञोपवीताकृतिच्छेदेन भूमण्डले पातितः । ततोऽनन्तरं मिथ्यात्वसुभटो यावद्धरातले पतितस्तावदन- [20]ङ्गदलं पराङ्मुखमभूत् । तद्यथा– १०

पराङ्मुखं याति यथा तमो रवेर्यथा खगेशस्य भयाद्भुजङ्गमाः ।
[21]स्वनान्मृगेन्द्रस्य यथा गजादयस्तथाऽभवत् कामबलं पराङ्मुखम् ॥५६॥ १५

[22]ततो गगनस्थितेनामरेन्द्रेणाम्बुजभवं[23] प्रत्यभिहितम्–भो [24]पितामह, पश्य पश्य सम्यक्त्वेनानङ्गसैन्यं पराङ्मुखीकृतम् । ततो जिनसैन्ये जयजयरवसमेतः परमानन्दकोलाहलः सञ्जातः ।

ततोऽनन्तरं मदनेनात्मसैन्यं [25]भज्यमानं दृष्ट्वा परबलकोलाहलमाकर्ण्य मोहं प्रत्येतदुक्तम्–भो मोह, परबलकोलाहलः । कथमेतत् ? । मोहः प्राह–देव, योऽस्मदीयोऽ[26]ग्रणीर्मिथ्यात्ववीरः स[27] सम्यक्त्ववीरेण समराङ्गणे पातितः । तस्मात् परबलं गर्जति । २०

§ ११. एवं तयोर्यावत्परस्परं वदतोस्तावन्न[28]रकानुपूर्वी द्रुततरं [29]नरकगतिस्थानमु-

---

१ बलद्र–ख०, च० । मकरध्वजकरविलसन्ती धननिधानसर्पिणीत्यर्थः । २ पृतना सेना । "ध्वजिनी पृतना सेना" इति धनञ्जयः । ३ कीनाशः कालः । ४ दुर्दमवैरिनरेशसैन्यसंहारे कालजिह्वेवेत्यर्थः । ५ कीला स्फुलिङ्गः । "कीला कफोणघाते स्यात् कीले शङ्कौ च कील्वत्" इति विश्वः । ६ एवंविधां शङ्काशक्तिं मिथ्यात्वभटः सम्यक्त्ववीरस्योपरि प्रेरयामास । ७ तूर्णं त्वरितम् । 'सत्वरं चपलं तूर्णमविलम्बितमाशु च"–इत्यमरः । 'तूर्णं' क०, च० पुस्तकयोर्नास्ति । ८–र्विनाशिता ख० । ९ 'वीरेण' ख०, क० पुस्तकयोर्नास्ति । १० तस्योपरि प्रे–ख०, क० । ११ तेन निःका–ख०, क० । १२ निःकाङ्क्षायु–ख० । निःकाङ्क्षायुधेन क० । १३–र्निर्वारितानि ख० । १४–चमत्कारि यु–ख०, ब० । १५ सम्यक्त्वयु–ख० । १६ 'मम दु'–क०, ब०, क०, च० पुस्तकेषु नास्ति । १७ तदेकेन घा–च० । १८ स तमित्यध्याहार्यम् । १९ योग्योप–च० । २० कामसैन्यम् । २१ सिंहस्य नादे प्रयुक्तः स्वनशब्दो मध्यम एव । अत्र च प्रसिद्धित्यागो दोषः । २२ 'ततो' इत्यारभ्य 'सञ्जातः' इति पर्यन्तः पाठः ख० पुस्तके नास्ति । २३ अम्बुजभवं ब्रह्माणम् । २४ पितामह ब्रह्मन् । २५ भज्यमानं द–च० । २६–योग्रणी मि–च० । २७–वीरः सम्य–च० । २८ "पूर्वशरीराकाराविनाशो यस्योदयाद्भवति तदानुपूर्व्यंनाम ।"–स०सि० ८।११ । २९ "यदुदयादात्मा भवान्तरं गच्छति सा गतिः । यन्निमित्त आत्मनो नारको भावस्तन्नरकगतिनाम ।"–स० सि० ८।११ ।

दिश्य डुढौके[1]। इतः सा नरकगतिरसियत्रमध्ये वैतरिण्यां[2] जलक्रीडां कृत्वा सप्तभूमिका-धवलगृहे यावदुपविष्टास्ति तावन्नरकानुपूर्वी संप्राप्ता। ततः सा नरकानुपूर्वी प्राह-हे सखि, तव भर्ता मिथ्यात्वनामा समराङ्गणे पतितः। तर्कि सुखेनोपविष्टासि त्वम्? एवं सखीवचनमात्रश्रवणात् प्रचण्डवातप्रहतकदलीदलवत् कम्पमाना भूत्वा भूतले

५ पपात[3]। ततस्तत्क्षणाच्चेतनां लब्ध्वा सखीं प्रत्यबोचत्-

> हारो नारोपितः कण्ठे मया विरहभीरुणा[4] (भीतया)।
> इदानीमन्तरे जाताः सरित्सागरपर्वताः[5] ॥५७॥

तथा च-

> उद्यत्प्रेम्णि प्रथमवयसि प्रावृषि प्राप्तवत्यां
> १० स्कन्धावारं[6] मम पतिरसौ निर्गतो मां विहाय।
> सेयं जाता जगति विदिता सुप्रसिद्धा जनोक्ति-
> रग्र[7]ग्रासग्रसनसमये मक्षिकासन्निपातः ॥ ५८ ॥

एवं विजल्प्य पुनरपि नरकानुपूर्वी(र्वी) सखीं प्रति बभाण-हे सखि, मत्प्रियोऽसौ मिथ्यात्वनाम(नामा)मृत इति सत्यं मे न[8] प्रतिभासते। यतः पूर्वं मत्पितरं नरकाभिधं प्रति,

१५ मम देहे वैधव्यचिह्नमालोक्य, केनचिल्लक्षणज्ञेनैवं[9] निरूपितम्-'अहो न युष्मत्पुत्रीयं यावज्जीवमक्षयसौभाग्या भविष्यति। यतोऽस्या देहेऽशुभचिह्नानि दृश्यन्ते।' तच्छ्रुत्वा भूयोऽपि मत्पित्रा तानि चिह्नानि कानीति पृष्टो लक्षणज्ञः। ततस्तेन लक्षणज्ञेन सर्वाण्यपि चिह्नानि कथितानि। ततस्तत्समीपस्थया मया श्रुतानि तान्यद्यापि मद्वपुषि दृश्यन्ते। तानि[10] त्वमाकर्णय-'न[11] (ननु) मे [12]कृष्णमांसानि करालाश्च[13] दन्ताः।'

२० अथ नरकानुपूर्वी ब्रूते-हे सुन्दरि, किं वृथा विलापं करोषि? [14]वार्ता[15]माकर्णय-

> नष्टं[16] मृतमतिक्रान्तं नानुशोचन्ति पण्डिताः।
> पण्डितानाञ्च मूर्खाणां विशेषोऽयं यतः स्मृतः ॥ ५९ ॥

---

१ ढौकृधातोर्गत्यर्थकाल्लिटि रूपमिदम्। डुढौके जगामेत्यर्थः। डुलोके च०। २ वैतरिण्या नरकनद्याम्। "भवेद्वैतरिणी प्रेतनद्यां राक्षसमातरि" इति विश्वः। ३ नरकगतिरित्यध्याहार्यम्। ४ नरकगतेरुक्तौ विरहभीरुणेति विशेषणस्य स्पष्टमेवासाङ्गत्यम्। ५ एतेन नितान्तमसह्योऽयं विरह इति ध्वनितम्। ६ स्कन्धावारं सैन्यावासम्। ७ "प्रथमग्रासे मक्षिकापातः"-भुवनेशलौ० ७५२ इति जनोक्तिः सुप्रसिद्धा। ८ अत्र 'न' इत्यननुगुणम्। ९ लक्षणज्ञेन दैवज्ञेनेत्यर्थः। १० 'तानि' ख० पुस्तके नास्ति। ११ 'न मे' इत्यारभ्य '-माकर्णय' इति पर्यन्तः पाठः ख० पुस्तके नास्ति। १२ कन्यागारीरिककृष्णमांसस्यात्यन्तममङ्गलत्वात् पतिघातसूचकत्वाच्च। १३ स्त्रीदन्तानां करालत्वं विरलत्वं भयङ्करत्वमपि पतिसुतमृत्युदुराचारसूचकम्। "पिङ्गाक्षी कूपगण्डा प्रविरलदशना दीर्घजङ्घो-र्ध्वकेशी......सा कन्या वर्जनीया पतिसुतरहिता शीलचारित्र्यदूरा॥"-सामु० शा० २।३७। १४ मदीयामनुभवपूर्णां नीतिज्ञानुमोदितां च वार्तामित्यर्थः। १५ अतः परं 'कथंभूता' इत्यधिकः पाठः क०, ख० पुस्तकयोरुपलभ्यते। १६ पद्म० मि० से० ३९३।

तथा च–

अशोच्यानि हि भूतानि यो मूर्खस्तानि शोचति।
स [2]दुःखे लभते दुःखं द्वावनर्थौ निषेवते ॥६०॥

अथ [3]सा नरकगतिं प्रति नरकगत्यनुपूर्वी प्रोवाच–तत्तव भर्त्ता सम्यक्त्ववीर-खड्गघातभयभीतः कुमार्गे प्रविष्टोऽस्ति, तद्वृथा शोकं मा कुरु। यत उक्तं[4]च–

"हीयडा संवरि घाहडी मूउ न आवइ कोइ।
अप्पत्रं अजरामरु करिवि पछइ अनेरां रोइ[5] ॥ १५ ॥"

एवं संबोध्य[6] प्रेषिता।

§ १२. ततोऽनन्तरं लोकत्रयशल्यो मोहमल्लोऽनङ्गचरणौ प्रणम्य स्वसैन्यमाश्वास्य निर्गतस्तत्र य[7]त्र केवलज्ञानवीरप्रभृतयस्तिष्ठन्ति, तैः सह मिलितः। तद्यथा– १०

पञ्चेन्द्रियैः पञ्चमहाव्रतानि तथा च शुक्लेन सहार्त्तरौद्रौ।
र[9]णाङ्गणे वा [10]मिलितास्त्रिशल्या योगैः सहेमैश्च यथा [11]मृगेन्द्राः ॥ ६१ ॥
तत्त्वैः [12]सहार्था मिलिता [13]भयेशाः स्वाचारवीरैः सह [14]चास्रवाश्च।
क्षमादमाभ्यां सह [15]रागरोषौ मुण्डैः सहार्था मिलितास्त्रिदण्डाः ॥ ६२ ॥
पदार्थवीरैः सह चानयाश्च धर्मैः सहाष्टादशदोषवीराः। १५
अब्रह्मवीरैः सह ब्रह्मवीरास्तपोऽभिधानैश्च कषायवीराः ॥ ६३ ॥
एवमादि यो यस्य सम्मुखो जातः स तेन सह मिलितः।

ततोऽनन्तरं परमेश्वरेणानन्देन सिद्धस्वरूपनामानं स्वरशास्त्रज्ञं प्रष्टुमारब्धम्–अहो सिद्धस्वरूप, पुराऽस्मत्सैन्यस्य भङ्गः केन प्रकारेण सञ्जातः? अथ स [16]सिद्धस्वरूपो जजल्प-देव, [17]उपशमश्रेणिभूमौ यावत् स्थितं तावद्भङ्गमा (भङ्ग आ) गतं(गतः)[18] त्वत्सैन्यस्य। तद- २० धुना [19]क्षपकश्रेणिमारोहति चेत्तदवश्यं [20]जयवद्भविष्यति। तदाकर्ण्य जिनो [21]जहर्ष। ततो

---

१ "अशोच्यानीह भूतानि...।"–पञ्च० मि० भे० ३६४। २ दुःखेर्लं–क०। ३ वाक्यमिदं क०, ग०, घ० पुस्तकेषु नास्ति। ४ वाक्यं पद्यञ्चेदं क०, ग०, घ० पुस्तकेषु नास्ति। ५ रे हृदय, सहस्वामुमाघातम्। न हि मृत्वा पुनः कश्चिदायाति। आत्मनि (शरीरे) अजरामरबुद्ध्या अद्भुतं दारुणं च रुद्यते प्राणिभिरिति तात्पर्यम्। तथा च नरकगत्यनुपूर्व्यापि नरकगतिराश्वास्यते यद्धे सखि, त्वमपि मा कुरु शरीरेऽस्मिन्नजरामरबुद्धिम्। अशाश्वतोऽयं कायपर्यायः। इति विधाय सत्य तत्त्वमिदं हृद्गतं त्वयापि सोढव्यः शान्त्या पत्युर्विरहः। ६ संतोष्य घ०। ७ 'यत्र' घ० पुस्तके नास्ति। ८ केवलज्ञानीवो–घ०। ९ रणो गणे वा घ०। १० 'मिलिता' इत्यारभ्य अनन्तरोक्तपद्यगत 'मिलिताः' इति पर्यन्तस्त्रुटितः पाठः ग० पुस्तके। ११ मृगेन्द्रैः घ०। १२ सहाथा मि–घ०। सहाथ मि–ग०। १३ सप्त भयेशाः, ऐहिकपारलौकिकवेदनाऽरक्षाऽगुप्तिमरणाकस्मिकभयेशभेदात्। १४ चानयाश्च घ०। १५ रागद्वेषौ ख०, घ०। १६ सिद्धस्वरूप ज–ख०। १७ अपूर्वानिवृत्तिकरण-सूक्ष्मसाम्परायोपशान्तमोहेषु यत्र मोहनीयैकविंशतिप्रकृतीनामुपशमो विधीयते सोपशमश्रेणिः। १८ 'त्वत्सैन्यस्य' ख०, क० पुस्तकयोर्नास्ति। १९ यत्र चारित्रमोहनीयस्य क्षयो विधीयते सा क्षपकश्रेणिः। २० विजयि भविष्यति त्वदीयं सैन्यमित्यर्थः। २१ प्रसन्नो बभूवेत्यर्थः।

बभाण—अहो सिद्धस्वरूप, तर्हि त्वमेव मे सैन्यं क्षपकश्रेणिभूमावारूढं कुरु। तदाकर्ण्य स सिद्धस्वरूपो जिनसैन्यं क्षपकश्रेणिभूमावारूढं कृतवान्। तदवलोक्य जिनोऽति सन्तुतोष।

§ १३. ततोऽनन्तरं रथवरसङ्कटैर्हेषित[1]हययूथैर्मदमरमत्तमातङ्गैर्विस्फुरद्भिर्ध्वजापटैर्दृप्तसम्मुखचरणमहावीरैः पूरितं जिनबलं यावद् दृष्टं तावन्मोहनरेन्द्रः कोपं गत्वा सम्मुखो धावन्नागत्य तमस्तम्भमारोपितवान्। ततो मोहनरेन्द्रः प्राह—अरे रे केवलज्ञानवीर, दृढतरो भव। यदि योद्धुं शक्नोषि तद्दृढतरं मम सम्मुखमागच्छ। अथवा यन्मम घातभयाद्बिभेषि तच्छीघ्रं याहि याहि। किं ते मरणेन प्रयोजनम्।

ततः केवलज्ञानवीरः स क्रुद्धमनो(नाः)भूत्वाऽवोचत्—अरे अधम, किमेतज्जल्पसि? चेदिदानीं सङ्गरे त्वां न जयामि तज्जिनचरणद्रोहकोऽहं भवामि। ततः समरक्रुद्धेन मोहेन आशाकार्मुकात्तस्य केवलज्ञानवीरस्योपरि गारवत्रयबाणावली मुक्ता[2]। ततः केवलज्ञानवीरेण रत्नत्रयबाणेनान्तराले विध्वंसिता। भूयोऽपि केवलज्ञानवीरेण समाधिस्थानं धृत्वा उपशममार्गणेन[3] वक्षःस्थले विद्धः समूर्छो भूमण्डले पातितः। तत्क्षणादुन्मूर्छितो भूत्वा तस्य केवलज्ञानवीरस्योपरि प्रमादबाणावलीं[4] चिक्षेप[5]। ततः केवलज्ञानवीरेण षडावश्यकबाणैस्त्रयोदशविधचारित्रबाणैर्निवारिता[6]। भूयोऽपि केवलज्ञानेन मोहः प्रचारितः[7]—'अरे रे मोह, स्वधनुरेतद्रक्ष रक्ष' इति भणित्वा निर्ममत्वबाणेन तस्य मोहवीरस्य करतलस्थं कार्मुकं चिच्छेद। ततो मोहेन तस्योपरि मदान्धगजघटाः संप्रेषिताः। ततः केवलेन निजकरिघटाभिः संरुद्धाः, पश्चादुपशमघातेन विध्वंसिताः। तदा मोहवीरः प्रकृतिसमूहमानन्देन प्रेरितवान्। तद्यथा—

प्रकृतिनिचयभीता भूधराः सञ्चलन्ति
त्रिदशनरभुजङ्गाः कम्पमाना भवन्ति।
प्रचलति वसुधाऽलं सागरा व्याकुलाः स्युः
प्रकृतिवरसमूहे प्रेरिते[8] वृत्तमेवम्॥ ६४॥

एवं तं प्रकृतिसमूहं महादुर्जयं दृष्ट्वा जिनसैन्यं सभयं भूत्वा प्रकम्पितम्। तदा केवलज्ञानवीरेण[9] सामायिकच्छेदोपस्थापनपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसाम्परायथाख्यातमिति[10] पञ्चविधचारित्रदिव्यायुधघातैः[11] प्रकृतिसमूहश्चूर्णितः। ततो मोहमल्लं समराङ्गणे हत्वा धरातले मूर्च्छान्वितः पातितः। ततोऽनन्तरं 'पुनरुन्मूर्च्छितो भूत्वा अनाचारखड्गं करतले गृहीत्वा स क्रुद्धमना यावत्सम्मुखमागच्छति तावत्केवलज्ञानेनानु-

---

१ "करयं तु मध्यमश्वानां हेषा ह्रेषा च निःस्वनः।" इत्यमरः। २ मोचिता क०, ख०, ङ०, च०। ३ मार्गणेन बाणेन। "शिलीमुखः शरो बाणो मार्गणो रोपणः कणः" इति धनञ्जयः। ४ प्रमाणबा—० । ५ मोह इत्यर्थः। ६ त्रयोदशचारित्रबा—ख० । त्रयोदशबाणैर्नि—ख० । ७ प्रचरति क०, ख०, च० । ८ प्रेरितं वृत्तमेव क०, ख०, च० । ९ केवलेन सा—ख०, ङ० । १० पञ्चचारित्रदि—ख, ङ० । ११ प्राकृतस—च० ।

कम्पाफेरीं[1] करे धृत्वा सम्मुखं स्थित्वा स मोहो निर्ममत्वमुद्गरेण हतो जर्जरितशिरा[2] आक्रन्दनं कुर्वंस्त्रिदशासुरनरविद्याधरविद्यमानो[3] धरातले पातितः। एवं प्रभूतघातहन्यमानो यदा मोहवीरः प्रपतितस्तदा वृत्तान्तमवलोक्य बन्दी मदनं प्रति गत्वा प्रणम्योवाच-भो देव देव, त्रैलोक्य[4]शल्यो मोहमल्लो भङ्गं गतः। अन्यच्च जिनसैन्येन सकलसैन्यं[5] भङ्ग-मानीतम्। तच्छीघ्रं [6]दैवेन कालवञ्चना क्रियते।

तच्छ्रुत्वा रत्योक्तम्-देव[7], बहिरात्मायं बन्दी युक्तमेतद्वदति। यथा गमनोपायो भवति तथा क्रियते(ताम्)। अपरं स्वभावेन शुभतरं भवति। तत्किमनेन वृथाऽभिमानेन प्रयोजनम्। तदवश्यं गम्यते(ताम्), नात्र स्थातव्यम्।

ततः प्रीतिः प्राह-हे सखि, किं भणिष्यसि? मूर्खोऽमम्। पापात्माऽयम्। महाऽऽग्रही। यतः-

> आग्रहश्च ग्रहश्चैव द्वावेतौ लोकवैरिणौ।
> ग्रह एकाकिनं हन्ति, आग्रहः सर्वनाशकः॥ ६५॥[8]

ततो[9] जिनस्य[10] जयश्रीश्चास्माकं वैधव्यं केन [11]वार्यते।

[12]अन्यच्च-

> वचस्तत्र प्रयोक्तव्यं यत्रोक्तं लभते फलम्।
> स्थायी भवति चात्यन्तं रागः शुक्लपटे यथा॥ ६६॥

तदाकर्ण्य मदनेनोक्तम्-हे प्रिये, वचनमेतदाकर्णय-

> सुरासुरेन्द्रोरगमानवाद्या जिताः समस्ताः स्ववशीकृता यैः[13]।
> ते सन्ति मे पाणितले च बाणास्तत्किं न लज्जेऽत्र पलायनेन?॥ ६७॥

एवमुक्त्वा मदनमोहनवशीकरणोन्मादनस्तम्भनेतिपञ्चविधकुसुमबाणावलीं शरासने सन्धित्वा(सन्धाय) मनोगजमारुह्य द्रुततरं धावन् स मदनः समराङ्गणे गत्वा जिन-सम्मुखमवोचत्-अरे रे जिन, पुरा मया सह सङ्ग्रामं कृत्वा पश्चात्सिद्धिवराङ्गना-परिणयनं कुरु। [14]मुक्त्यङ्गनालिङ्गनसुखं मे बाणावल्येव ते दास्यति।

§ १४. तच्छ्रुत्वा मोक्षनदराजहंसेन साधुशकुनिविश्रामारामेण[15] मुक्तिवधूकामेन पुष्पा-युधोदधिमथनमन्दरेण भव्यजनकुलकमलविकासमार्त्तण्डेन मोक्षद्वारकपाटस्फोटनकुठारेण दुर्वारविषयविषधरवैनतेयेन साधुकुमुदाकरविकासचन्द्रेण मायाकरिणीमृगेन्द्रेण सङ्ग्रामा-

---

१ फरी फाल इत्यर्थः। फरीशब्दस्य फालार्थे प्रयोगः प्रान्तिकः। २ जर्जरितशिराननं आ-ख०। ३ विद्यमानो ज्ञायमान इत्यर्थः। ४-शल्यो मो-क०, घ०, ङ०, च०। ५ आत्मीयं सकलमपि सैन्यं भ-ख०। ६ देवे का-च०। ७ देव देव ख०। ८ पद्यमिदं क०, घ०, ङ०, च० पुस्तकेषु नास्ति। ९ 'ततो' क०, घ०, ङ०, च० पुस्तकेषु नास्ति। १० जिनेन ज-ख०। जिने ज-ङ०। ११ भज्यते ख०, ङ०। १२ पद्म० मि० श्लो० ३४। १३ ये ख०। १४ वाक्यमिदं क०, ग०, घ०, ङ०, च० पुस्तकेषु नास्ति। १५-भ्रमेण घ०। -भयेण ङ०, च०।

बसरे मदन आहूतो जिनेन्द्रेण–रे रे मदनवराक, किमर्थं मे बाणशुखानलौ त्वं पतङ्गवत् पतितुमिच्छसि ? याहि याहि ।

ततः क्रोधाग्निज्वा[1]लाज्वलितेन मदनेनोक्तम्–अरे जिन, मच्चरित्रं किं न[2] जानासि त्वम् ? तद्यथा–

५ रुद्रेण लङ्घिता गङ्गा मद्भयाद्धा[3]रिणाम्बुधौ(धिः) ।
क्षिप्रमिन्द्रो गतः स्वर्गे धरणीन्द्रस्त्वधो गतः ॥ ६८ ॥
मेरुपार्श्वे च गु[4]प्तोऽर्को ब्रह्माऽसौ मम सेव[5]कः ।
न मे प्र[6]तिबलः कोऽपि त्रैलोक्ये सचराचरे ॥ ६९ ॥

एवं श्रुत्वा मुक्तिपतिरवोचत्, रे कन्दर्प, तव शूरत्वं वृद्धानां गोपालानां पशुपतीनामुपरि । न त्वस्मत्सदृशः कोऽपि त्वया स्वप्नेऽपि जितोऽस्ति । तदिदानीं यद्यस्ति तव शक्तिस्तर्हि शीघ्रं बली भव । एतदाकर्ण्य रतिपतिना मदभरमत्तो दुर्नयरवगर्जमानो मनोमातङ्गो जिनेन्द्रोपरि प्रेरितः । तद्यथा–

उद्दण्डसंसारक[7]रेण रम्यश्चतुष्कषायैश्चरणैः समेतः ।
दन्तावुभौ यस्य च रा[8]गद्वे(रो)षौ यो रम्य आशाद्वयलोचनाभ्याम् ॥७०॥

१५ एवंविधमनोगजमागच्छन्तमवलोक्य निजकरिणा जिनेन्द्रेण प्रतिस्खलितः । पश्चात् दृढकठिनसमभावमुद्गरेण निहत्य भूतले पातितः । ततो जिनघातहन्यमानो निजकरी यावद्भूतले[9] पतितो दृष्टस्तावद्रतिहृदयं महाव्याकुलीभूतम् ।

अथ सा रतिर्दी[10]नास्या [11]प्रबलाश्रुपातगद्गदवाचान्विता भूत्वा कामं प्रत्युवाच–भो नाथ, अद्यापि किं पश्यसि ? सकलसैन्यं भङ्गमागतम् । एको जीवशेष उद्धृतोऽसि

२० त्वम् । द्रुततरं [12]गम्यते (ताम्) । ततोऽनन्तरं कामसैन्यस्य भङ्गः कीदृशः प्रवर्त्तते तत् कथ्यते–

यावत् स्याद्वादभेरी या जिनसैन्ये प्रगर्जति ।
तावद्भङ्गं [13]समायान्ति [14]दर्शनान्याशु पञ्च वै ॥७१॥

तथा च–

२५ यावत् पञ्च महाव्रतानि समरे धावन्ति पञ्चेन्द्रिया-
ण्यागच्छन्ति च तावदाशुविलयं यद्वत्तमो भास्करात् ।
यावच्छ्रीदशधर्मभूमिपतयो धावन्ति शीघ्रं रणे
तावत् कर्मचयो बिभेति च तथा सिंहाद्यथा कुञ्जरः ॥ ७२ ॥

---

१ ज्वालेज्व–च० । २ 'न' च० पुस्तके नास्ति । ३–द्वारिणा–क०, ख०, ग, च० । ४ अन्तर्हितो बभूव । ५ सेवकाः च० । ६ प्रतिरोधक इत्यर्थः । ७ करो शुण्डादण्डः । "करो वर्षोपले रश्मौ पाणौ प्रत्यायशुण्डयो" इति मेदिनी । ८ छन्दोभङ्गभिया 'रागरोषौ' इत्यात्मक एव पाठः सङ्गतः । ९ भूतलेऽपि ह–च० । १० विषण्णाननेत्यर्थः । ११–त्राभुतग–च० । १२ निर्गम्यते च० । १३ समायाति क०, ख०, ग०, च० । १४ पञ्च मिथ्यादर्शनानि ।

यावद्धावन्त्यभिमुखमलं तत्त्ववीराश्च ताव-
ज्जायन्ते ते[2] चकितमनसः सप्त वीरा भयाख्याः[1]।
प्रायश्चित्तप्रवरसुभटाः सङ्गरे सञ्चलन्तो
यावत्तावत् समयमनसः शल्यवीरा[3] द्रवन्ति[4] ॥ ७३ ॥

तथा च–

जिनपतिदलमध्ये यावदाचारवीरः
प्रचलति किल तावत् कम्पते चास्रवाख्यः।
अभिमुखमति यावद्धावतो धर्मशुक्लौ
द्रवत इति हि तावच्चार्त्तरौद्रप्रवीरौ ॥७४॥

§ १५. एवंविधो मदनसैन्यस्य भङ्गो यावत् प्रवर्त्तते तावत्तस्मिन्नवसरेऽवधिज्ञान-नामा वीरो जिनसकाशमागत्य प्रणम्योवाच–भो भो देव, लग्नमासन्नं सम्प्राप्तम्। किमनेन युद्धविस्त(स्ता)रेण[5]? यतोऽयमेको मदन इहाधृतोऽस्ति[6]। अन्यच्च, मोहोऽयं तावत् केवल-ज्ञानवीरघातैः क्षीणत्वं गतोऽस्ति। तच्छीघ्रं द्वयोरेकेन[7] सन्धानेन[8] साधनं[9] कुरु। एवम-[10]वधिज्ञानवीरवचनमाकर्ण्य जिनेन्द्रेण मदनं प्रत्युक्तम्–रे कन्दर्प, [11]दर्पः? यं वहसि स्त्रीणां पुरतः स्वगृहमध्ये?

[12]अन्तःपुरस्य पुरतः पुरुषीभवन्तः
श्मश्रूणि मुखैः (हस्तैः) कति नोल्लिखन्ति।
युद्धे तु तुङ्गकरिशोणितसिन्धुतीरे
वीरव्रती चरति वीरकराल एव ॥ ७५ ॥

[13]तत्किमनेन क्षात्रेण?

तदाकर्ण्यानङ्गेन मोहं प्रति प्रष्टुमारब्धम्–हे सचिवेश, इदानीं किं क्रियते? स चाह–भो देव, [14]परीषहाख्या विद्या स्मर्यते, [15]तत्त्वया(तव) तद्विद्याबलेनाभीष्टसिद्धिर्भवति। ततस्तेन सक्रोधमनसा रक्तध्यानेनाह्वानिता(आहूता) तत्क्षणात् सा [16]द्वाविंशतिरूपैः सहिता

१ जायन्त्येते क०, ख०, घ०, च०। २ 'ते' ख० पुस्तके नास्ति। ३ अतोऽनन्तरं 'शल्यवीराः' इति पर्यन्तः पाठः ख० पुस्तके नास्ति। ४ द्रवीभूय निर्गच्छन्तीत्यर्थः। ५ शब्दस्य विस्तार एव विस्तरशब्दस्य प्रयोगः कोष-काराणां सम्मतः। अत्र तु युद्धविस्तारे विस्तारशब्दस्य प्रयोग एव समीचीनः। तथा हि–"विस्तारो विपुलो व्यासः स तु शब्दस्य विस्तरः।" इत्यमरः। ६ इहोद्धृतोऽस्ति क०, ख०, घ०, ङ०। मदन एव केवलमनि-र्गृहीतो विद्यत इत्यर्थः। ७ द्वयोर्मदनमोहयोः। ८ संघातेन घ०। लक्ष्यप्रयोगेणेत्यर्थः। ९ पराजयं करोत्वित्यर्थ.। १० ज्ञानव–ख० ङ०। ११ दर्पोऽयं च०। 'दर्पोऽयं ते!' इति गभीराक्षेपः। १२ पद्यमिदं क०, घ०, ङ०, च० पुस्तकेषु नास्ति। १३ तेन क०, घ०, ङ०, च०। १४ "मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः।"–त० सू० ९।८। १५ वाक्यमिदं ख० पुस्तके नास्ति। १६ क्षुत्पिपासाशीतोष्णदंशमशकनाग्न्यारतिस्त्रीचर्यानिषद्याशय्याऽऽक्रो-शवधयाचनाऽलाभरोगतृणस्पर्शमलसत्कारपुरस्कारप्रज्ञाऽज्ञानादर्शनभेदाद् द्वाविंशतिरूपैरलङ्कृता।

'देहि देह्यादेशम्' इति वदन्ती सम्प्राप्ता। ततो मदनेनोक्तम्–हे देवि, 'त्वया जिनो जेतव्यः। साहाय्यमेतत् करणीयम्।' एवमुक्त्वा जिनोपरि सम्प्रेषिता मदनेन।

ततः सा निर्गता द्रुततरमसिधारोपमा नानाविधभावैर्भिन्दन्ती दंशमशकप्रभृतिभिरुपसर्गभेदैर्नानाविधिदुःखजनकैः सहिता परीषहाख्या विद्या जिनेन्द्रं रुणद्धि स्म। ततोऽनन्तरं जिनेन [1]निर्जराख्या विद्या मनसि चिन्तिता। सा स्मरणमात्रेण सम्प्राप्ता। अथ तां निर्जरां दृष्ट्वा सा[2] परीषहाख्या विद्या तत्क्षणात् पलायिता।

§ १६. ततो मनः[3]पर्ययेण जिनो विज्ञप्तः–देव, अद्यापि किं निरीक्ष्यसि(से)? विवाहसमयः सम्प्राप्तः। अन्यच्च, बल[4]क्षीणमिमं मोहं न हन्सि चेत्तत्सिद्धिवराङ्गनापरिणयनं न भवति। उक्तश्च यतः–

"मोहकर्मरिपौ नष्टे सर्वे दोषाश्च विद्रुताः[5]।
छिन्नमूल[6]द्रुमा यद्वद् यथा[7] सैन्यं नि(वि)नायकम्॥ १६॥"

तदस्मिन् मोहे हते सति मदनोऽयं गमिष्यति।

तच्छ्रुत्वा जिनेन पञ्चशरं[8] प्रति विहस्योक्तम्–अरे वराक मार, मा म्रियस्व। याहि याहि। युवतीजनगिरिगह्वरान्तरनिवासी भव।

तद्वचनमाकर्ण्य मोहेन कामं प्रत्युक्तम्–अहो देव, अधुनैवंविधेऽवसरे आत्मकुलदेवता आशिनी नाम विद्या संस्मर्यते(तां)त्वया। तस्या[9] आशिन्याः प्रसादेन रणसागरोत्तरणं भविष्यति। तच्छ्रुत्वा मदनस्तथाविधं[10] चकार। तद्यथा–

[11]प्राप्ता चेतसि चिन्तिताऽद्भुततरं कामेन [12]दिव्याशिनी
द्वात्रिंशद्द्विजराक्षसैः परिवृता यद्वत्परा चण्डिका।
कुर्वन्ती भुवनत्रयस्य कवलं देवेन्द्रकम्पप्रदा
याऽत्यन्तच्छलपालकाद्भुतबला ब्रह्मादिकैर्दुर्जया॥ ७६॥

[13]एवंविधा सम्प्राप्य मदनाभिमुखा(खी)तस्थौ। ततस्तामाशिनीमवलोक्य मुकुलितकरकमलो मदनो विनयालापैः प्रशंसयामास। तद्यथा–

जितलोकत्रया त्वञ्च त्वमचिन्त्यपराक्रमा।
मानापमानदा त्वञ्च विद्या त्वं भुवनेश्वरी॥ ७७॥
[14]त्वं च ज्ञानवती......... ।
ब्राह्मी त्वं शब्दब्रह्मत्वाद्विश्वव्याप्ता च वैष्णवी॥७८॥

---

१ "एकदेशकर्मसंक्षयलक्षणा निर्जरा।"–स० सि० १।४। २ सा तत्क्षणात् प–ख०, ङ०। ३ "परकीयमनोगतोऽर्थो मन इत्युच्यते। साहचर्यात्तस्य पर्ययणं परिगमनं मनःपर्ययः।"–स० सि० १।९। ४ बलाक्षीणं ख०। ५ पलायिताः भवन्ति। ६–लस्तरुर्य–ख०। ७ भ्रष्टसैन्यमराजकम् ख०। ८ पञ्चशरो विहस्य प्रोक्तः ख०। पञ्चशरः कामः। ९ तस्याः प्रसा–ख०। १० कुलदेवताशिनीविद्यास्मरणं चकारेत्यर्थः। ११ प्राप्ते चे–ख० १२ दैत्याशिनी ख०। १३ आशिनी विद्या। १४ पद्यचतुष्टयमिदं क०, घ०, ङ०, च० पुस्तकेषु नास्ति।

प्राप्तासि सर्वभाषात्वं तस्मात् त्वं देवमातृका ।
पुष्टं स्यात्त्वयि भुक्तायामभुक्तायां जगत् कृशम् ॥७९॥
तस्मात्त्वं च जगन्माता सकलानन्ददायिनी ।
निघण्टुनाटकच्छन्दस्तर्कव्याकरणानि च ॥८०॥
इत्याद्यं त्वद्यतो जातं तस्मात्त्वं श्रुतदेवता ।
त्वं यथा स्याद(स्या द्य)जन्मत्वात्त्वमेका हि जगत्प्रिया ॥८१॥
एवं बहुभिः(बहु)प्रकारैः स्तोत्रैः स्तुत्वा जगत्प्रिया(याम्) ।
इति श्रुत्वा च सन्तुष्टा प्रोवाचेति तमाशिनी ॥८२॥

हे मदन, पूर्यताम्[1] । ममाह्वाने[2] किं कार्यं तत्कथय ।

ततः स्मरो जगाद्–हे परमेश्वरि, अनेन ममाखिलं सैन्यं भग्नमानीतम् । तस्मात्तव स्मरणं कृतम् । अधुना येन[3] केनोपायेन मां रक्षसि चेत्तदहं जीवामि, नान्यथा । यतस्तव जयेन जयवानहं तव पराजयेन[4] पराजयं गमिष्यामि । एवं तस्य वचनमाकर्ण्य जिन-सम्मुखं धावन्ती निर्गता साऽऽशिनी भक्ष्याभक्ष्यं[5] भक्षयन्ती सागरनदीसरित्तडागादि शोषयन्ती ।

एवमागच्छन्ती यावज्जिनेन दृष्टा[6] तावदधः[7]कर्ममार्गणैर्विद्धा परं नास्थिरा[8] भवति । ततो भूयोऽपि जिनेन नानान्तरायषष्ठभुक्तषष्ठचान्द्रायणैकस्थानप्रभृतिभिर्बाणसमूहैर्विद्धा[9], परन्तु दुर्द्धरा जिनाभिमुखं सम्प्राप्याऽब्रवीत्–हे जिन, त्यज गर्वम्, मया सह सङ्ग्रामं कुरु ।

ततो जिनेश्वरेणोक्तम्–हे आशिनि, भवत्या सह सङ्ग्रामं कुर्वन् लज्जेऽहम् । यतः शूरतरा ये क्षत्रिया भवन्ति ते स्त्रीभिः सह सङ्ग्रामं न कुर्वन्ति । इति [10]श्रवणमात्रादाभू-तलाद् गगनपर्यन्तं प्रसारितवदना विकटदंष्ट्राकराला भैरवरूपं धृत्वाऽट्टहासं [11]मुञ्चन्ती जिननिकटा सञ्जाता । ततस्तेन जिनेनैकान्तरत्रिरात्राष्टोपवासरसपरित्यागपक्षमास-त्वयनवर्षोपवासप्रभृतिभिर्बाणजालैर्विद्धा[12] भूतले पतिता ।

[13]ततस्तां पतितामाशिनीमवलोक्य मोहेन मदनं प्रत्युक्तम्–भो देव, अद्यापि किं निरीक्ष्यसि (से) । यस्या आशिन्या बलेन स्थातव्यं साऽऽशिनी पातिता । अन्यच्च [14]स्वातीगतशुक्राम्बुवृष्टिरिव जिननाथस्य[15] बाणवर्षा[16](र्षो)न स्थिरा(रो)दृश्यते । तर्हि त्वं

---

१ विरम विरम तावत् संस्तुतेरस्याः । २ ममाह्वानेन ख० । ३ 'येन' घ० पुस्तके नास्ति । ४ पराजयेन ग–क०, घ० । पराजये ग–ख० । ५ भक्षाभक्षं क०, ख०, ग^, घ०, च० । ६ दृष्ट्वा क०, घ०, ङ०, च० । ७ आधाकर्म–"गृहस्थाश्रितं पञ्चसूनासमेतं तावत्सामान्यभूतनष्टविधपिण्डशुद्धिबाह्यं महादोषरूपमधःकर्म कथ्यते । अधःकर्म निकृष्टव्यापारः षड्जीवनिकायवधकरः ।"–मूला० टी० ६।३ । ८ स्थिरा न भवति ख० । ९–षष्ठभुक्त-षष्ठचा–क०, घ०, ङ०, च० । १० वचनमा–च० । ११ 'साशिनी' इत्यध्याहार्यम् । १२ 'सा' इत्यध्याहार्यम् । १३ 'ततस्तां पतिता' च० पुस्तके नास्ति । १४ "स्वातीगतः शुक्र इवातिवृष्टिः"–भारतसा० । १५ अतः परं 'मदनस्य पृष्ठतो लग्नः' [पृ० ६० पं० २१] इति पर्यन्तः पाठः क० पुस्तके नास्ति । १६ वृष्ट्यर्थे प्रयुक्तो वर्षशब्दः पुँल्लिङ्ग एव । तथा हि–"वर्षोऽस्त्री भारतादौ च जम्बूद्वीपाब्दवृष्टिषु । प्रावृट्काले स्त्रियां भूम्नि···।"–मेदिनी।

निर्गच्छ। क्षणमेकमहं भवदर्थे यथाशक्त्या(क्ति)जिनसैन्येन सह योत्स्ये। यथान्तरं किञ्चित्तव भवति। एवं मोहवचनमाकर्ण्य संख्याव्रतमार्गणप्रहताङ्गोऽनङ्गो धैर्यं धर्त्तुं न शक्नोति यदा, तदा निर्गतः। तद्यथा–

चण्डानिलेन प्रहतो यथाम्बुदो विनिर्गतः सिंहभयाद्यथा गजः।
५ तमो यथा भानुकरैर्विमर्दितं तथा स्मरो भूरिशरैः कदर्थितः ॥८३॥

§ १७. अथ निर्गते मदने क्षीणाङ्गो मोहः पवनप्रहताभ्रमिव जिनसैन्यं क्षणमेकं प्रतिस्खलितवान्। ततो जिनेनोक्तम्–अरे मोह वराक, गच्छ गच्छ। किं वृथा मर्त्तुमिच्छसि? एतदाकर्ण्य मोह आह–हे जिन, किमेवं वदसि? पुरा मया सह सङ्ग्रामं कुरु। यतो मयि जीविते स्थिते मदनोऽयं केन जेतव्यः? अन्यच्च, स्वाम्यर्थे भृत्येन प्राणत्यागः कर्त्तव्यो
१० न पलायनम्। उक्तञ्च[3]–

"जितेन लभ्यते लक्ष्मीर्मृतेनापि सुराङ्गनाः।
क्षणविध्वंसिनी(नः) कायाः[4](याः)का चिन्ता मरणे रणे ॥१७॥"

तथा च–

"स्वाम्यर्थे यस्त्यजेत् प्राणान् भृत्यो भक्तिसमन्वितः।
[5]लोके कीर्त्तिर्यशस्तस्य परत्रे चोत्तमा गतिः ॥१८॥"
१५
अन्यच्च[6]–

"स्वाम्यर्थे ब्राह्मणार्थे च गवार्थे स्त्रीकृतेऽथवा।
स्थानार्थे यस्त्यजेत् प्राणांस्तस्य लोकः सनातनः ॥१९॥"

एवं तयोर्जिनमोहयोर्यावद्रणविवादः परस्परं वर्त्तते तावद्धर्मध्यानेन(नः)समरक्रुद्धे-
२० नाग्रतः[7] (क्रुद्धोऽग्रतः) स्थित्वा मोहमल्लं चतुर्भेदबाणैर्हत्वा भूतले शतखण्डमकार्षीत्। ततोऽनन्तरं ससैन्यो जिननाथो धावन् मदनस्य पृष्ठतो लग्नः। ततः ससैन्यं जिनपतिमागच्छन्तं यावद् दूरस्थमवलोक्य(कयति)तावन्मदनो महाव्याकुलोऽभूत्। अथ तस्य[10] मदनस्य तस्मिन्नवसरे न [11]चात्मकलत्रस्य संस्मरणम्, न च शरचापादीनाम्, न चाश्वरथगजपदातीनाम्। एवंविधः [12]शुष्कास्यो मुक्तकेशो यावन्न[13] पश्यति, तावच्छीघ्रमाक्रम्य जिनस्तं
२५ मदनं प्रचारितवान्[14]–रे रे मदन, अद्य पलाय्य त्वं कस्या मातुर्जठरे प्रविशसि? अन्यच्च,

---

१ तथा नि–घ०, च०। २ पीडित इत्यर्थः। ३ तुलना–"मृतैः सम्प्राप्यते स्वर्गो जीवद्भिः कीर्तिरुत्तमा। तदुभावपि शूराणां गुणावेतौ सुदुर्लभौ ॥"–पञ्च० मि० भे० ३३३। ४ प्रान्तिकभाषाप्रयोगप्राबल्यादत्रापि कायशब्दः स्त्रीत्वे प्रयुक्तः प्रतीयते। ५ "पर स पदमाप्नोति जरामरणवर्जितम् ॥"–पञ्च० मि० भे० ३१६। ६ "गवामर्थे ब्राह्मणार्थे स्वाम्यर्थे स्त्रीकृतेऽथवा।······तस्य लोकाः सनातनाः ॥"–पञ्च० मि० भे० २२६। ७ –नागतः स्थि–क०, घ०, च०। ८ यावत् म–घ०। ९ कामस्य क०, ख०। १० 'मदनस्य' ख० पुस्तके नास्ति। ११ –कलत्रस्मरणं ख०। १२ शुक्लास्यो मु–च०। १३ मदन इति शेषः। यावन्न हि जागर्ति कामस्य मानसे कर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेक इति तात्पर्यम्। १४ भर्त्सयन्नाह।

त्वमेवं वदसि-"मया को न जितो लोके ?" एवमुक्त्वा धर्मबाणावलीं शरासने संन्धित्वा(सन्धाय)[1] वक्षःस्थले विद्धो मूर्च्छा[2] प्रपन्नः पतितः । तद्यथा-

मरुद्धतो[3] वै पतति[4] द्रुमो यथा खगेन्द्र[5]पक्षप्रहतो यथोरगः ।
सुरेन्द्रवज्रेण हतो यथाऽचलस्तथा मनोभूः पतितो विराजते ॥ ८४ ॥

ततस्तत्क्षणात् सर्वतो यावत्सैन्येनावेष्टितस्तावत्तस्मिन्नवसरे मदनः श्लोकमेकमपठत् । तद्यथा-

पूर्व[6]जन्मकृतकर्मणः फलं पाकमेति नियमेन देहिनाम् ।
नीतिशास्त्रनिपुणा वदन्ति यद् दृश्यते तदधुनाऽत्र सत्यवत् ॥ ८५ ॥

§ १८ ततस्तत्रैके वदन्त्येवम्-"अयमधमो वध्यते (ताम्) ।" एके वदन्ति-"गर्दभारोहणं शिरोवपनमस्य च कर्त्तव्यम् ।" एके वदन्ति-"चारित्रपुरबाह्ये प्रदेशे शूलारोहणमस्य क्रियते(ताम्) ।" एवमादि सकलसामन्तवीरक्षत्रियाः प्रहृष्टमनसो यावत् परस्परं वदन्ति तावत्तस्मिन्नवसरे रतिप्रीत्यौ(ती)जिनेन्द्रं प्रति विज्ञापनां कृतवत्यौ । तद्यथा-

भो धर्माम्बुद हे कृपाजलनिधे हे मुक्तिलक्ष्मीपते
भो भव्याम्बुजराज(जि[7])रञ्जनरवे सर्वार्थचिन्तामणे ।
भो चारित्रपुराधिनाथ भगवन् हे देव देव प्रभो
वैधव्यं कुरु[8] माऽऽवयोः करुणया त्वं दीननाथ प्रभो ॥ ८६ ॥

अन्यच्च-

[9]लोकेऽस्मिन्निदमचलं[10] साधू रक्षो(क्ष्यो)हि दुर्जनो वध्यः ।
एवं त्वयाऽपि कार्यं यदि हे जिन तत् किमाश्चर्यम् ॥ ८७ ॥
तन्मा मारय मारं दोषिणमप्येनमावयोर्नाथम् ।
किं ते पौरुषमस्मिन् प्रहते श्रेयश्च[11] हे देव ॥ ८८ ॥

[12]अपरम्-

उपकारिषु यः साधुः साधुत्वे तस्य को गुणः ।
अपकारिषु यः साधुः स साधुः सद्भिरुच्यते ॥ ८९ ॥
नानाविधैः प्रकारैः (-रुपायैः) शिक्षित एषः स्मरः पुराऽऽवाभ्याम् ।
तत्फलमनेन दृष्टं तदिदानीं रक्ष रक्ष भो देव ॥ ९० ॥

---

१ अत्र "समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्" इत्यनुशासनानुसारेण ल्यपि 'सन्धाय' इति प्रयोगस्यैव साधुत्वम् । सन्धाय संनियोज्येत्यर्थः । २ प्रयत्नतः प-च० । ३ मरुद्धतो वायुविकम्पित इत्यर्थः । ४ पतितो द्रु-ख० । ५ खगेन्द्रो गरुडः । ६ "तुलना-"अवश्यं ह्यनुभोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम् ॥"-क्षत्रचू० १।१०४ । तथा-"पुण्यं वा पापं वा यत्काले जन्तुना पुराचरितम् । तत्तत्समये तस्य हि सुखं च दुःखं च योजयति ॥"-यश० च० ६।३१४ । ७ राजिः पङ्क्तिः । "राजिः स्त्री पङ्क्तिरेखयोः" इति विश्वः । ८ हे प्रभो, कृपया आवयोर्वैधव्यं मा कुर्वित्यर्थः । ९ पद्यमिदं ख० पुस्तके नास्ति । १०-स्मिन्निचलं च० । ११ वदेदेकः ख० । १२ पद्य० मि० भे० २७० । पद्यमिदं क०, ख०, च० पुस्तकेषु नास्ति ।

एवं तयोर्विज्ञाप्यवचनं श्रुत्वा जिनेन्द्रेणोक्तम्-हे रतिप्रीत्यौ(ती), भवत्योः किमनेन बहुप्रोक्तेन ? दुष्टमिममधमं तर्हि न मारयामि यदि देशत्यागं प्रकरिष्यति।

तच्छ्रुत्वा ताभ्यामुक्तम्-देव, तवादेशं(शः) प्रमाणम् । परन्तु देवेन किञ्चिन्मर्यादा-मात्रं कथनीयम् । तदाकर्ण्य जिनेन्द्रो विहस्योवाच-तदनेनाधमेनास्मद्देशस्य सीमा ५ कदापि काले न लङ्घनीया । ततो भूयोऽपि रतिप्रीतिभ्यामुक्तम्-तद्देवेन शीघ्रं स्वदेश-सीमा कथ्यते(ताम्) । ततो जिनेन दर्शनवीरगणकमुख्यमाहूयाभिहितम्-अरे दर्शनवीर, मदनस्य देशपट्टदानार्थं स्वदेशसीमापत्रं विलिख्य समर्पय ।

तदाकर्ण्य स दर्शनवीरः स्वदेशसीमापत्रं लिलेख । तद्यथा-

"शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्राराऽऽनतप्राणताऽऽरणाच्युतनवग्रैवेयकविजयवैजयन्तजय-१० न्तापराजितसर्वार्थसिद्धिशिलापर्यन्तेषु देशेषु मदनश्चेत्प्रविशति तदवश्यं बन्धनीयः" इति विलिख्य श्रीकारचतुष्टयसहितं सीमापत्रं रतिहस्ते दत्तम् ।

§ १९. ततोऽनन्तरं भूयोऽपि रतिप्रीत्यौ(ती)जिनेन्द्रं प्रति विज्ञापयाञ्चक्रतुः-देव, तदधुना कतिपयीं भूमिं यथाऽस्माञ्नयति तथाविधसहचरो दातव्यो भवद्भिः । तच्छ्रुत्वा जिनेन्द्रः सकलात्मसुभटानामाह्वाननं(ह्वानं)चकार । तद्यथा-

१५ धर्माचारदमाः क्षमानयतपोमुण्डाङ्कतत्त्वक्रियाः
प्रायश्चित्तमतिश्रुतावधिमनःपर्यायशीलाक्षकाः ।
निर्वेगोपशमौ सुलक्षणभटाः दृष्टाभिधा (?) संयमाः
स्वाध्यायाभिधब्रह्मचर्यसुभटा द्वौ धर्मशुक्लाभिधौ ॥ ९१ ॥
गुप्तिर्मूलगुणा महागुणभटाः सम्यक्त्वनिर्ग्रन्थकाः
२० पूर्वाङ्गाभिधकेवलप्रभृतयो येऽन्येऽपि सर्वे भटाः ।
तानाहूय जिनो बभाण भवतां मध्ये हि को यास्यति
प्रद्युम्नं कियदन्तरं कथयत प्रस्थापनार्थं पुमान् ? ॥ ९२ ॥

तदाकर्ण्य ते सर्वे न किञ्चिद् ब्रुवन्तः स्थिताः, तदा जिनेन्द्रः पुनरभाषत-अहो, कस्माद्यूयं मौनेन स्थिताः ? किमर्थमेतस्य(स्माद्) युष्माकं मनसि भीतिर्वर्त्तते ? अयं २५ तावन्मदनो मया त्यक्तदर्पः कृतोऽस्ति । तत्कथं वो भयकारणम् ? अन्यच्च-

विषहीनो यथा सर्पो दन्तहीनो यथा गजः ।
नखैर्विरहितः सिंहः सैन्यहीनो यथा नृपः ॥ ९३ ॥

१-मधर्मं त-घ०, च० । २ मर्यादावधारणं विधेयमित्यर्थः । "मात्रं कार्त्स्न्येऽवधारणे" इत्यमरः । ३ दर्शनमाहूय क० । ४ 'मुख्य' क०, च० पुस्तकयोर्नास्ति । गणकमुख्यं गणधरश्रेष्ठमित्यर्थः । ५ कृपाः क०, ख०, ग०, ङ०, च० । ६ प्रद्युम्नः क०, घ०, च० । प्रद्युम्नं काममित्यर्थः । "प्रद्युम्नो मीनकेतनः" इत्यमरः । ७ कथयतः क०, ख०, ग०, ङ० । जिनेन पृच्छ्यते यद्भवतां मध्ये कः पुमान् कियद्दूरं कामप्रस्थापनार्थं गन्तुमुद्यतोऽस्तीत्यर्थः । ८ 'तदाकर्ण्य' इत्याद्यादारभ्य 'विषहीनो यथा सर्पः' इत्यादिपद्यपर्यन्तः पाठः च० पुस्तके नास्ति ।

शस्त्रहीनो यथा शूरो गतदंष्ट्रो यथा [1]किटिः ।
नेत्रहीनो यथा व्याघ्रो गुणहीनं[2] यथा धनुः ॥ ९४ ॥
शृङ्गैर्विनेव महिषो निकण्डुरिव शूकरः ।
तथाऽयमस्ति पञ्चेषुर्गतशौर्यदलायुधः ॥ ९५ ॥

(सन्दानितकम्) ५

एवं जिनवचनमाकर्ण्य तत्र शुक्लध्यानवीरोऽवादीत्–देव, यास्याम्यहम् । ममादेशं देहि । परं किञ्चिद्भणिष्यामि तदवधारय । त्वं तावत्सर्वज्ञाख्योऽसि । सर्वं जानासि । तत्कथमस्य पापस्य वैरिणः सहचरो दीयते ? कोऽयं हेतुः ? किं न मारयसि[3] ?

अथ सर्वज्ञो बभाषे–अरे शुक्लध्यानवीर, शृणु–"शरणागतमपि वैरिणं न हन्यते (हन्ति)" इति राजधर्मः । यत उक्तञ्च– १०

[4]"किं पाणिना परधनग्रहणोद्यतेन
किं पाणिना परवधूस्तनलम्पटेन ?
किं पाणिना गलगृहीतवनीपकेन
किं पाणिना शरणसंस्थितघातकेन ? ॥ २० ॥"

[5]अन्यच्च, यदभीष्टं तदस्माकं सिद्धम् । तदधुना किमनेन हतेन प्रयोजनम् ? १५

§ २०. ततो रतिरुवाच–देव, शुक्लध्यानवीरोऽयं शुभतरां विज्ञप्तिकां करोति । एवंविधोऽयमस्मान् यदि मारयितुं शक्नोति, कोऽत्र सन्देहः ? यतस्तादृशी शक्तिरस्य शुक्लध्यानवीरस्य दृश्यते । [6]उक्तञ्च–

"आकारैरिङ्गितैर्गत्या चेष्टया भाषणेन च ।
नेत्रवक्त्रविकारेण लक्ष्यतेऽन्तर्गतं मनः ॥ २१ ॥" २०

तदाकर्ण्य जिनेन्द्रो विहस्य प्राह–हे रते, मा भैषीः । न भविष्यत्येवम् । किमयं शुक्लध्यानवीरो मम वचनमुल्लङ्घ्य युष्मान् हनिष्यति ? एवमुक्त्वा रतिप्रीतिभ्यां सह शुक्लध्यानवीरं प्रस्थापयामास ।

ततोऽनन्तरं मदनसकाशमागत्य रतिप्रीतिभ्यां वचनमेतदभिहितम्–भो नाथ, भवदर्थं नानाविज्ञापनवचनैरावाभ्यां जिननाथो विज्ञप्तः । अन्यच्च–देव, तव मरणमवश्यं २५ प्राप्तमप्यावयोः कृपावचनरचनया[7] न प्राप्तम् । तदधुना जिनेन दर्शनवीरसकाशाद् विलिख्य स्वदेशसीमापत्रं दत्तम् । एतद् गृहाण । अतो जिनदेशसीमां विहाय युष्माभि-

---

१ किटिर्वराहः । "वराहः सूकरो घृष्टिः कोलः पोत्री किरः किटिः" इत्यमरः । २ गुणो मौर्वी । "मौर्व्यां द्रव्याश्रिते सत्त्वशुक्लसन्ध्यादिके गुणः" इत्यमरः । ३ मारयति च० । ४ पद्यमिद क०, घ०, च० पुस्तकेषु नास्ति । ५ 'अन्यच्च' च० पुस्तके नास्ति । ६ पञ्च० मि० भे० ४५ । ७ कृतव–च० । मार्मिकप्रार्थनयेत्यर्थः ।

रन्यत्र सुखेन स्थातव्यम् । दैवेन विपरीतेन किं कर्तुं शक्यते ? अन्यच्च, कतिपयभूमि-
पर्य्यन्तं शुक्लध्यानवीरः सहचरः प्रहितोऽस्ति । तदधुना किं[1] न गम्यते ?

एवं वचनमात्रश्रवणात्पञ्चेषुणा निजमनसि चिन्तितम्—अहो, इदानीं किं कर्त्त-
व्यम् ? शुक्लध्यानवीरः[2] सहचरः शुभकरोऽस्माकं न भवति । यतोऽनेन शुक्लध्यानवीरेण
५ दृष्टोऽहं चेत् तदवश्यं प्रहरिष्यति[3] । तत्कोऽस्य शुक्लध्यानवीरस्य विश्वासः ? उक्तं[4] च—

"न वध्यन्ते ह्यविश्वस्था(स्ता) दुर्बला बलवत्तरैः ।
विश्वस्था(स्ता)श्चाशु वध्यन्ते बलवन्तोऽपि दुर्बलैः ॥ २२ ॥"

एवं चिन्तयित्वा सप्ताङ्गानि[5] परित्यज्यानङ्गो भूत्वा निर्गतो युवतीजनगिरिकपाटं
निविष्टः[6] । अथ तस्मिन्नवसरे शचीपतिना ब्रह्माणं प्रत्युक्तम्—ब्रह्मन्[7], पश्य पश्य मदने-
१० नातिहारितम्[8] ।

इति श्रीठक्कुरमाइन्ददेवस्तुतजिन(नाग)देवविरचिते सुसंस्कृतबन्धे स्मरपरा-
जयेऽनङ्गभङ्गो नाम चतुर्थः परिच्छेदः ॥ ४ ॥

पञ्चमः परिच्छेदः

§ १. तं मन्मथं विजयपौरुषदर्पहीनं योषिज्जनाश्चलविलासगृहं प्रविष्टाम्[9] ।
१५ दृष्ट्वातिहृष्टमनसा[10] त्रिदशाधिपेन प्राहूय तत्र च दयां वच एतदुक्तम् ॥ १ ॥
दये, त्वया मोक्षपुरं हि गत्वा श्रीसिद्धसेनं प्रति वाच्यमेवम् ।
विवाहकार्याय सुतां स्वकीयां शीघ्रं गृहीत्वा गमनं प्रकार्यम् ॥ २ ॥
श्रुत्वा वचस्तत्र दया डुढौके[11] प्राप्यान्तिकं मोक्षपुराधिपस्य ।
तां सम्मुखं वीक्ष्य दयामथासावेवं वचः प्राह च सिद्धसेनः ॥ ३ ॥
२० का त्वं दयाऽहं किमिहागतासि प्रस्थापिता भो त्रिदशाधिपेन ।
कार्याय कस्मै च ततस्तयाद्य वृत्तान्तमु[12](उ)क्तं(क्तः)स पुनर्ववाद ॥ ४ ॥
कोऽसौ वरो[13] मे तनयासमानो गोत्रं कुलं कीदृशमस्ति रूपम् ?
कायोच्छ्रयस्तस्य कतिप्रमाणस्तस्यैवमाकर्ण्य वचोऽब्रवीत् सा ॥ ५ ॥

---

१ किं ग—च० । २ वीरः शु—क०, घ०, च० । ३ अत्र 'अयम्' इत्यध्याहार्यम् । ४ पञ्च० मि० भे० १२२ । ५ जानुपादहस्तवक्षःशिरोवचनदृष्टिरूपाणि सप्ताङ्गानि । ६ विवेष्ट क०, घ०, ङ०, च० । ७ देव प— क०, ङ०, च० । ८ मदनः पराजितो जात इति । वस्तुतस्त्वयमेव कार्यस्य फलयोगः । ९ प्रविष्टा घ०, च० । १० दृष्ट्वेति हृ- क०, घ०, ङ०, च० । ११ गत्यर्थकाड्ढौकृधातोर्लिटि रूपम् । जगामेत्यर्थः । १२ वृत्तान्तस्य नपुंसकत्वं चिन्त्यमत्र । १३ वीरो मे—घ०, च० ।

रूपनामगुणगोत्रलक्षणाऽऽपृच्छया किमिति कारणं प्रभो ?
सोऽब्रवीच्छृणु दयेऽधुना हि तत्कारणं सकलमत्र कथ्यते ॥ ६ ॥

रूपवान् विमलवंशसम्भवो देवशास्त्रगुरुभक्तिमान् सदा ।
स[1]ञ्जनोपकृतिकारको युवा संयु[2]तः शुभसमस्तलक्षणैः ॥ ७ ॥

शीलवान् धनयुतो हि सद्गुणी शान्तिमूर्तिरपि सोद्यमो भवेत् । ५
यो हि, तस्य तनुजा प्रदीयते, सा दया तत इदं वचोऽवदत् ॥ ८ ॥

श्रीनाभिपुत्रो वृषभेश्वराख्यस्तस्य प्रभो, तीर्थकरश्च गोत्रम् ।
रूपेण रम्योऽद्भुतहा[3]टकाभो विशालवक्षःस्थलभासमानः ॥ ९ ॥

सर्व[4]प्रियोऽष्टाग्रसहस्रसंख्यकैः सल्लक्षणैर्युक्तवपूः शृणु प्रभो ।
योऽशीतिलक्षै[5]श्च चतुर्भिरुत्तरैर्गुणैर्युतः शाश्वतसम्पदान्वितः ॥ १० ॥ १०

आकर्णदीर्घोत्पललोचनोऽसौ यो जानुविश्रान्तसुबाहुदण्डः ।
किं स्तौम्यहं तस्य वरस्य रूपं यस्योच्छ्रयश्चापशतानि पञ्च ॥ ११ ॥

आकर्ण्य सर्वं वरवर्णनं तच्छ्रुत्वा ततो हृष्टमनाऽब्रवीत् (उवाच) सः ।
दयेऽधुनाऽलं[6] पुनरेव गत्वा त्वया प्रतीन्द्रं कथनीयमेवम् ॥ १२ ॥

प्रस्थापयामः स्वसुतां भवद्भिः स्वयंवरार्थं रचनाऽऽशु[7] कार्या । १५
आनीयते कर्मधनुर्विशालं यत्कालभूपालकमन्दिरस्थम् ॥ १३ ॥

श्रुत्वा समस्तं तदतीव हृष्टा शीघ्रञ्च मोक्षादथ निर्गता सा ।
सम्प्राप्य शक्रं प्रति तत् समस्तं दया हि वृत्तान्तमचीकथत् सा ॥ १४ ॥

सकलमिति च[8] श्रुत्वा क्षिप्रमाहूय यक्षं
धनदमथ सुरेशस्तं प्रतीदं बभाषे । २०
सकलसुरनराणां मानसाह्लादकारं
समवशरणसंज्ञं मण्डपं हे(त्वं)कु[9]रुष्व ॥ १५ ॥

श्रुत्वेदमिन्द्रवचनं धनदः स तस्मिन्
सोपानविंशतिसहस्रविराजमानम् ।
भृङ्गारतालकलशध्वजचामरौघ- २५
श्वेतातपत्रवरदर्पणसंयुतश्च ॥ १६ ॥

---

१ सज्जनप्रकृ–क०, घ०, ङ०, च० । २ संस्तुषः शु–ख० । ३ हाटकं सुवर्णम् । "सुवर्णं हिरण्य भर्म जातरूपं च हाटकम् ।" इति धनञ्जयः । ४ –सल्लक्षकैः स–ङ० । ५ लक्षैश्चतु–ख०, च० । ६ त्वं पु–च० । ७–स्तु का–क०, घ०, च० । ८ चकारस्य संयुक्ताद्यक्षरस्य दीर्घत्वाच्छन्दोभङ्गोऽत्र । ९ कुरुध्वम् । च० ।

स्तम्भप्रतोलिनिधिमार्गतटाकवल्ली-
प्रोद्यानधूपघट[1]हाटकवेदिका[2]भिः ।
विभ्राजितं विमलमौक्तिकभासमानं
द्वारैः सुतोरणयुतैः सहितं चतुर्भिः ॥ १७ ॥

प्रासादचैत्यनिलयामरवृक्षनाढ्य-
शालादिकोष्ठकसुगोपुरसंयुतञ्च ।
एवंविधं ह्यनुपमं किल मण्डपञ्च
चक्रे हि षड्द्विगुणयोजन[3]विस्तरं तम् ॥१८॥ (सन्दानितकम्)

त[4]स्मिन्नतोऽमरपतिप्रमुखाः समस्ता
विद्याधरामरनरोरगकिन्नराद्याः ।
गन्धर्वदिक्पतिफणीश्वरचक्रवर्त्ति-
यक्षादयोऽपि सकलाश्च समागतास्ते ॥ १९ ॥

अथास्रवैः पञ्च[5]भिराशु तस्मिन्
यत्कालभूपालककोश[6]संस्थम् ।
कापोतनीलासितदुष्टलेश्या-
वर्णैरशेषैस्तु सुचित्रितं यत् ॥ २० ॥

मध्ये सं[7]मोहायतसूत्रबद्धं त्वाशागुणेन प्रतिभासमानम् ।
आनीय सर्वामरसम्मुखं तैः संस्थापितं तद् दृढकर्मचापम् ॥२१॥ (युग्मम्)

प्रवर्त्तते तत्र च यावदेवं तावत्ततो या रमणीयरूपा ।
सदा हि शुद्धस्फटिकाभदेहा र[8]त्नत्रयालङ्कृतरम्यकण्ठी ॥ २२ ॥

पूर्णेन्दुबिम्बप्रतिमानना या नीलोत्पलस्पर्द्धिविशालनेत्रा ।
हस्ते गृहीतामलतत्त्वमाला सैवं प्रपन्ना वरमुक्तिलक्ष्मीः॥ २३ ॥ (युग्मम्)

तद्वीक्ष्य सर्वं त्रिदशाधिराजस्ततोऽब्रवीत्तान् सकलान् प्रतीदम् ।
यत्सिद्धसेनेन पुरोदितं तद्यूयं समस्ताः शृणुताञ सर्वम् ॥ २४ ॥

यः कर्मकोदण्डमिदं विशालं ह्या[9]कर्षते मुक्तिपतिः स च स्यात् ।
श्रुत्वा तदेवं न च किञ्चिदूचुः परस्परं वीक्ष्य मुखं यदा ते ॥ २५ ॥

---

१ घटसंयुतहाटकाभिः ख०, च० । २ भित्तिकाभिः क० । ३ "विस्तरः पुंसि विस्तारे प्रपञ्चे प्रणयेऽपि च" इति विश्वः । ४ तस्मिन् समवशरणे । ५ मिथ्यादर्शनाविरतिप्रमादकषाययोगरूपैः पञ्चभिरास्रवैः । ६ कोशो भाण्डारम् । "कोशोऽस्त्री कुड्मले पात्रे दिव्ये खड्गपिधानके । जातिकोषेऽर्थसङ्घाते पेश्यां शब्दादिसंग्रहे ॥" इति मेदिनी । ७ सुमोहपशुस्-क०, च० । समोहं पशुस्-ख० । ८ त्रिरक्तरेखाकृतर-च० । ९ असाधुरेवायं प्रयोगः ।

तदा जिनेन्द्रोऽतिमनोहरो यो लोकेश्वरः सन्ततशान्तमूर्त्तिः ।
ज्ञानात्मको ज्ञातसमस्ततत्त्वो दिगम्बरः पुण्यकलेवरो[1] यः ॥ २६ ॥
भवार्णवोत्तीर्ण उदार[2]सत्त्वो द[3]शार्द्धकल्याणविभूतियुक्तः ।
आताम्रनेत्रो वरपद्मपाणी रजोमलस्वेदविमुक्तगात्रः ॥ २७ ॥
तपोनिधिः क्षान्तिदयोपपन्नः समाधिनिष्ठस्त्वथ निष्प्रपञ्चः । ५
छत्रत्रयेणातिसितेन रम्यो भामण्डलेन प्रतिभासमानः ॥ २८ ॥
यो देवदेवो मुनिवृन्दवन्द्यो वेदेषु शास्त्रेषु य एव गीतः ।
निरञ्जनः सद्गतिरव्ययो यः सिंहासनादुत्थित को(ई)दृशोऽसौ॥२९॥(कलापकम्)
आगत्य चापाभिमुखो हि भूत्वा हस्ते गृहीत्वा परमेश्वरेण ।
आ[4]कर्णसज्जीकृतमाशु यावत्तावन्महानादयुतञ्च भग्नम् ॥ ३० ॥ १०
तद्भङ्गनादोच्चलिता च पृथ्वी प्रकम्पिताः सागरपर्वताद्याः ।
स्व[5]र्गस्थिताः पद्म[6]भवादिदेवा मूर्च्छां प्रपन्नाः पतिताश्च सर्वे ॥ ३१ ॥
ततस्तया वीक्ष्य समस्तमेवं मुक्तिश्रियाऽऽनन्दसमेतया तत् ।
क्षिप्ताशु कण्ठे वरतत्त्वमाला श्रीनाभिसूनोर्वृषमेश्वरस्य ॥ ३२ ॥
प्राप्तास्ततो मङ्गलयोषितश्च चतुर्णिकायास्त्रिदशाः समस्ताः । १५
अन्येऽप्यसंख्या मिलिताश्च तस्मिन् जना जिनेन्द्रोत्सववीक्षणार्थम् ॥ ३३ ॥

तद्यथा—

मृगपतिमहिषोष्ट्राऽष्टापदद्वीपिरिश्य[7]-
वृषमकरवराहव्याघ्रका[8]रण्डवाश्च ।
द्विपबककलहंसाश्चक्रवाकाश्च भृङ्गिद्विजपति- २०
गवयाश्वाः कुक्कुटाः सारसाश्च ॥ ३४ ॥
इत्यादिवाहनविमानसमाधिरूढा
ये षोडशाभरणभूषितदिव्यदेहाः ।
आन्दोलितध्वजपटप्रचुरातपत्रा
नानाकिरीटमणिभा[9]प्रहतार्कभा[10] ये ॥ ३५ ॥ २५

---

१ पवित्रगात्रः। "कलेवरं शरीरं च" इति धनञ्जयः। २–मुदारस–च०, क० । ३ गर्भजन्मतपःकेवलनिर्वाण-भेदात् पञ्च कल्याणानि । ४ आकर्ण्यसशंकु–क०, च० ।आकर्ण्यसज्ञी–घ० । ५ सर्वस्थि–च० । ६ ब्रह्मादिदेवाः । ७ रिश्यो हरिणः । "एणः कुरङ्गमो रिश्यः" इति पुरुषोत्तमः । ८ कारण्डवः पक्षिविशेषः । "तेषां विशेषा हारीता मद्गुः कारण्डवः प्लवः ।" इत्यमरः । ९ भाप्रहरा च० । १० –र्कभासः क० ।

दिव्यायुधैस्स्वपरिवारवधूसमेता[1]
उच्चैःकृतस्तुतिमनोहरनृत्यगीताः ।
भेरीमृदङ्गपटहाम्बुजकाहलादि-
घण्टास्वनैर्बधिरिताम्बरमण्डला ये ॥ ३६ ॥

५ अन्योन्यवाहनविमानकराङ्घ्रिदेह-
संवेर्षणत्रुटितमौक्तिकरत्नमालाः[2] ।
एवंविधा मुकुलिताऽमलपाणिपद्माः[3]
खादागता जय जयेति रवं ब्रुवन्तः[4] ॥ ३७ ॥ (सन्दानितकम्)

तथा च-

१० श्रीह्रीकीर्त्तिसमस्तसिद्धिसंमतानिःस्वेदतानिर्जराः[5]
वृद्धिर्बुद्धिरशल्यता सुविभवा बोधिः समाधिः प्रभा ।[6]
शान्तिर्निर्मलता प्रणीतिरजिता निर्मोहिता भावना
तुष्टिः पुष्टिरमूढदृष्टिसुकलाः स्वात्मोपलब्ध्यादयः ॥ ३८ ॥
निःशङ्काकान्तिमेधाविरतिमतिधृतिक्षान्तिवाचाऽनुकम्पा[7]
१५ इत्याद्याः[8] पुण्यरामा ललितभुजलता इन्दुतुल्यानना याः ।
नानाहारैर्विचित्रैर्विविधमणिमयै रम्यवक्षःस्थला याः
सम्प्रापुस्तत्र शीघ्रं जिनवरयात्रामङ्गलं[9][10] गायनार्थम् ॥३९॥ (युग्मम्)

ततो हि मुक्त्या सहितो जिनेन्द्रो मनोरथेभश्च स आरुरोह ।
कृतामरौघैर्वरपुष्पवृष्टिश्चक्रे [11]सुनृत्यं पुरतोऽमरेन्द्रः ॥४०॥
२० कुर्वन्ति शेषाभरणं दयाद्या वागीश्वरी गायति मङ्गलञ्च ।
प्रणादिताः शङ्खमृदङ्गभेर्यः सत्काहलाद्या पटहाः सुरौघैः ॥४१॥

तथा च-

अनन्तकेवलज्ञानदीपिकानां हि तेजसा ।
विभात्यनुपमा लोके वरयात्रा जिनप्रभोः ॥ ४२ ॥

२५ § २. एवंविधो यः परमेश्वरोऽसौ [12]चतुर्णिकायाऽमरवन्द्यमानः ।
पुण्याङ्गनागानसुगीयमानो भामण्डलेन प्रतिभासमानः ॥४३॥

१-युधः स-घ० । २ संकर्षणत्रु-क०, घ०, च० । ३ -लपद्मपाणिला-क०, घ०, च० । ४ खादाकाशात् । पादाग-क०, घ०, च० । ५ सहिता नि क०, ख०, ङ०, च० । ६ सुविजया बो-ख० । ७ वातानु-च० । ८ मत्याद्याः पु-ख० । ९ चिन्त्योऽत्रत्यश्छन्दोभङ्गः । १० 'जिनवरयात्रामङ्गलं गायनार्थम्' अनन्वितं प्रतिभाति पदद्वयमिदम् । ११ सनृत्यं पु-ख० । १२ भवनवासिव्यन्तरज्योतिष्ककल्पवासिभेदाद् देवाश्चतुर्णिकायाः ।

संस्तूयमानो मुनिमानवौघैर्यक्षैश्च यश्चामरवीज्यमानः ।
छत्रत्रयेणाऽतिसितेन रम्यो मोक्षस्य मार्गेण जगाम यावत् ॥४४॥

तथा च[1]–

तावच्च[2] तत्रावसरेऽब्रवीदिदं सुसंयमश्रीश्च तपःश्रियं प्रति ।
किं त्वं न जानासि, महोत्सवान्वितो निष्पन्नकार्यश्च जिनस्त्वभूदयम् ॥४५॥ ५
आगत्य चारित्रपुरं स[3] भूयो विध्वन्सते चेत्त(चे)त्कथमप्यनङ्गः ।
तस्माच्च विज्ञापय वीतरागं स्थातव्यमस्माभिरिहैव यस्मात् ॥४६॥
(कलापकम्)

आकर्ण्य तस्याः सकलं वचस्ततः प्राह[4] त्वया हे सखि, युक्तमीरितम्[5] ।
उक्ताथ[6] सैवं कृतपाणिसम्पुटा प्रोचे तपःश्रीः पुरतो जिनेश्वरम् ॥४५॥ १०
भो पुण्यमूर्त्ते त्रिजगत्सुकीर्त्ते हे चारुचामीकरतुल्यकान्ते ।
भो द्वेषरागाद्यु[7]भयोपशान्ते विज्ञाप्यमेकं त्ववधारणीयम् ॥४६॥
भूयोऽपि चारित्रपुरे स्मरश्चेद्विध्वंसते[8], तज्जिन किं प्रकार्यम् ?
यतो हि यूयं कृतसर्वकार्याः कः पालयिष्यत्यधुना नरोऽस्मान् ॥४७॥
(युग्मम्) १५

अथ हि[9] जिनवरेणाकर्ण्य तत्सर्वमेवं
सकलश्रुतसमुद्रं सज्जनानन्दचन्द्रम् ।
मदनगजमृगेन्द्रं दोषदैत्यामरेंद्रं ।
सकलमुनिजिनेशं कर्मविध्वंसरौद्रम् ॥४८॥
हतकुगतिनिवासं यं[10] दयाश्रीविलासं २०
भवकलुषविनाशमर्थिनां पूरिताशम् ।
[11]सकलगणधरेशं ज्ञानदीपप्रकाशं
तमिति वृषभसेनं क्षिप्रमाहूय, पश्चात् ॥ ४९ ॥
प्रोचे जिनस्तं प्रति भो शृणु त्वं
वयं [12]ततो मोक्षपुरं व्रजामः । २५
त्वया तपःश्रीगुणतत्त्वमुद्रान्[13] (द्राः)
महाव्रता[14]चारदयानयादीन्(द्याः) ॥५०॥

---

१ 'तथा च' ख०, घ० पुस्तकयोर्नास्ति । २ तावत् त–ख०, क० । ३ स कामदेव इत्यर्थः । ४ तपःश्रीः संयमश्रियं सखीं प्रत्याह । ५ ईरितं चिन्तितमित्यर्थः । ६ उक्तार्थसै–घ०, ख० । ७ रागद्वेषाद्यु–ख० । ८ यद्यस्मान् कामो विध्वन्सत इति तपःश्रियो विज्ञापना । ९ तथा हि जि–घ०, ख० । १० लोका यं वृषभसेनगणधरेशं प्रकृतपद्यप्रदर्शितपुण्यश्लोकं मन्यन्ते स्म तमाहूय जिन इत्थमुवाचेति तात्पर्यम् । ११ पद्यस्योत्तरार्द्धमिदं ख० पुस्तके नास्ति । १२ अत्र 'ततः' इति पदमधुनार्थं व्यनक्ति । १३ –त्वमण्डितान् क० । –त्वसमुद्रान् घ० । –त्वमुण्डान् ख० । १४–ताचारद–ख०, घ० ।

अस्मिन् सुचारित्रपुरे समस्ता एते ह्यवश्यं प्रतिपालनीयान्(याः) ।
सम्बोध्य तानेवमसौ जिनेशो विनिर्गतो मोक्षपुरं सुखेन ॥ ५१ ॥[1]

(कलापकम्)

॥ इति श्री ठक्कुरमाइन्ददेवसुतजिन(नाग)देवविरचिते स्मरपराजये सुसंस्कृतबन्धे
५　　मुक्तिस्वयंवरो नाम पञ्चमः परिच्छेदः ॥ ५ ॥

साद्यन्तं[2] यः शृणोतीदं स्तोत्रं स्मरपराजयम् ।
तस्य ज्ञानश्च[3] मोक्षः स्यात् स्वर्गादीनां च का कथा ? ॥ १ ॥

तावद् दुर्गतयो भवन्ति विविधास्तावन्निगोदस्थिति-[4]
स्तावत् सप्त[5] सुदारुणा हि नरकास्तावद्दरिद्राद्यः ।
१०　तावद् दुःसहघोरमोहतमसाच्छन्नं मनः प्राणिनां
यावन्मारपराजयोद्भवकथामेताञ्च[6] शृण्वन्ति न ॥ २ ॥

तथा च–

शृणोति वा वक्ष्यति वा पठेत्तु[7] यः
कथामिमां मारपराजयोद्भवाम्[8] ।
१५　सोऽसंशयं वै लभतेऽक्षयं सुखं
शीघ्रेण कायस्य कदर्थनं विना ॥ ३ ॥

अज्ञानेन धिया विना किल जिनस्तोत्रं मया यत्कृतं
किं वा शुद्धमशुद्धमस्ति सकलं नैवं हि जानाम्यहम्[9] ।
तत्सर्वं मुनिपुङ्गवाः सुकवयः कुर्वन्तु सर्वे क्षमां
२०　संशोध्याशु कथामिमां स्वसमये विस्तारयन्तु ध्रुवम् ॥ ४ ॥

॥ इति स्मरपराजयं समाप्तम् ॥

---

१ एवं तानुपस्थितनिखिलभव्यान् सम्बोध्य जिनो मोक्षपुरमाटिटीक इत्यर्थः । २ पठ्यते यः–ब०, च० । ३ ज्ञानं केवलज्ञानमित्यर्थः । ४ निगोदे स्थि–ब० । ५ रत्नशर्करावालुकापङ्कधूमतमोमहातमःप्रभाभेदात् सप्त नरकाः । ६ पद्यस्यास्य चतुर्थपादोऽयं ब० पुस्तके नास्ति । ७ पठेद् बुधः ब० । ८ पद्यस्यास्य पूर्वार्द्धमिदं ब० पुस्तके नास्ति । ९ सकुशलं ग्रन्थसमाप्तावपि कविना स्वकीयमौद्धत्यं परिह्रियते । एतेन कवेर्महामनस्त्वं ज्ञायते ।

मदन-पराजय

हिन्दी-अनुवाद

[प्रथम परिच्छेद]

§ १. मैं, मन, वचन और कायसे श्री जिनेन्द्र भगवान्के उन निर्मल चरण-कमलको नमस्कार करता हूँ, जिनकी इन्द्र उपासना करते हैं और ब्रह्मा आदिक वन्दना करते हैं। जो पापरूपी वनके लिए कुठारके समान हैं, मोह-अन्धकारके नाशक हैं और वास्तविक सम्पूर्ण सुखको देने वाले हैं।

पृथिवीपर पवित्र रघु-कुल रूपी कमलको विकसित करनेके लिए सूर्यके समान चङ्गदेव हुए। चङ्गदेव कल्पवृक्षके समान याचकोंके मनोरथ पूर्ण करते थे। इनका पुत्र हरिदेव हुआ। हरिदेव दुर्जन कवि-हाथियोंके लिए सिंहके समान था। इनका पुत्र नागदेव हुआ, जिसकी भूलोकमें महान् वैद्यराजके रूपमें प्रसिद्धि हुई।

नागदेवके हेम और राम नामके दो पुत्र हुए। यह दोनों भाई भी अच्छे वैद्य थे। रामके प्रियङ्कर नामका एक पुत्र हुआ, जो अर्थियोंके लिए बड़ा ही प्रिय था। प्रियङ्करके भी श्रीमल्लुगित् नामका पुत्र उत्पन्न हुआ। श्रीमल्लुगित् जिनेन्द्र भगवानके चरण-कमलके प्रति उन्मत्त भ्रमरके समान अनुरागी था और चिकित्सा-शास्त्र-समुद्रमें पारंगत था।

श्रीमल्लुगित्का पुत्र मैं-नागदेव हुआ। मैं (नागदेव) अल्पज्ञ हूँ तथा छन्द, अलङ्कार, काव्य और व्याकरण-शास्त्रमेंसे मुझे किसी भी विषयका बोध नहीं है।

हरिदेवने जिस कथा (मदन-पराजय) को प्राकृतमें लिखा था, भव्य जीवोंके धार्मिक विकासकी दृष्टिसे मैं उसे संस्कृतमें निबद्ध कर रहा हूँ।

मैं यहाँ जिस कथाकी चर्चा कर रहा हूँ, वह भव्यजनों का विवेक जागृत करनेवाली है और अविनश्वर सुख देने वाली है। संसार-सागरकी महत् ऊर्मियोंको विलीन करती है और श्रोताओं-को अत्यन्त प्रिय है। इतना ही नहीं, इस कथाके सुननेसे पूर्व जन्मके समस्त पाप समूल धुल जाते हैं और दारिद्र्य तथा भय भाग जाते हैं।

कथा इस प्रकार है:—

§ २. भव नामका एक सुप्रसिद्ध तथा मनोहर नगर था। इस नगरका राजा मकरध्वज था। मकरध्वज अपने सफल धनुष-बाणसे मण्डित था और उसके द्वारा इसने इन्द्र, नर, नरेन्द्र, नाग और नागेन्द्र—सबको अपने अधीन कर रक्खा था। वह अतिशय रूपवान् था। महान् प्रतापी था। दानशील था। विलासी था। रति और प्रीति नामकी उसकी दो पत्नियाँ थीं। इसके प्रधान मन्त्रीका

नाम मोह था। मकरध्वज त्रैलोक्य-विजयी था और अपने प्रधान सचिवके सहयोगसे बड़े आरामके साथ राज्यका संचालन करता था।

एक दिनकी बात है। मकरध्वजके सभा-भवनमें शल्य, गारव, दण्ड, कर्म, दोष, आस्रव, विषय, अभिमान, मद, प्रमाद, दुष्परिणाम, असंयम और व्यसन आदि समस्त योधा उपस्थित थे। अनेक राजा-महाराजा मकरध्वजकी उपासनामें व्यस्त थे। इसी समय महाराज मकरध्वजने अपने प्रधान सचिव मोहसे पूछा—मोह, क्या तीनों लोकमेंसे कहीं कोई अपूर्व बात सुननेका समाचार तो तुम्हें नहीं मिला है? मोहने उत्तरमें कहा–महाराज, एक अपूर्व बात अवश्य सुननेमें आई है; पर उसे आप एकान्तमें. चलकर सुनें। क्योंकि बृहस्पतिने बतलाया है कि राज-सभामें राजाके लघु कार्यकी भी चर्चा नहीं होनी चाहिए। कहा भी है:—

"तीन व्यक्तियोंतक पहुँचकर किसी भी गुप्त बातका भेद खुल जाता है। जब तक वह दो व्यक्तियोंतक रहती है, सुरक्षित रहती है। इसलिए इस बातका सदा ध्यान रखना चाहिए कि मन्त्र दो व्यक्तियोंतक ही सीमित रहे।

§ ३. मोह अपनी अपूर्व बात सुनानेके लिए मकरध्वजको एकान्तमें ले गया। वहाँ उसने मकरध्वज के हाथ में एक विज्ञप्ति दी और कहा–महाराज, संज्वलनने यह विज्ञप्ति भेजी है। इसे देखिए।

जैसे ही मकरध्वजने विज्ञप्ति पढ़ी; उसके ललाटपर चिन्ताकी रेखाएँ उभर आईं। वह मोहसे कहने लगा—मोह, मैं इतना बड़ा हो गया, लेकिन इस प्रकारकी बात आज ही सुन रहा हूँ। मुझे लगता है, यह बात सच नहीं है। जब मैं तीनों लोक अधीन कर चुका हूँ तो त्रिभुवनसे अतिरिक्त यह 'जिन' नामका राजा कहाँसे आ गया? नहीं, यह बिलकुल सम्भव नहीं है।

उत्तरमें मोह कहने लगा–देव, यह बात असम्भव नहीं, बल्कि बिलकुल सत्य है। क्योंकि संज्वलन आपके साथ कभी भी असत्य-व्यवहार नहीं कर सकता। वह इस बातको खूब समझता है कि–"विद्वज्जन, राजाको समस्त देवोंका प्रतीक मानते हैं। इसलिए राजाको देवस्वरूप ही समझना चाहिए और उसके साथ मिथ्या व्यवहार कदापि नहीं करना चाहिए।" साथ ही वह इस बातसे भी परिचित है कि–"यद्यपि राजा समस्त देवोंका प्रतिनिधि है फिर भी उसमें और देवमें एक अन्तर है। और वह यह है कि राजाके पाससे अच्छा-बुरा परिणाम तत्काल ही मिल जाता है, जब कि देवके पाससे वह जन्मान्तरमें प्राप्त होता है।" फिर स्वामिन्, क्या जिनराजकी आपको बिलकुल स्मृति नहीं है?

राजन्, बहुत वर्ष पहले यह जिनराज हमारे इसी भव-नगर में रहता और दुर्गति-वेश्या-के यहाँ पड़ा रहता था। चोरी करनेकी इसकी रोजकी आदत थी। फलतः यह कोतवालके द्वारा पकड़ा जाता, पीटा जाता और यहाँ तक कि इसे मृत्यु-दण्ड देने तककी चेतावनी दी जाती।

एक दिन काललब्धिसे यह दुर्गति-वेश्यासे विरक्त होकर अपने श्रुत-मन्दिरमें घुसा। वहाँ इसे त्रिभुवनके सारभूत अमूल्य तीन रत्न हाथ लगे। इन रत्नोंने इसे इतना आकर्षित किया कि इनके आकर्षणसे यह घर, स्त्री, बाल-बच्चे—सबको भूल गया और तुरन्त उपशम-अश्व पर सवार होकर

चारित्र-पुर चला गया। विषय और इन्द्रिय योधाओंने इसे क्षण भर रोका, परन्तु वे रोकनेमें समर्थ न हो सके। देव, इतना ही नहीं, जब चारित्र-पुरके पाँच महाव्रत-भटोंने देखा कि जिनराज अमूल्य रत्नत्रयीका स्वामी है और यह राज्य-संचालनके सुयोग्य है तो उसे तपोराज्य दे दिया। स्वामिन्, इस प्रकार यह जिनराज आज गुणस्थानरूपी सीढ़ियोंसे सुशोभित और दुर्ग-जैसे दुर्गम चारित्र-पुरमें सुखपूर्वक राज्य कर रहा है।

महाराज, इसके सम्बन्धका एक नया समाचार और सुना है। सुना है कि अचिर भविष्यमें जिनराजका मोक्षपुरमें विवाह होगा। इसलिए समस्त जनपदोंमें उत्सव-समारोह मनाया जा रहा है।

मकरध्वजने ज्यों ही मोहकी यह बात सुनी, उसे अत्यन्त आश्चर्य हुआ। वह मोहसे कहने लगा—मोह, यह तो बतलाओ, मोक्षपुरमें किसकी कन्या है और उसकी रूप-राशि किस प्रकारकी है, जिसके साथ जिनराजका विवाह होने जा रहा है?

§ ४. मोह कहने लगा—महाराज, कन्याके सौन्दर्यके सम्बन्धमें आप क्या पूछते हैं। वह सिद्धसेनकी कन्या है। मुक्ति (सिद्धि) उसका नाम है और सौन्दर्य्यमें वह अनुपम है। उसका केश-पाश मयूरके गलेके समान नील है, फूलोंके समान कोमल, सघन तथा कुटिल है। उसमें अनेक प्रकारके सुगन्धित कुसुम गुंथे हुए हैं, जिनपर यमुना-जलकी तरह काले भ्रमर गुनगुनाया करते हैं। उसका मुख सोलह कलाओंसे पूर्ण उदित चन्द्र-जैसा है और भ्रू-लता इन्द्रके प्रचण्ड भुजदण्डमें स्थित टेढ़े धनुषके समान है। उसके नेत्र विशाल हैं और वे विकसित एवं वायु-विकम्पित नील कमलोंसे स्पर्द्धा करते हैं। उसकी नासिका कान्तिमान् है। सुवर्ण और मोतियोंके आभूषणसे भूषित है। तथा तिलक-वृक्ष के कुसुम के समान सुन्दर है। उसका अधर-बिम्ब अमृत-रस से परिपूर्ण है और मन्द तथा शुभ्र स्मितसे विलसित हो रहा है। उसका कण्ठ तीन रेखाओंसे मण्डित है और उसमें अनेक प्रकारके नीले, हरे मणियों तथा सुन्दर उज्ज्वल एवं गोल-गोल मोतियोंसे अलङ्कृत हार पड़े हुए हैं। उसका शरीर चम्पाके अभिनव प्रसूनकी तरह स्वच्छ और तपाये गये सोनेकी कान्तिके समान गौर है। उसकी बाहु-लता नूतन शिरीष-मालाकी तरह मृदुल है और मध्यभाग प्रथम यौवनसे विकसित तथा कठोर स्तन-कलशके भारसे झुका हुआ और कृश है। उसकी नाभि, जघन, घुटने, चरण और चरण-ग्रन्थियाँ लावण्यसे निखर रही हैं। स्वामिन्, इसके सिवाय दया नामकी दूती इस बातके लिए कटिबद्ध है कि जिनराज और इस मुक्ति-कन्याका यथाशीघ्र विवाह हो जाय।

मकरध्वज मोहके मुँहसे मुक्ति-कन्याके इस उद्भुत लावण्यका वर्णन सुनकर विषय-व्याकुल हो गया। वह मोहसे कहने लगा—मोह, यदि यह बात है तो तुम मेरी प्रतिज्ञा भी सुन लो। 'मैं निश्चय करता हूँ कि यदि आजकी लड़ाईमें जिनराजको जीत कर मैंने मुक्ति-कन्याके साथ विवाह नहीं किया तो मैं मकरध्वज ही किस कामका?'

यह कहकर मकरध्वजने कुसुम-बाणवाला धनुष हाथमें ले लिया और जिनराजसे संग्राम करनेके लिए चल पड़ा।

§ ५. जब मोहने देखा कि मकरध्वज जिनराजसे लड़ाई लड़ने चल ही पड़ा है तो वह कहने लगा–'अरे महाराज, आप इस प्रकार उत्सुकतासे कहाँ जा रहे हैं ? मेरी बात तो सुनिए। अपनी शक्तिको विना पहिचाने युद्धके लिए नहीं जाना चाहिए। कहा भी है:—

"जो मनुष्य अपने बलका विवेक न रखकर युद्धके लिए तैयार होता है वह अग्निके सम्मुख आए हुये कीट-पतंगकी तरह भस्म हो जाता है।" और–

"जिस प्रकार तेजस्वी भी सूर्य किरणोंके अभावमें न स्वयं ही सुशोभित हो सकता है और न प्रकाश ही कर सकता है उसी प्रकार भृत्योंके विना राजा भी लोकका उपकार नहीं कर सकता।" अथ च–

"राजाका भृत्योंके विना काम नहीं चल सकता और भृत्योंका राजाके विना। इस प्रकार राजा और भृत्योंकी स्थिति एक-दूसरेके आश्रित समझनी चाहिए।" साथ ही–

"राजा भृत्योंसे प्रसन्न होकर उन्हें केवल धन ही देता है। लेकिन भृत्य यदि राज-सम्मानित होते हैं तो अवसर आनेपर राजाके लिए अपने प्राण तक निछावर कर डालते हैं।"

इस तथ्यको ध्यानमें रखते हुए राजाका कर्तव्य है कि वह कुशल, कुलीन, शूरवीर, समर्थ, भक्त और परम्परासे चले आये हुए भृत्योंको अपने यहाँ स्थान दे। क्योंकि नीतिकारोंका कथन है–

"बलाधान एकसे नहीं होता। बलके लिए समुदाय वाञ्छनीय रहता है। अकेला तिनका कुछ नहीं कर सकता। लेकिन रस्सीके रूपमें उन्हीं तिनकोंका समवाय हाथीको भी बन्धनमें रखता है।"

मोह कहता गया–'इसलिए आपको अकेले समर-भूमिमें नहीं उतरना चाहिए।'

मोहकी बात सुनकर मकरध्वजने धनुष-बाण एक ओर रख दिया और अपने आसनपर बैठ गया। वह मोह-से फिर कहने लगा–मोह, यदि तुम्हारा इस तरहका आग्रह है तो समस्त सैन्य तैयार करके तुम यहाँ जल्दी आओ।

मोह मकरध्वजसे कहने लगा–महाराज, अब कही है आपने ठिकानेकी बात। लीजिए, मैं यह चला। इतना कहकर उसने मकरध्वजको प्रणाम किया और वह वहाँसे चल पड़ा।

मोह-योधाके चले जानेके पश्चात् मकरध्वज इस प्रकार गंभीर चिन्तामें निमग्न हो गया–

"वह सोचने लगा–वह समय कब आवेगा जब रात्रिके पिछले समय रति-खेदसे खिन्न होकर मैं क्षणभरके लिए मदमत्त हाथीके गण्डस्थलके समान विशाल और कुंकुमसे आर्द्र मुक्ति-कन्याके स्तन-युगपर अपना मुख रखकर उसकी भुजाओंमें बँधा रहूँगा।"

§ ६. एक बार, मकरध्वजकी पत्नी रतिने देखा कि मकरध्वजका चित्त अत्यन्त चंचल हो गया है, शरीर शोकसे संतप्त रहने लगा है और एकदम क्षीण भी हो गया है। उसे बड़ी चिन्ता हुई और वह अपनी प्रिय सखी प्रीतिसे पूछने लगी–सखि, पता नहीं, अपने पतिदेवको क्या हो गया है ? देखती नहीं, यह रोज ही चिन्तित और चलचित्त बने रहते हैं।

रतिकी बात सुनकर प्रीतिने कहा–सखि, मालूम नहीं, प्राणनाथकी इस प्रकारकी अवस्था क्यों हो गयी है ? कदाचित् उनके सिर कोई महान् जटिल कार्य आ पड़ा हो। जो हो, हमें उनकी इस प्रवृत्तिमें हस्तक्षेप करनेकी कोई जरूरत नहीं मालूम देती। कहा भी है–

"जो मनुष्य अप्रयोजनीय कार्योंमें अपनी टाँग अड़ाता है उसकी ककुद्रुम राजाकी तरह दुर्दशा होती है।"

रतिने प्रीतिसे कहा–सखि, तुमने यह ठीक बात नहीं कही। पतिव्रताओंका यह धर्म नहीं है कि वे पतिकी किसी प्रकारकी चिन्ता न करें।

उत्तरमें प्रीतिने कहा–सखि, यदि यह बात है तो प्राणनाथसे तुम ही पूछो कि वे इतने चिन्तित और खिन्न क्यों बने रहते हैं ?

रतिने सखीकी बात ध्यानमें रख ली।

एक बार रातके समय महाराज मकरध्वज शयनागारमें शय्यापर लेटे हुए थे। इतनेमें रति अपनी शङ्का समाहित करनेके लिए मकरध्वजके पास पहुँची। वहाँ जाकर वह मकरध्वजका इस प्रकार आलिङ्गन करने लगी जिस प्रकार पार्वती महादेवका, इन्द्राणी इन्द्रका, गङ्गा समुद्रका, सावित्री ब्रह्माका, लक्ष्मी श्रीकृष्णका, रोहिणी चन्द्रका और पद्मावती नागेन्द्रका आलिङ्गन करती है।

रतिने इस प्रकार आलिङ्गन करनेके बाद मकरध्वजसे पूछा–महाराज, आज-कल न आप ठीक भोजन करते हैं, न ठीक नींद लेते हैं और न राज-काजमें ही आपका चित्त लगता है। सो क्या कारण है ? क्योंकि आप स्वयं जानते हैं–

"संसारमें ऐसा कोई प्राणी नहीं है जो तुम्हारे वशवर्ती न हो। ऐसी कोई स्त्री नहीं जिसका तुमने उपभोग न किया हो। साथ ही इस प्रकारका कोई मनुष्य भी नहीं है जिसने तुम्हारी सेवा न की हो। फिर समझमें नहीं आता कि आपकी इस प्रकारकी अवस्था क्यों हो गयी है ?"

§ ७. जब रतिने बड़े अनुनय-विनयके साथ मकरध्वजसे इस प्रकारकी बात पूछी तो उत्तरमें मकरध्वजने कहा—तुम हमसे यह बात क्यों पूछती हो ? ऐसा कौन है जो मेरी यह अवस्था दूर कर सके ?

मकरध्वजकी बात सुनकर रतिने कहा–प्राणनाथ, बतलाइए तो आपकी यह हालत क्यों और कैसे हो गयी ?

मकरध्वज कहने लगा–प्रिये, जिस दिन मैंने संज्वलनके द्वारा लायी गयी विज्ञप्ति पढ़ी और सिद्धि कन्याके रूप एवं लावण्यका मनोहर विवेचन सुना उसी दिनसे मेरी यह शोचनीय स्थिति हो गयी है। समझमें नहीं आता कि अब मैं क्या करूँ ?

रतिने कहा—यदि यह बात है तो आपने व्यर्थ ही शरीरको सुखाया। जब मोह-सरीखे सुभट आपके मन्त्री हैं तो यह रहस्यपूर्ण समाचार आपने उन्हें क्यों नहीं बतलाया ? नीतिकार ने कहा है–

"जो बात माताको नहीं बतलायी जा सकती उसे अपने स्वजन से कह देना चाहिए और मन्त्रीसे तो अवश्य ही कह देना चाहिए। भला, मन्त्रीको छोड़कर अन्य कौन विश्वास-पात्र हो सकता है ?"

मकरध्वज उत्तरमें कहने लगा—हे प्रिये, यह समाचार मोहसे भी छिपा नहीं है। उसे इस रहस्यका पूरा पता है। मैंने उसे हाल ही समस्त सैन्यको तैयार करनेके लिए भेजा है। पर तुमसे भी मुझे एक बात कहनी है। जब तक मोह समस्त सैन्य तैयार करके वापिस नहीं आता है, तब तक

तुम सिद्धि-कन्याके पास जाकर इस प्रकारका यत्न करो जिससे वह जिनराजसे विमुख हो जावे और अपने विवाहोत्सवके अवसरपर मुझे ही अपना जीवन-संगी चुने। मुझे विश्वास है, तुम्हारा उद्योग अवश्यमेव सफल होगा। नीतिविदोंका कहना है:—

"लक्ष्मी उद्योगी मनुष्यको ही प्राप्त होती है। यह अकर्मण्योंका कथन है कि सब कुछ भाग्यसे ही मिलता है। इसलिए मनुष्यको चाहिए कि वह दैवको एक ओर रख कर अपनी शक्तिके अनुसार प्रयत्न करे। यत्न करनेपर भी यदि सफलता नहीं मिलती है तो इसमें मनुष्यका कोई अपराध नहीं।"

अथ च–

"जिसके रथमें केवल एक पहिया है और साँपोंसे बंधे हुए सात घोड़े हैं। मार्गमें कोई अवलम्ब नहीं है। सारथी भी एक पैरवाला है। इस प्रकारका सूर्य भी प्रति दिन अपार आकाशके एक छोरसे दूसरे छोर तक आता-जाता है। इसलिए यह निर्विवाद है कि महान् पुरुष अपने बलसे ही कार्य सिद्ध करते हैं, दूसरोंके आश्रयसे नहीं।"

प्रिये, तुमने मुझे अपना समझकर सहज भावसे मेरी बात पूछी, इसलिए ही मैंने सब कुछ बतला दिया। अब यह तुम्हारा कर्त्तव्य है कि तुम मेरी मनोव्यथा दूर कर मुझे सुखी करो। इसमें ही तुम्हारा पातिव्रत्य निहित है।

§ ८. पतिदेवकी बात सुनकर रति बड़े असमंजसमें पड़ गयी। वह कहने लगी–स्वामिन्, आपको उचित-अनुचितका कोई विवेक नहीं है। नीतिकारोंने ठीक ही कहा है:–

"अपनी पत्नीके सुलभ रहनेपर भी नीच पुरुष सन्तोषकी साँस नहीं लेता। इसपर भी वह पर-स्त्री-लम्पट बनता है। कौवाका भी तो यही हाल है। उसे भरे हुए तालाबका पानी पसन्द नहीं। घड़ेके सड़े हुए पानीसे ही उसे सन्तोष होता है।"

रति कहने लगी–देव, फिर क्या किसीने कभी अपनी पत्नीसे भी दूतका काम लिया है, जो कार्य आप मुझे सौंपने चले हैं ?

मकरध्वजने कहा–प्रिये, तुमने बात तो बिलकुल सच कही है, लेकिन तुम्हीं सोचकर बतलाओ, क्या यह कार्य तुम्हारे बिना संभव है ? यह कार्य मैं तुम्हें इसलिए सौंप रहा हूँ कि स्त्रियाँ ही स्त्रियोंके प्रति अधिक विश्वासशील देखी जाती हैं। कहा भी है–

"हिरन हिरनोंका सहवास पसन्द करते हैं, स्त्रियाँ स्त्रियोंका, घोड़े घोड़ोंका, मूर्ख मूर्खोंका और विद्वान् विद्वानोंका। ठीक है, मित्रता समानशील-व्यसनवालोंमें हुआ करती है।"

मकरध्वजकी बात सुनकर रतिको बड़ी चिन्ता हुई। उसने मकरध्वजसे कहा–देव, आप ठीक कहते हैं। परन्तु आपको मुक्ति-कन्या प्राप्त नहीं हो सकती। क्योंकि जिस प्रकार–

"कौवामें पवित्रता, जुवारियोंमें सत्य, सर्पमें क्षमा, स्त्रियोंमें कामकी उपशान्ति, नपुंसकमें धैर्य और मद्य पीनेवालेमें विवेकबुद्धि नहीं हो सकती उसी प्रकार सिद्धि-कन्या भी तुम्हारी पत्नी नहीं बन सकती।"

फिर देव, वह सिद्धि-कन्या जिनराजको छोड़कर और किसीका नाम तक नहीं लेती है। अन्यको वरण करनेकी तो बात ही छोड़िए। सिद्धि-कन्याके सम्बन्धमें कहा भी जाता है :–

"जो देव, स्त्री, शस्त्र, जप-माला और राग-द्वेषसे कलङ्कित हैं तथा निग्रह और अनुग्रहमें तत्पर रहते हैं, सिद्धि-कन्या उनके पास फटकती तक नहीं है।"

रति कहने लगी—देव, इसलिए मेरी आपसे विनय है कि आप व्यर्थमें आर्त्तध्यान न कीजिए। कहा भी है :—

"व्यर्थमार्त्तं न कर्त्तव्यमार्त्तात्तिर्यग्गतिर्भवेत्।
यथाऽभूद्धेमसेनाख्यः पक्के चैर्वारुके कृमिः॥"

"निष्प्रयोजन आर्त्तध्यान नहीं करना चाहिए। क्योंकि आर्त्तध्यानके कारण पशु-पर्यायमें जन्म लेना पड़ता है। जिस प्रकार आर्तध्यान करनेसे हेमसेन मुनि पके हुए खरबूजाके कीड़ा बने।"

§ ९. कामने कहा—यह कैसी बात ? रतिने कहा—प्राणनाथ, सुनिए। और वह कहने लगी—

किसी प्रदेशमें चम्पा नामकी नगरी थी। इस पुरीमें प्रतिदिन उत्सव हुआ करते थे। यह दिव्य जिनालयोंसे विभूषित थी और जैन धर्माचारका आचरण करनेवाले श्रावकोंसे महनीय थी। एक ओर इसमें सघन और हरित वृक्षावली लहरा रही थी तो दूसरी ओर समस्त भूखण्डके उत्सङ्गमें विहार करनेवाली रमणीय रमणियोंके विलास-चलित चतुर चरणोंमें रणित होनेवाले नूपुरोंकी रुनझुन दिगन्तरालमें झुनझुना रही थी। एक ओर ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यवर्गके गुणोंमें अनुरागशील शूद्रजनोंका निवास था तो दूसरी ओर अनेक देश तथा विदेशोंसे सुपात्र और ज्ञान-पिपासु विद्यार्थी भी यहाँ झुण्ड-के-झुण्ड आ रहे थे। यह नगरी विभिन्न विषयोंके सैकड़ों अधिकारी विद्वानोंसे अलंकृत थी और पुर-वधुओंके मुख-चन्द्रकी ज्योत्स्नासे प्रकाशित वसुधाकी धवल सौध-मालासे सुशोभित थी।

इस चम्पानगरीमें हेमसेन नामके एक मुनिराज किसी जिनालयमें कठोर तपस्या करते थे। इस प्रकार कठिन तप करते-करते उन्हें बहुत दिन बीत गये और कुछ दिनोंके बाद उनकी मृत्यु-वेला आ पहुँची। जब मुनिराजकी मृत्युका समय अति सन्निकट आ पहुँचा तो समस्त श्रावक वहाँ एकत्रित हो गये और वे अनेक प्रकारके फूल—फल आदिसे उनकी आराधना तथा पूजा करने लगे।

संयोगकी बात है, जिस दिन हेमसेन मुनिराज दिवंगत होने जा रहे थे उस दिन उस चैत्यालयमें भगवान्‌की प्रतिमाके सामने एक पका हुआ खरबूजेका फल चढ़ाया हुआ रक्खा था। खरबूजा इतना पका हुआ था कि उसकी सुगंध मुनिराजके पास पहुँची और उनका मन उस फलकी ओर ललचा गया। इस फल-प्राप्तिकी आर्त्त चिन्तामें ही विचारे मर गये और मरकर तत्क्षण उस फलके अन्दर कीड़ा हो गये। श्रावकोंने मिलकर बड़े उत्सवके साथ मुनिराजका शरीर-संस्कार कर दिया।

§ १०. दूसरे दिन समस्त श्रावक जिनालय पहुँचे और मुनिराज हेमसेनके साथ रहनेवाले चन्द्रसेन आदि मुनियोंसे इस प्रकार पूछने लगे—'महाराज, मुनिराज हेमसेनने मरणपर्यन्त अत्यन्त दुष्कर तपस्या की थी। कृपया बतलाइए, अब वे किस पर्यायमें विराजमान हैं ?'

मुनिराज अतीत, वर्तमान और भविष्यत्‌के ज्ञाता थे। उन्होंने ध्यान लगाया और अवधिसे मोक्ष, स्वर्ग और पाताल तथा समस्त संभव स्थानोंमें हेमसेन महाराजकी खोज की, पर वे वहाँ नहीं

मिले। चन्द्रसेन आदि समस्त मुनिनाथ बड़े विस्मित हुए। किन्तु जैसे ही उन्होंने पुनः अवधि लगायी तो मालूम हुआ कि हेमसेन महाराज जिन भगवान्के आगे समर्पित किये गये पके खरबूजेमें कीट हुए हैं। चन्द्रसेन मुनि श्रावकोंसे कहने लगे:–'भाइयो, आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि हेमसेन मुनिराज इसी मन्दिरमें जिनेन्द्र भगवान्के आगे रक्खे हुए खरबूजेमें कीट पर्यायसे उत्पन्न हुए हैं।'

मुनि चन्द्रसेनकी बात सुनकर श्रावक उस खरबूजेको भगवान्के सामनेसे उठा लाये और उसे फोड़कर देखा तो उसमें उन्हें एक कीड़ा दिखलायी दिया।

इस घटनासे श्रावकोंको बड़ा विस्मय हुआ। वे चन्द्रसेन मुनिसे पूछने लगे:–महाराज, हेमसेन मुनिराजने जीवन भर उग्र तपस्या की। फिर उन्हें इसप्रकारके कीट पर्यायमें क्यों जन्म लेना पड़ा? महर्षि चन्द्रसेन कहने लगे:–यद्यपि उग्र तपस्या एक महान् वस्तु है। लेकिन उससे अधिक बलवत्तर है ध्यान–एकाग्र चिन्ता-निरोध। आगममें कहा है:–

"आर्त ध्यानसे पशु पर्याय मिलती है और रौद्र ध्यानसे नरकगति। धर्म ध्यानसे देवगति प्राप्त होती है और शुक्ल ध्यानसे मनुष्य मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।"

§ ११. चन्द्रसेनकी बात सुनकर श्रावक कहने लगे:–महाराज, आप हम लोगोंको विस्तारसे बतलाइए कि आर्तध्यान, रौद्रध्यान, धर्मध्यान और शुक्लध्यानसे आपका क्या आशय है और इनका क्या स्वरूप है?

चन्द्रसेन चारों ध्यानका स्वरूप समझाने लगे:–

"वसनशयनयोषिद्रत्नराज्योपभोग-
प्रवरकुसुमगन्धानेकसद्भूषणानि।
सदुपकरणमन्यद्वाहनान्यासनानि
सततमिति य इच्छेद् ध्यानमार्त्तं तदुक्तम्॥"

"जो व्यक्ति सदा वस्त्र, शय्या, स्त्री, रत्न, राज्य, भोगोपभोग, उत्तमोत्तम पुष्प, सुगन्धित द्रव्य, विविध आभूषण, सुन्दर उपकरण, प्रशस्त सवारी और मृदुल आसन आदि प्राप्त करनेकी सदैव इच्छा करता रहता है उसका ध्यान आर्त्तध्यान कहलाता है।" और–

"गगनवनधरित्रीचारिणां देहभाजां
दलनहननबन्धच्छेदघातेषु यत्नम्।
इति नखकरनेत्रोत्पाटने कौतुकं यत्
तदिह गदितमुच्चैश्चेतसां रौद्रमित्थम्॥"

"जिसका प्रयत्न सदैव नभचर, जलचर और थलचर प्राणियोंका पास डालनेमें, मार डालनेमें, बाँध देनेमें, छेदन करनेमें और घात करनेमें रहता है तथा जो व्यक्ति इन प्राणियोंके नाखून, हाथ और नेत्र आदिके भङ्ग करनेमें कौतुक रखते है उनका चिन्तन रौद्र ध्यान कहलाता है।" तथा–

"दहनहननबन्धच्छेदनैस्ताडनैश्च
प्रभृतिभिरिह यस्योपैति तोषं मनश्च।
व्यसनमति सदाऽघे नानुकम्पाकदाचि–
न्मुनय इति तदाहुर्ध्यानमेवं हि रौद्रम्॥"

"जिस व्यक्तिका मन निरन्तर जलाने, मारने, बाँधने छेदने और ताड़न करने आदिमें ही निमग्न रहता है, पापमें जो तन्मय रहता है और दया जिसे छू नहीं गयी है उस व्यक्तिका ध्यान रौद्रध्यान समझना चाहिए।" और—

श्रुतसुरगुरुभक्तिः सर्वभूतानुकम्पा
स्तवननियमदानेष्वस्ति यस्यानुराग ।
मनसि न परनिन्दा त्विन्द्रियाणां प्रशान्तिः
कथितमिह हितैर्ध्यानमेवं हि धर्मम् ॥

"जो मनुष्य निरन्तर देव, शास्त्र और गुरुकी भक्ति करता है, समस्त जीवधारियोंपर दया करता है, स्तुति, नियम और त्यागमें अनुरागवान् है, जो परनिन्दा नहीं करता तथा इन्द्रियाँ जिसके वशवर्त्ती हैं, उस पुरुषका ध्यान धर्मध्यान कहलाता है। तथा—

खलु विषयविरक्तानीन्द्रियाणीति यस्य
सततममलरूपे निर्विकल्पेऽव्यये यः ।
परमहृदयशुद्धध्यानतल्लीनचेता
यतय इति वदन्ति ध्यानमेवं हि शुक्लम् ॥

"जिसकी इन्द्रियाँ सम्पूर्ण विषय-वासनाओंसे विरत हो गयी हैं, जो निरन्तर शुद्ध, निर्विकल्पक और अविनश्वर पदकी ओर उन्मुख है और जिसका पवित्र मन शुद्ध आत्म-ध्यान में तन्मय है, उस पुरुषका ध्यान शुक्लध्यान कहलाता है।"

मुनिराज चन्द्रसेन कहते गये—श्रावको, इसलिए यह सुनिश्चित है कि "प्राणान्त समय प्राणीका जिस प्रकारका ध्यान रहता है, उसे उसी प्रकारका गति-बन्ध हुआ करता है।"

आगममें भी इस बातका समर्थन मिलता है:–

"मरणे या मतिर्यस्य सा गतिर्भवति ध्रुवम् ।
यथाऽभूज्जिनदत्ताख्यः स्वाङ्गनार्तेन दर्दुरः ॥"

"मरण-समयमें जिसकी जैसी मति होती है उसकी गति भी निश्चयसे उसी कोटिकी होती है। जिस प्रकार जिनदत्त अपने स्त्री-सम्बन्धी आर्तध्यानके कारण मेंढक हुआ।"

श्रावकोंने कहा—भगवन्, यह घटना किस प्रकारकी है? मुनिराज कहने लगे:–

§ १२. किसी प्रदेशमें राजगृह नामका नगर था। उसमें जिनदत्त सेठ नामका एक श्रावक रहता था। जिनदत्त जिनेन्द्र भगवान्के चरण-कमलरूपी परम मोक्ष-सुखके रसास्वादमें मत्त मधुकरके समान था। जिनदत्तकी स्त्रीका नाम जिनदत्ता था। जिनदत्ताका सौन्दर्य्य इन्द्राणीके सौन्दर्य्यसे भी अधिक मनोहर था। यह दोनो प्राणी बड़े आनन्दसे गृहस्थ-जीवन बिता रहे थे। एक दिन अचानक जिनदत्तका अन्तकाल आ उपस्थित हुआ और ज्यों ही उसके प्राण निकलने लगे उसकी नजर अपनी रमणीके रमणीय लावण्यकी ओर सतृष्ण हो गयी और वह आन्तरिक व्यथाके साथ इस प्रकार विचार करने लगा:–

"युक्तिशून्य सैकड़ों प्रलापोंमें कोई सार नहीं है। पुरुषोंके उपभोगकी संसारमें दो ही वस्तुएँ

हैं। एक तो प्राथमिक मद-क्रीड़ाओंसे अलस और स्तन-तट-परिपूर्ण सुन्दरियोंका यौवन और दूसरा वन।"

उसके चिन्तनकी धारा यहाँ आकर ही न रुकी। वह आगे सोचने लगा–

"यह जिनदत्ता समस्त स्त्री-सृष्टिमें मनोहर है। गुणवती है। संसारके सुखको देनेवाली है। मधुरभाषिणी है और विलासमें चतुर हैं। फिर भी मैं इसका भोग नहीं कर सका। मेरा भाग्य प्रतिकूल हो गया है। मुझे धिक्कार है कि मैंने यह पर्याय व्यर्थ ही खो दी ! मैंने पूर्वजन्ममें जो दुस्तर पाप किये थे अब उन्हींका परिणाम अनुभव कर रहा हूँ।" अथ च–

"इस असार संसारमें शीतरश्मि चन्द्रमा, चन्दन, मालती-माला और रमणीका सविलास अवलोकन—यही तो सारभूत है।"

इस प्रकार अपनी स्त्रीके आर्तध्यानसे पीड़ित जिनदत्तको महान् ज्वर हो आया और अन्तमें वह मर गया। मरकर वह तुरन्त अपने घरके आँगनकी बावड़ीमें मेंढक हो गया।

§ १३. कुछ दिनोंके बाद जिनदत्तकी पत्नी जिनदत्ता पानी भरनेके लिए उस बावड़ीपर पहुँची। जिनदत्ताको देखकर उस मेंढकको पूर्व भवका स्मरण हो आया और वह दौड़कर जिनदत्ताके सामने आ उछला। जिनदत्ता मेंढकको उछलकर सामने आते हुए देख डर गयी और अपने घरके भीतर घुस गयी। इस प्रकार जब-जब जिनदत्ता पानी भरनेके लिए उस बावड़ीपर पहुँचती, वह मेंढक उछलकर उसके सामने आता। इस तरह बहुत दिन निकल गये।

एक बार सुभद्राचार्य नामके मुनिराज पाँच सौ मुनियोंके साथ विहार करते हुए राजगृहके बाहरी उद्यानमें आये। उनके आने मात्रसे वह उद्यान इस प्रकार हरा-भरा हो आया :–

"सूखे अशोक, कदम्ब, आम, बकुल और खजूर के वृक्षोंमें शाखाएँ फूट आयीं। उनमें लाल-लाल पल्लव, सुगन्धित फूल और सुन्दर फल लग आये। सूखे तालाब, बावड़ी और कुँए पानीसे लहराने लगे। उनमें राजहंस और मोर क्रीडा करने लगे तथा कोकिलाएं पञ्चम स्वरमें काकली सुनाने लगीं।

जो जाति, चम्पक, पारिजात, जपा, केतकी, मालती तथा कमल मुरझाये हुए थे वे सब तत्क्षण विकसित हो गये। इनकी सुगन्धि और रसके लोभी मधुकर इनपर मधुर गुञ्जन करने लगे और रस- तथा गन्ध-पानमें निरत हो गये। गायक भी इधर-उधर श्रुतिमधुर गीत गाने लगे।"

वनपाल उद्यानको इस प्रकार फूला-फला तथा इसकी अकस्मात् उत्पन्न हुई स्वाभाविक सुषमा देखकर बड़ा विस्मित हुआ। वह सोचने लगा—कुछ समझमें नहीं आ रहा है, क्या मुनियोंके आगमनके प्रभावसे वह उद्यान इस तरह हरा-भरा हो गया है अथवा इस क्षेत्रका कोई कल्याण होने जा रहा है? वह सोचता है–इस समय मुझे इन फलोंको राजाके पास दिखलाने ले जाना चाहिए। इस तरह सोच-विचारके बाद वह उद्यानके विविध फलोंको लेकर उत्सुकताके साथ राजाकी सेवामें जा पहुँचा।

राजाके पास पहुँचकर उसने उन्हें प्रणाम किया और असमयमें फले हुए वे सब फल उनके सामने रख दिये। राजा इन फलोंको देखकर आश्चर्यमें पड़ गया। वह वनपालसे कहने लगा–अरे वनपाल, यह फल विना मौसमके कहाँसे आ गये? वनपालने कहा–महाराज, मैं ठीक नहीं कह सकता, वह आश्चर्यपूर्ण घटना कैसे घटी ? हाँ, पाँच सौ मुनियोंके संघ-सहित कोई मुनिराज अपने

उद्यानमें अवश्य आये हैं। और मेरा ध्यान है कि उनके आनेके साथ ही उद्यान तत्काल फल और फूलोंसे मनोहर और अलंकृत हो गया।

§ १४. जैसे ही राजाने वनपालके मुखसे मुनियोंके आगमनका समाचार सुना वह तत्काल सिंहासनसे उठ बैठा और उस दिशामें सात कदम आगे चलकर मुनिराजोंको भावपूर्वक नमस्कार किया। इसके पश्चात् वह अन्तःपुर और अपने परिकरके साथ मुनि-वन्दनाके लिए चल पड़ा। जब पुर-वासियों को पता चला कि राजा मुनि-वन्दनाके लिये जा रहे हैं तो पुरवासी समस्त श्रावक और जिनदत्ताप्रमुख श्राविकाएँ भी भक्तिसे गद्गद होकर मुनि-दर्शनके लिए चल दीं।

मुनियोंके निकट पहुँचते ही सबने उन्हें भक्तिपूर्वक प्रणाम किया। तीन प्रदक्षिणा की और नमस्कार करके यथास्थान बैठ गये। उपस्थित श्रावक-श्राविकाओंमें से कोई विराग-दीक्षाकी प्रार्थना करने लगे। कोई धर्म-चर्चा सुनने लगे। कोई गद्य-पद्यमय स्तवनों से स्तुति करने लगे। कोई मुनि-दर्शन कर अपनेको धन्य-धन्य कहने लगे। कोई अपने अतीत भव पूछने लगे।

वहाँ इस प्रकार जन-समूह आनन्द लाभ ले ही रहा था कि ऐसे समय जिनदत्ताने मुनिराजको प्रणाम किया और कहने लगी—महाराज, कृपाकर बताइये, हमारे स्वामी जिनदत्त किस पर्यायमें पहुँचे हैं?

मुनिराज अवधि जोड़कर कहने लगे—हे पुत्रि, क्या बतावें? कुछ कहते नहीं बनता।

जिनदत्ता कहने लगी—महाराज, इस सम्बन्धमें आप बिलकुल शङ्का न करें। क्योंकि संसारमें परिणामोंके वश उत्तम जीव भी अधम हो जाता है और अधम भी उत्तम हो जाता है।

मुनिराजने कहा—पुत्रि, यदि तुम्हारी ऐसी समझ है, तो यह जानो कि तुम्हारा पति तुम्हारे घरके आँगनकी बावड़ीमें मेंढक हुआ है।

§ १५. मुनिराजकी बात सुनकर उसे बड़ा विस्मय हुआ। वह सोचने लगी, मुनिराजका कथन अवश्य ही सत्य है। क्योंकि उस बावड़ीमें प्रतिदिन जो मेंढक उछलकर मेरे सामने आता है, वही मेरे पति होने चाहिए। मुनिराज कदापि मिथ्या नहीं कह सकते। इस प्रकार सोचकर वह पुनः मुनिराजसे बोली—"महाराज, मेरे पतिदेव जितेन्द्रिय थे, कृतज्ञ थे, विनीत थे, मन्दकषायी थे, प्रसन्नात्मा थे, सम्यग्दृष्टि थे और महान् पवित्र थे। वे श्रद्धालु थे, भावुक थे, निरन्तर षट्कर्मपरायण थे। व्रत, शील, तप, दान और जिनपूजामें उद्यत रहते थे। मक्खन, मद्य, मांस, मधु, पांच उदुम्बर-फल, अनन्तकाय, अज्ञात फल, निशि भोजन, कच्चे गोरसमें मिश्रित द्विदलभोजन, पुष्पित चावल और दो आदि दिनके सिद्ध हुए भोजनके त्यागी थे। पाँच अणुव्रतोंका पालन करते थे। पापसे डरते थे और दयालु थे। इस प्रकार व्रती-तपस्वी भी मेरे पति मर कर मेंढक हुए! महाराज, आप बतलाइए, इसका क्या कारण है?"

मुनिराज कहने लगे—पुत्रि, तुम ठीक कहती हो। पर बात यह है कि भले ही किसी व्यक्तिमें समस्त श्रावकोचित गुणों का सद्भाव हो, परन्तु मृत्युके समय उसके जिस प्रकारके परिणाम रहते हैं उसी कोटिका गतिबन्ध हुआ करता है।

§ १६. मुनिराजकी बात सुनकर जिनदत्ता फिर प्रश्न करने लगी। उसने पूछा-महाराज, अन्त समय मेरे पतिके मनमें क्या भाव उदित हुआ था? मुनिराज कहने लगे—पुत्रि, जिनदत्त अपने अन्तिम समयमें महान् ज्वरसे पीड़ित हुआ और तुम्हारा इष्ट वियोगजन्य आर्तध्यान करते-करते ही उसका प्राण-पखेरू उड़ गया। इस कारण ही वह तुम्हारे आँगनकी बावड़ीमें मेंढक पर्यायमें उत्पन्न हुआ है।

मुनिराजका उत्तर सुनकर जिनदत्ताने फिर पूछा—महाराज, जब अन्त समयके भावोंके अनुसार ही गतिबन्ध होता है तो श्रावकोंको गृहस्थधर्मका पालन करना व्यर्थ ही है—वे जीवनभर गृहस्थधर्मकी साधनामें न झुलस कर क्यों न अन्त समय ही अपने परिणामोंको विशुद्ध रखकर सद्गतिका लाभ करें? जिनदत्ताकी बात सुनकर मुनिराज मन्दस्मितपूर्वक कहने लगे—पुत्रि, यह बात नहीं है। न भाव व्यर्थ हैं और न ही जीवनकी आचरण-साधना। सुनो। जो जीव जीवनभर शुभ धर्माचरण करता रहता है और अन्त समय कदाचित् उसके मनमें अशुभ भाव आता है तो उस अशुभ-भावके कारण उसे अशुभ गतिमें ही जन्म लेना पड़ता है। वहाँ थोड़े समय तक कर्मफल भोगनेके पश्चात् उसे शुभगति मिल जाती है। क्योंकि बँधी हुई गतिकी स्थितिमें तो अन्तर हो जाता है, लेकिन मूलगतिमें अन्तर नहीं आता। इसलिए न अन्त समयके भाव ही व्यर्थ हैं और न जीवनकी सदाचार-साधना ही। तुम्हारा पति भी कुछ ही दिनमें मेंढक पर्याय छोड़कर देव हो जायगा।

इस प्रकार मुनिराजका कथन सुनकर जिनदत्ताने उन्हें भक्तिपूर्वक प्रणाम किया और वह अपने घर चली आयी।

मुनिराज चन्द्रसेन कहने लगे, मैंने इसीलिए कहा है :—

"मरणे या मतिर्यस्य सा गतिर्भवति ध्रुवम्।
यथाऽभूज्जिनदत्ताख्यः स्वाङ्गनार्तेन दर्दुरः॥"

"मरणके समय जिसके जैसे परिणाम होते हैं उसके अनुसार ही गति-बन्ध हुआ करता है। जिस प्रकार जिनदत्त अपनी स्त्रीके आर्तध्यानके कारण मेंढक हुआ।"

इस प्रकार कथा सुनाकर मुनिराजने उस ककड़ीके कीट को पञ्चनमस्कार मन्त्र सुनाया और वह मरकर सोलहवें स्वर्गमें देवरूपसे उत्पन्न हो गया।

रति मकरध्वजसे कहने लगी—देव, मैं इसीलिए कहती हूँ :—

"व्यर्थमार्त्तं न कर्त्तव्यमार्त्तात्तिर्यग्गतिर्भवेत्।
यथाऽभूद्धेमसेनाख्यः पक्वे चैर्वारुके कृमिः॥"

"निष्प्रयोजन आर्त्तध्यान नहीं करना चाहिए। क्योंकि आर्त्तध्यानके कारण पशु-पर्यायमें जन्म लेना पड़ता है। जिस प्रकार आर्त्तध्यान करनेसे हेमसेन मुनि पके हुए खरबूजाके कीड़ा बने।"

. रतिके मुखसे यह विवरण सुनकर कामको बड़ा क्रोध आया और वह कहने लगा—अरी दुश्चरित्रे, अधिक क्यों बक रही है? जो प्रपंच तूने तैयार किया है उसे मैं खूब समझता हूँ। इस शोकमें मुझे मारकर तू दूसरा पति करना चाहती है! स्त्रियाँ भला कब एकसे प्रेम कर सकती हैं? कहा भी है:—

"स्त्रियाँ एकके साथ बात करती हैं, दूसरेको विलासपूर्वक देखती हैं और मनमें किसी तीसरे-का ही ध्यान करती रहती हैं। ये एक व्यक्ति से स्नेह नहीं कर सकतीं।"

"जिस प्रकार अग्नि काठके ढेरसे तृप्त नहीं होती, समुद्र नदियोंसे तृप्त नहीं होता, काल प्राणियोंसे तृप्त नहीं होता, उसी प्रकार स्त्रियाँ भी पुरुषों से तृप्त नहीं हो सकतीं।

वञ्चकता, नृशंसता, चंचलता और कुशीलता—ये दोष स्त्रियोंमें निसर्गसे पाये जाते हैं। फिर स्त्रियाँ सुखद कैसे हो सकती हैं ?" और—

"जिनकी वाणीमें कुछ अन्य होता है, मनमें कुछ अन्य रहता है तथा कर्ममें कुछ अन्य ही रहता है वे स्त्रियाँ सुखदायी कैसे हो सकती है ?" और भी कहा है—

"स्त्रियाँ कुशीलोंके साथ विचरण करती हैं। कुलक्रम का उलंघन करती हैं और गुरु, मित्र, पति तथा पुत्र किसीका भी ध्यान नहीं रखतीं।

जो महापंडित देव, दैत्य, साँप, व्याल, ग्रह, चन्द्र और सूर्यकी गतिविधिके परिज्ञाता हैं वे भी स्त्रियोंका आचार नहीं जान पाते।" अथ च—

"जो तत्त्वज्ञानी सुख-दुःख, जय-पराजय और जीवन-मरणके तत्त्वको समझते हैं वे भी स्त्रियोंके व्यवहारसे ठगाये जाते हैं।

जलयान समुद्रके एक छोरसे दूसरे छोरतक पहुँच जाते हैं और ग्रह आदि आकाशके। परन्तु स्त्रियोंके दुश्चरित्रका पार कोई भी प्राप्त नही कर सकता।" और—

"क्रुद्ध हुए सिंह, व्याघ्र, व्याल, अग्नि और राजा भी उतना अनिष्ट नहीं करते जितना एक क्रुद्ध निरङ्कुश नारी मनुष्यका कर सकती है।" एवञ्च—

"स्त्रियाँ धनके हेतु हँसती हैं और रोती हैं। मनुष्यको विश्वासी बना देती हैं, लेकिन स्वयं विश्वस्त नहीं होतीं। इसलिए कुलीन, सुशील और पराक्रमी मनुष्यको चाहिए कि वह स्मशानके घड़ोंके समान इनका परित्याग कर दे।"

§ १८. मकरध्वजके इस प्रकार दारुण वाक्य सुनकर रतिने कहा—नाथ, आप ठीक कहते हैं; पर आपको उचित-अनुचितका विवेक नहीं है। कहा भी है :—

"रेशम कीड़ोंसे बनता है, सुवर्ण पत्थरसे निकलता है, दूब गोरोमसे पैदा होती है, कमल कीचड़से उत्पन्न होता है, चन्द्रमा समुद्रसे जन्म लेता है, नीला कमल गोबरसे प्रकट होता है, अग्नि काठसे निकलती है, मणि साँपके फणसे उत्पन्न होता है, और गोरोचन गोपित्तसे प्रकट होता है। इस प्रकार मूल्यवान् पदार्थ अपनी-अपनी प्रकट विशेषताओंके कारण मूल्यवान् समझे जाते हैं। जन्मसे कोई मूल्यवान् नहीं बनता।"

रति काम से कहती है—नाथ, ठीक इसी प्रकार अखिल स्त्री-सृष्टि दूषित नहीं कही जा सकती और इसी लिए मुझे भी आपको इस कोटिमें नहीं रखना चाहिए। आप ही बतलाइए, आपको छोड़कर और किसे मैं अपना पति बनाना चाहती हूँ ? इसलिए आपने जो मेरे ऊपर यह लाञ्छन लगाया है, उसका कोई अर्थ नहीं है।

मकरध्वजकी बात सुनकर प्रीति कहने लगी—सखि, वास्तवमें इन्होंने बहुत ही अनुचित बात कही है। लेकिन अब इस व्यर्थके विवादसे क्या मतलब ? फिर सखि, तुम्हींने तो अपने ऊपर सन्देह किया। देखो—

"कच्ची समझके मूर्खोंके साथ बात करनेके चार ही परिणाम है—वाणीका व्यय, मनस्ताप, ताड़न और बकवाद।"

"जो पुरुष दुराग्रही है उसके मनको कोई भी विद्वान् बदल नहीं सकता। जिस प्रकार मेघ काले पत्थरोंको जरा भी मृदु नहीं कर सकते।"

प्रीति कहने लगी—सखि, चलो, अब पतिदेवकी आज्ञाका पालन करके अपने पापका प्रायश्चित्त कर डालें। कहा भी है:—

"महादेवजी अब भी कालकूटका परित्याग नहीं कर रहे हैं। कच्छप आज भी अपनी पीठपर पृथ्वीका भार उठाये हुए है। और समुद्र अद्यावधि दुःसह बड़वानल समेटे हुए है। ठीक है, कर्त्तव्य-निष्ठ मनुष्य अङ्गीकृत कार्यको सदैव पूर्ण करते हैं।" तथा—

"सूर्यवंशी राजा हरिश्चन्द्रको चाण्डालकी सेवा करनी पड़ी। अद्भुत पराक्रमी रामको पर्वतोंकी कन्दराएँ छाननी पड़ीं। और भीम आदिक चन्द्रवंशी नरेशोंको रङ्कके समान दीनता दिखलानी पड़ी। ठीक है, अपनी बातके निर्वाहके लिए महान् पुरुषोंने भी क्या क्या अनीप्सित कार्य नहीं किया?"

इस प्रकार अपनी सखीकी बात सुनकर रतिने कामको प्रणाम किया और वह जिनराजके पास जानेके लिए आर्यिकाका वेष बनाकर निकल पड़ी।

"रति कामके निकटसे इस प्रकार निकली जिस प्रकार चन्द्ररेखा आकाशसे निकलती है, गङ्गा हिमाचलसे निकलती है, और हथिनी क्रुद्ध हाथीके पाससे चली जाती है।"

§ १९. जैसे ही रति निर्ग्रन्थ-मार्गसे जा रही थी, मकरध्वजके प्रधानसचिव मोह उसके सामने आ गये। मोहने देखा कि रति बहुत ही क्षीण हो गयी है और चिन्तित भी है। रतिकी इस प्रकारकी अवस्था देखकर उसे बड़ा विस्मय हुआ और वह रतिसे कहने लगाः—देवि, आपने यह विषम मार्ग किसलिए अङ्गीकार किया है?

मोहकी बात सुनकर रतिने उसके सामने समस्त घटना-चक्र ज्योंका त्यों रख दिया।

रतिकी बात सुनकर मोहने कहा—देवि, जिस समय संज्वलनने अपनी विज्ञप्ति सुनायी थी मैं उसी समय भाँप गया था कि आगे इस प्रकारका घटनाचक्र चलेगा। मैं भी महाराज मकरध्वजकी आज्ञानुसार सैन्य तैयार करनेके लिए गया था और लौटकर ही न आ पाया कि महाराजने आपके लिए इस प्रकारकी अनुचित आज्ञा दे डाली!

मोहकी बात सुनकर रतिने कहा—मोह, जो विषयी होते हैं उन्हें उचित-अनुचितका विवेक नहीं होता। कहा भी हैः—

"क्या स्वर्गमें कुवलयके समान कमनीय नेत्रवाली देवाङ्गनाएँ नहीं थी जो इन्द्रने तपस्विनी अहिल्याका सतीत्व-भंग किया? ठीक है, जब हृदयकी तृण-कुटीरमें कामाग्नि दहकने लगती है तो अच्छा विवेकनिष्ठ भी विवेक-बुद्धि खो बैठता है।"

रति मोहसे कहती गयी—आप भी इस बातसे अनभिज्ञ नहीं है कि मुक्ति-रमा जिननाथको छोड़कर अन्य किसीका नाम तक नहीं सुनना चाहती। फिर समझमें नहीं आता कि प्राणनाथ दूसरे-की स्त्रीके लिए क्यों इतने लालायित हैं? सुनिए, परस्त्री-सेवन कितना भयंकर हैः—

"नीतिविदोंका कथन है कि परस्त्री प्राणोंका नाश करनेवाली है, घोर विरोधका कारण है और दोनों लोकमें अनुपसेव्य है। इसलिए मनुष्य परदाराकी चाह कभी न करे।" अथ च—

"परकीया नारी संसार-भ्रमणका कारण है, नरकद्वारके मार्गके लिए दीपिकाके समान है और शोक एवं कलहका मूल कारण है। इसलिए मनुष्यको चाहिए कि वह परदाराकी चाह कभी न करे।

जो परदारासे अनुचित सम्बन्ध रखते हैं, उनका सर्वस्वतक छिन जाता है। वे बाँधे जाते हैं, उनके शरीरके अङ्ग छेदे जाते हैं और मरकर वे घोर नरकमें जाते हैं।

जो मूढ़ मनुष्य परकीय स्त्रीकी केवल चाहतक करते हैं वे जन्म-जन्मान्तरमें नपुंसक होते हैं, तिर्यञ्च होते हैं और दरिद्र होते हैं।"

§ २०. रतिकी इस प्रकार विस्तृत बात सुनकर मोहमल्लने कहा—देवि, आप बिलकुल ठीक कह रही हैं, लेकिन भवितव्यता अन्यथा नहीं हो सकती। कहा भी है:—

"जिसकी जैसी भवितव्यता होती है वह होकर रहती है। और वह भी उसी रूपमें होती है, अन्यथा नहीं। मनुष्य या तो भवितव्यताके रास्तेपर खींच लिया जाता है या वह स्वयं ही उस रास्तेसे प्रयाण करता है।

जो भवितव्य नहीं है वह कभी नहीं होता और जो भवितव्य होता है वह अनायास भी होकर रहता है। यदि भवितव्यता नहीं है तो हथेलीपर रक्खी हुई वस्तु भी विनस जाती है।"

इसके पश्चात् रतिने कहा—मोह, तुम यह बताओ कि मैं इस समय क्या करूँ? यदि मैं लौटकर तुम्हारे साथ चलूँ तो प्राणनाथ मुझे देखकर बहुत नाराज होंगे। इसलिए तुम चलो। मेरा लौटना अब ठीक नहीं है।

मोहने कहा—देवि, यह न होगा। आप अवश्य ही मेरे साथ लौट चलिए। रतिने कहा—मोह, आप मुझे प्राणनाथके पास ले जाकर क्या कहेंगे?

मोहने कहा—देवि, इस सम्बन्धमें आप क्यों चिन्ता करती हैं?

"जिस प्रकार अच्छी वर्षाके समय बोये गये बीजसे और बीज पैदा होता है, उसी प्रकार प्रश्नकर्त्ताके उत्तरसे वार्तालापकी परम्परा चल पड़ती है।"

इस प्रकार मोह रतिको साथमें लेकर कामके निकट जा पहुँचा।

इस तरह ठक्कुर माइन्ददेव द्वारा प्रशंसित जिन (नाग)देव-विरचित
संस्कृतबद्ध स्मरपराजयमें श्रुतावस्था नामक
प्रथम परिच्छेद सम्पूर्ण हुआ।

———***———

[द्वितीय परिच्छेद]

§ १. मकरध्वजने जैसे ही रतिके साथ वापिस आये हुए मोहको देखा वह लज्जासे लाल-लाल हो गया और उसके मुखसे एक शब्द भी न निकला। इतनेमें मोहने मकरध्वजसे कहा—महाराज, आपने यह कैसा अनुचित कार्य किया है ? आप इतने अधीर हो गये कि मुझे लौटकर वापिस भी न आने दिया ? फिर स्वामिन्, क्या किसीने कभी अपनी पत्नीको भी दूत बनाया है ? और क्या आपको इतना भी नहीं मालूम है कि निर्ग्रन्थ-मार्ग कितना विषम है ? कदाचित् इस मार्गसे जाती हुई रति-की मुक्ति-स्थानके संरक्षक हत्या कर देते तो इस महत् आत्म-हत्याके पापका कौन भागी होता ? संसार भरमें जो तुम्हारा अपयश फैलता वह अलग। इसलिए मेरी अनुपस्थितिमें तुमने ठीक मन्त्र नहीं किया। कहा भी है:—

"अनुचित परामर्शसे राजा नष्ट हो जाता है। परिग्रहसे यति नष्ट हो जाता है। लाड़ करनेसे पुत्र नष्ट हो जाता है। अध्ययन न करनेसे ब्राह्मण नष्ट हो जाता है। कुपुत्रसे कुल नष्ट हो जाता है। दुर्जन-संसर्गसे शील नष्ट हो जाता है। स्नेहके न होनेसे मैत्री नष्ट हो जाती है। अनीतिसे समृद्धि नष्ट हो जाती है। परदेशमें रहनेसे स्नेह टूट जाता है। मद्य-पानसे स्त्री दूषित हो जाती है। देख-भाल न रखनेसे खेती नष्ट हो जाती है। त्यागसे और प्रमादसे धन विनस जाता है।"

मोहने कहा—इसलिए राजा का कर्त्तव्य है कि वह विना मन्त्रीके कदापि मन्त्र न करे।

मोहकी बात सुनकर मकरध्वज कहने लगा—अरे मोह, बार-बार एक ही बात क्यों दुहरा रहे हो ? तुम जिस कामके लिए भेजे गये थे उसे तुमने कैसा किया ? पहले यह बताओ।

मोह उत्तरमें कहने लगा—स्वामिन्, आपने मुझे जिस कार्य–सैन्यसंमेलन–के लिए भेजा था, वह कार्य मैं कर चुका। साथ ही इस प्रकारका भी प्रयत्न किया है कि जिससे मुक्ति-स्त्री आपकी ही पत्नी बने। इसके अतिरिक्त मैंने इस तरहकी युक्तिका प्रयोग किया है कि उल्टे जिनराज आपकी ही सेवा करेगा। मोहकी बात सुनकर मकरध्वज बहुत प्रसन्न हुआ और कहने लगा—मोह, तुमने ठीक कहा है। यह काम तुम्हारे सिवा और कौन कर सकता है ?

मोह बोला—देव, मैं इस प्रकार प्रशंसाका पात्र नहीं हूँ। आपका जो कार्य मुझसे बन पड़ता है, वह सब आपके प्रभावसे। कहा भी है—

"वानर वृक्षकी शाखा-प्रशाखाओंतक ही उछलकर अपना पराक्रम दिखला सकता है। यदि वह समुद्र पार करता है, तो इसमें प्रभुका ही प्रभाव समझना चाहिए, वानरका नहीं।"

मोह कहता है—स्वामिन्, ठीक यही बात मेरे सम्बन्धकी है। तथा—

"धूलि यदि सूर्यको ढक देती है तो इसमें धूलिकी विशेषता नहीं, यह तो वायुका विक्रम है। इसी प्रकार यदि मेंढक साँपका मुँह चूमता है, यह भी मन्त्रविद्की कुशलता है। और चैतमें कोकिल जो कलगान करती है, वह भी आम्रवृक्षोंके मञ्जरित होनेका परिणाम है। वैसे ही मुझ-जैसा मूढ़ जो बात कर रहा है इसमें भी गुरुका माहात्म्य ही काम कर रहा है।"

अथवा बुद्धिमान् पुरुष क्या नहीं कर सकते ? कहा भी है:—

"जब मनुष्य सर्प, व्याघ्र, गज और सिंहको भी उपायोंसे वशमें कर लेते हैं तो जागरूक बुद्धिमान् पुरुषोंके लिए जिनदेवको अधीन करना क्या कठिन चीज है ?"

और भी कहा है:—

"वरं बुद्धिर्न सा विद्या विद्याया धीर्गरीयसी ।
बुद्धिहीना विनश्यन्ति यथा ते सिंहकारकाः ॥"

"बुद्धि विद्यासे अधिक गुरु है—महत् है। बुद्धिहीन मनुष्य उसी तरह विनस जाते हैं जैसे सिंह बनानेवाले वे तीन पंडित ।"

मकरध्वज इस बातको सुनकर मोहसे कहने लगा—मोह, यह बात किस प्रकारकी है ? मोह कहने लगा:—

§ २. किसी प्रदेशमें पौण्ड्रवर्धन नामका नगर था। इस नगरमें अपने-अपने शास्त्रमें पारंगत चार मित्र रहते थे। उनमेंसे एक शिल्पकार था, एक चित्रकार था, एक वणिक्-पुत्र था और एक मन्त्र-शास्त्रका जानकार था। चारों मित्र प्रतिदिन सन्ध्या-समय एक स्थानपर बैठकर विनोद-गोष्ठी किया करते थे। कुछ दिनोंके पश्चात् एक बार शिल्पकारने अपने तीनों मित्रों को सन्ध्याके समय निश्चित स्थानपर बुलाया और कहने लगा—क्या हम जिस बातको कहेंगे उसे आपलोग स्वीकार करेंगे ? मित्र शिल्पकारकी बात सुनकर तीनों मित्र कहने लगे—सखे, हमलोगोंने आपकी बात कभी टाली भी है ? क्योंकि हमें मालूम है—

"मित्राणां हितकामानां यो वाक्यं नाभिनन्दति ।
तस्य नाशं विजानीयाद् यद्भविष्यो यथा मृतः ॥"

"जो अपने हितैपी मित्रोंकी बात नहीं मानता है, उसकी यद्भविष्यके समान मृत्यु हो जाती है ।"

इस बातको सुनकर शिल्पकार कहने लगा—महाराज, आप यह कैसी बात कह रहे हैं ? इसका खुलासा कीजिए। शिल्पकारकी बात सुनकर वे मित्र कहने लगे:—

§ ३. किसी स्थानमें कमलोंसे सुशोभित एक जलाशय था। उस जलाशयमें अनागतविधाता, प्रत्युत्पन्नमति और यद्भविष्य नामके तीन स्थूलकाय मत्स्य रहते थे। इस प्रकार रहते-रहते इन्हें बहुत दिन बीत गये।

कुछ दिनोंके पश्चात् उस जलाशयके निकट घूमते-घामते कुछ धीवर आये। धीवर इस जलाशय-को देखकर आपसमें कहने लगे :-

'देखो, इस तालाबमें कितने अधिक मत्स्य हैं। अतः यह ठीक होगा कि हमलोग यहाँ सुबह आवें और तालाबके जलको छानकर उन्हें ले जावें।' साथियोंने भी इस प्रस्तावका समर्थन किया और वे अपने-अपने घर चले गये।

अनागतविधाताको इन लोगोंकी बात सुनकर ऐसा मालूम हुआ जैसे उसकी छातीमें किसीने वज्र मार दिया हो। उसने अपने साथी मत्स्योंको बुलाकर कहा:–आप लोग क्या कुछ दिनतक और जीना चाहते हैं ? अनागतविधाताकी बात प्रत्युत्पन्नमतिको बड़ी असंगत-सी मालूम हुई। वह अपने पूर्व साथीसे कहने लगा–मित्र, आप यह बात क्यों कह रहे हैं ?

अनागतविधाता कहने लगा :–मित्र, मैंने यह बात इसलिए कही है कि आज कुछ धीवर यहाँ आये थे। उन्होंने इस तालाबको देखकर यह कहा कि–"इसमें बहुत मत्स्य हैं। इसलिए हमलोग सुबह यहाँ ही आवें।" इतना कहकर वे चले गये। वे लोग प्रातः यहाँ अवश्य ही आवेंगे और हमें पकड़कर ले जावेंगे। इसलिए हमारा कर्त्तव्य है कि हम शीघ्र ही यहाँसे अन्यत्र प्रस्थान कर दें। कहा भी है :–

"कुलके स्वार्थके लिए एकका त्याग कर देना चाहिए। जनपदकी हित-दृष्टिसे ग्रामका त्याग कर देना चाहिए और अपनी स्वार्थ-सिद्धिके लिए पृथिवीतककी चिन्ता न करनी चाहिए।"

अनागतविधाताकी बात सुनकर प्रत्युत्पन्नमति कहने लगा:—हाँ मित्र, अब हमें यहाँसे शीघ्र ही प्रस्थान कर देना चाहिए। पर जब इन दोनोंकी बात यद्भविष्यने सुनी तो वह हंसकर कहने लगा:–'अरे, आप लोग आपसमें क्या छोटी-सी बातपर विचार कर रहे हैं? यदि मरना ही होगा तो हम अन्यत्र भी चले जावें, मृत्युसे नहीं बच सकते। कहा भी है :–

"मनुष्य जिस वस्तुकी रक्षा नहीं करता है वह दैवसे रक्षित होकर बची रहती है। इसके विपरीत जिसकी खूब सावधानीसे रक्षा भी की जाय और यदि दैवकी अनुकूलता न हो तो वह विनस जाती है। अनाथको वनमें छोड़नेपर भी वह जीवित रह जाता है और अनेकों प्रयत्न करनेपर भी चीज घरमें नहीं बच पाती है।" अथ च–

"जो भवितव्य नहीं है, वह कभी नहीं होता है। और जो भवितव्य है वह होकर ही रहता है। भवितव्यताके न होनेपर हाथमें रक्खी हुई चीज भी नष्ट हो जाती है।" और–

"जिस प्रकार गायका बछड़ा हजार गायोंमेंसे अपनी माँको पहिचान लेता है। उसी प्रकार पूर्व जन्ममें किया गया कर्म कर्त्ताका अनुसरण करता है।"

इसलिए हम भले ही अन्यत्र चले जावें, परन्तु जो होनहार है वह अवश्य होकर रहेगी। एक बात और। धीवरोंके कथनको सुनने मात्रसे हमें पिता-पितामह आदिसे उपार्जित जलाशय न छोड़ देना चाहिए। इस दृष्टिसे मैं तो आपलोगोंके साथ नहीं जाना चाहता।'

यद्भविष्यकी इस प्रकारकी बात सुनकर वे दोनों साथी कहने लगे:—मित्र यद्भविष्य, यदि आप हमारे साथ नहीं आते हैं तो इसमें हमलोगोंका कोई अपराध नहीं है। यह कहकर अनागत-विधाता और प्रत्युत्पन्नमति नामके मत्स्य दूसरे जलाशयमें चले गये।

प्रभात हुआ। मछली पकड़नेवाले धीवर वहाँ आये। जाल डाले गये। और अन्य मछलियोंके साथ यद्भविष्यको पकड़कर वे ले गये।

मित्रगण शिल्पकारसे कहने लगे—इसलिए हम कहते हैं कि:—

"मित्राणां हितकामानां यो वाक्यं नाभिनन्दति।
तस्य नाशं विजानीयाद् यद्भविष्यो यथा मृतः॥"

"जो अपने हितैषी मित्रोंकी बात नहीं मानता है,उसकी यद्भविष्यके समान मृत्यु हो जाती है।"

§ ४. इस प्रकार तीनोंकी बात सुनकर शिल्पकारने कहा—यदि यह बात है तो हमलोगोंको देशान्तरमें जाकर कुछ द्रव्योपार्जन करना चाहिए। अपने देशमें तो कुछ दिन रहना ही ठीक है। नीतिकारोंका कथन भी है कि:—

"जो पुरुष परदेश जानेसे डरते हैं, अति आलसी और प्रमादी हैं वे पुरुष नहीं हैं, बल्कि काक, कापुरुष और मृग हैं। तथा अपने देशमें रहते-रहते ही उनकी मृत्यु हो जाती है।" अथ च—

"शक्तिशालियोंके लिए क्या वस्तु भारभूत है और व्यवसायियोंके लिए क्या दूर है? विद्वानोंके लिए क्या विदेश है और मधुर-भाषियोंके लिए कौन पर है?—कोई नहीं।" एक बात और—

"संसारमें ऐसा कोई काम नहीं, जो धनसे सिद्ध न हो सके। इसलिए बुद्धिमान्को चाहिए कि वह प्रयत्नपूर्वक एक धनको ही संचित करे।

जिसके धन है, उसके मित्र हैं। जिसके धन है, उसके बन्धु हैं। जिसके धन है, वह लोकमें पुरुष है; और जिसके धन है, वही जीवित है।

संसारमें धनी पुरुषोंके लिए पराया भी आत्मीय जन-जैसा प्रतीत होता है। और दरिद्रोंके लिए अपना आदमी भी तत्काल दुर्जन-जैसा मालूम देता है।" और—

"जो अपूज्य भी पूजा जाता है, अगम्य भी गम्य होता है और अवन्द्य भी वन्दित होता है—वह सब धनका प्रभाव है।

जैसे पर्वतोंसे निकली हुई नदियोंसे अनेक काम लिए जाते हैं उसी प्रकार सब तरफसे सुरक्षित वर्धमान धनसे भी अनेक उपयोगी कार्य निकाले जाते हैं।

धनसे पेट भरा जाता है और धनसे ही इन्द्रियोंके सब काम निकलते हैं। इसीलिए धन सबका साधन कहा गया है।"

इस प्रकार शिल्पकारकी बात सुनकर अन्य साथी कहने लगे—मित्र, आपका कहना बिलकुल ठीक है। हमें यही करना चाहिये। यह सोचकर वे चारों साथी देशान्तरके लिए चल पड़े।

§ ५. चलते-चलते अपराह्नके समय वे किसी भयंकर जंगलमें जा पहुँचे। जैसे ही वे इस भीषण अरण्यमें पहुँचे, सन्ध्या हो आयी। उनमेंसे शिल्पकार कहने लगा—देखो, हम लोग रातके समय कैसे भयंकर वनमें आ पहुँचे हैं। यहाँ हम लोगोंमेंसे प्रत्येकको एक-एक पहर तक जागरण करना चाहिए। अन्यथा चोर या व्याघ्र आदि वन्य जन्तुसे कुछ अनिष्ट हो सकता है। अन्य साथियोंने शिल्पकारकी बातका समर्थन करते हुए कहा–मित्र, आप ठीक कह रहे हैं। हम लोगोंको एक-एक पहरतक अवश्य जागरण करना चाहिए। इस प्रकार कह कर वे तीनों साथी सो गये।

पहला पहर शिल्पकारको जागरणमें व्यतीत करना था। इसलिए नींद न आनेके लिए उसने एक लकड़ी लाकर महाभयंकर सर्वाङ्गपूर्ण सिंह तैयार किया। इतनेमें उसका जागरण-काल समाप्त हो गया और वह चित्रकारको जगानेके लिए उसके पास गया और कहने लगा—मित्र, उठिये, अब आपके जगनेका समय हो गया है। इस तरह वह चित्रकारको उठाकर सो गया।

चित्रकारने जागकर जैसे ही नजर पसारी तो उसे लकड़ीका महाभयंकर सिंह दिखलायी दिया। उसे देखकर और कुछ सोचकर चित्रकार कहने लगा—'अच्छा, इस उपायसे शिल्पकारने अपनी नींद तोड़ी है। अब मुझे भी कुछ नींद न लेनेका यत्न करना चाहिए।' इस प्रकार सोचकर उसने उस सिंहको लाल-काले-पीले और नीले रंगोंसे चित्रित करना प्रारंभ कर दिया। जब चित्रकार उस सिंहको इस

प्रकार रंगानुरञ्जित कर चुका तो मन्त्रसिद्धिके निकट गया और बोला—मित्र, उठो-उठो, अब तुम्हारे जगनेका नम्बर आ गया है। इस प्रकार मन्त्रसिद्धिको जगाकर चित्रकार सो गया।

मन्त्रसिद्धि जैसे ही उठा, उसने अपने सामने एक महाभयंकर, सर्वांगपूर्ण, जीता-जागता लकड़ीका सिंह देखा और इसे देखते ही वह डर गया। उसने सोचा—इस समय क्या करना उचित है। मालूम देता है, आज सबकी मौत आ गयी है। यह सोचते ही वह तुरन्त धीमी गतिसे मित्रोंके निकट पहुँचा और उनसे कहने लगा—मित्रो, उठिए, उठिए। जंगलमें कोई भयंकर जन्तु आ गया है।

मन्त्रसिद्धिका कोलाहल सुनकर तीनों साथी उठ बैठे। वे कहने लगे—मित्र, आप हम लोगोंको व्यर्थ ही क्यों व्याकुल कर रहे हैं? मन्त्रसिद्धि बोला—अरे, देखिए तो यह सामनेका जन्तु, जिसे मैंने मन्त्रसे कीलित कर दिया है और जो इसी कारणसे आगे नहीं बढ़ पा रहा है। मन्त्रसिद्धिकी बात सुनकर उसके साथी हँस पड़े और कहने लगे—अरे मित्र, यह तो लकड़ीका शेर है। क्या तुम इतना ही नहीं पहचान सके। वे आगे कहने लगे—हम दोनोंने इस लकड़ीके केसरीमें अपनी विद्याका चमत्कार दिखलाया है। यही कारण है जो तुम इसे सजीव सिंह समझ बैठे।

मित्रोंकी बात सुनकर मन्त्रसिद्धि उस लकड़ीके सिंहके पास गया और उसे वास्तविक लकड़ीका शेर पाकर बहुत लज्जित हुआ। वह अपने साथियोंसे कहने लगा—मित्रो, इस लकड़ीके शेरमें प्रसंगानुसार आप लोग तो अपनी विद्याका चमत्कार दिखला चुके हैं। अब मेरी विद्याका भी चमत्कार देखिए। अपने विद्या-बलसे मैं इसे जीवित न कर दूँ तो मैं मन्त्रसिद्धि ही किस कामका?

मन्त्रसिद्धिकी बातका अन्य मित्रोंने तो खयाल नहीं किया लेकिन वणिक्पुत्रके मनमें उसकी बात समा गयी। उसने सोचा, कदाचित् मन्त्रसिद्धिने इस लकड़ीके शेरको जीवित कर दिया तो महान् अनिष्ट उपस्थित हो जानेकी आशङ्का है। इसलिए मुझे दूर रहकर ही इस घटनाका निरीक्षण करना चाहिए। क्योंकि मणि, मन्त्र और ओषधियोंका अचिन्त्य प्रभाव हुआ करता है। इस प्रकार सोचकर जैसे ही वणिकपुत्र वहाँसे चलने लगा, उन दोनों मित्रोंने उससे पूछा—मित्र, कहाँ जा रहे हो? वणिकपुत्रने उत्तरमें कहा—मैं लघुशङ्का करने जा रहा हूँ। अभी आता हूँ। इतना कहकर जैसे ही वणिक्पुत्र वहाँसे चला, उसे सामने एक वृक्ष दिखलायी दिया—

"उस वृक्षकी छायामें मृग सो रहे थे, पत्तोंमें पक्षियोंने घोंसले बना रक्खे थे, खोखलोंमें कीड़े निवास कर रहे थे, शाखाओंपर बन्दर डेरा डाले हुए थे और भ्रमर जिसके कुसुम-रसका पान कर रहे थे।

वणिकपुत्रने इस वृक्षको देखकर कहा—वास्तवमें इस प्रकारके वृक्षका ही जन्म सार्थक है, जो अपने सर्वांगसे अनेक प्राण-धारियोंको सुख दे रहा है। अन्य प्रकारके वृक्ष, जिनसे किसी भी सचेतनका प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है, पृथ्वीके लिए केवल भार-स्वरूप ही हैं।"

इस तरह विचारकर वणिकपुत्रने अपनी निद्रा भंग कर दी और वृक्षपर चढ़कर मन्त्रसिद्धिके क्रिया-काण्डको देखने लगा।

तदुपरान्त मन्त्रसिद्धि ध्यानारूढ़ होकर मन्त्रका जाप करने लगा और इस प्रकार उसने इस काष्ठमय शेरमें जीवन डाल दिया। शेर जीवित हो गया। उसने मेघकी तरह भयंकर गर्जन और

अट्टहास किया। नेत्रों को पलाशके अङ्गारेकी तरह लाल किया। और अपनी एक ही उछाल में पूँछको हिलाता हुआ वह तीनोंके सामने आ गया और तीनोंको मारकर गिरा डाला।

मोह कामसे कहने लगा—इसलिए मैं कहता हूँ—

"वरं बुद्धिर्न सा विद्या विद्याया धीर्गरीयसी।
बुद्धिहीना विनश्यन्ति यथा ते सिंहकारकाः॥"

"विद्या से बुद्धि अधिक गुरु है—महत् है। बुद्धिहीन मनुष्य उसी तरह नष्ट हो जाते हैं जिस प्रकार सिंह बनानेवाले वे तीन पण्डित।"

§ ६. इस घटनाको सुनकर मकरध्वज कहने लगा—मोह, तुमने बिलकुल सच कहा है, बुद्धिके विना कुछ नहीं हो सकता। लेकिन मैं यह जानना चाहता हूँ कि तुमने जो सैन्य-संमेलन किया है, उसे यहाँ लाये हो या नहीं?

उत्तरमें मोह कहने लगा—देव, मैंने सैन्य-संमेलन करके उससे यह कह दिया है कि 'मैं स्वामीकी आज्ञा लेकर अभी आता हूँ। आप तबतक यहीं ठहरिए।' इस प्रकार कहकर मैं आपके पास चला आया हूँ। अब आप जो आज्ञा दें, मैं उसका पालन करनेके लिए प्रस्तुत हूँ।

मोहकी बात सुनकर मकरध्वजको बड़ा संतोष हुआ। उसने मोहको अपनी छातीसे लगा लिया और कहने लगा—मोह, तुम्हीं तो हमारे मन्त्री हो। इस समस्त राज्यकी तुम्हें ही रक्षा करनी है। इसलिए इस समय मुझसे क्या पूछते हो? जो तुम्हें उचित मालूम दे, करो। नीतिज्ञोंने कहा भी है:—

"जब राज्यपर गंभीर संकट उपस्थित होता है तब मन्त्रियोंकी बुद्धिकी परीक्षा होती है और सन्निपात होनेपर वैद्योंकी। स्वस्थ अवस्थामें तो सभी कुशल कहलाते हैं।"

मकरध्वजकी बात सुनकर मोहने कहा—महाराज, आप ठीक कह रहे हैं। फिर भी सेनाके आनेके पहले हमें दूत भेजना चाहिए। कहा भी है:—

"पहले दूत भेजना चाहिए और फिर युद्ध करना चाहिए। नीतिशास्त्रके पंडित दूतकी इसीलिए प्रशंसा करते हैं।

वस्तुतः दूतसे ही सेनाकी सबलता और निर्बलताका पता चलता है। और सेनाकी संख्याका ज्ञान भी दूतसे ही होता है। इसलिए दूत राजाके लिए बड़ा भारी बल है।"

§ ७. मकरध्वजने कहा—मोह, तुमने बहुत उपयुक्त बात सुझायी है। लेकिन दूत कार्य-कुशल होना चाहिए।

मोहने कहा—महाराज, राग और द्वेषको बुलवाइए और इन्हें दूतत्वका भार समर्पित कीजिए।

काम कहने लगा—मोह, क्या राग और द्वेष सफलताके साथ दूतत्वका निर्वाह कर सकेंगे?

मोहने कहा—स्वामिन्, राग-द्वेषको छोड़कर और कौन प्रशस्त दूत हो सकता है? ये दूतत्वके लिए बहुत सुयोग्य हैं। कहा भी है:—

"राग और द्वेष अनादिकालीन महान् ग्रह हैं और ये ही अनन्त दुःख-परम्पराके प्रथम अङ्कुर हैं।" और—

"यदि संयमी अपनी चित्तवृत्तिको आत्माभिमुख करता है तो भी राग और द्वेष उसे भव-सागरमें डुबोते हैं।" तथा—

"ये राग और द्वेष देहधारियोंके मनमें अनायास ही हो जाते हैं। ये महान् वीर हैं और ज्ञान-राज्यके समूल विध्वंसक हैं।

'राग और द्वेष मनको कहीं भुलाते हैं, कहीं भ्रमाते हैं। कहीं डराते हैं, कहीं रुलाते हैं। कहीं शंकित करते हैं और कहीं दुख देते हैं।"

कामने राग और द्वेषका इस प्रकारका विक्रम-वर्णन सुनकर उन्हें बुलवाया और अपने शरीरके वस्त्र और और आभूषण देकर उनका खूब सम्मान किया। तदुपरान्त उनसे कहा—क्या आप लोग कुछ दूत-कार्य कर सकते हैं ? राग-द्वेष कहने लगे—देव, कहिए क्या आज्ञा है ? हम अवश्य उसका अनुपालन करेंगे।

काम कहने लगा—यदि आप दूत-कार्य कर सकते है तो चारित्रपुरमें जाकर जिनेश्वरको कहिए कि—भो जिन, सिद्धि-अङ्गनाके साथ जो तुम विवाह करने जा रहे हो सो क्या तुम त्रैलोक्यके स्वामी कामदेवकी आज्ञा ले चुके हो ? साथ ही यह भी कहना कि वह त्रिभुवनके महान् मूल्यवान् तीन रत्न वापिस दे दे। अन्यथा प्रभात समय कामदेव समस्त सेनाके साथ उसके ऊपर चढ़ आवेंगे।

इस प्रकार कामने राग और द्वेषको दूतत्वका भार सौंपकर अपने यहाँसे विदा कर दिया।

§८. राग और द्वेषको जिनराजके स्थानपर पहुँचनेके लिये अत्यन्त विषम मार्गसे जाना पड़ा और वहाँ पहुँचते-पहुँचते वे अत्यन्त क्षीण और निष्प्रभ हो गये। अंतमें ये संज्वलनके पास पहुँचे और कहने लगे—मित्र संज्वलन, तुम हम लोगोंको किसी प्रकार जिनराजके पास पहुँचा दो।

संज्वलन कहने लगा—तुम लोग जिनराजके पास किसलिए आए हो ?

राग-द्वेष कहने लगे—अपने स्वामीकी आज्ञापालन करनेके लिए हम लोग यहाँ आए हैं।

संज्वलन फिर कहने लगा—पहले यह तो बताओ, तुमने अपनी वीर-वृत्ति छोड़कर यह दूत-कार्य क्यों अङ्गीकार किया ?

राग-द्वेष बोले—संज्वलन, तुम बिलकुल मूर्ख हो ! स्वामीकी आज्ञा, चाहे वह अच्छी हो या बुरी, अवश्य शिरोधार्य होनी चाहिए। अन्यथा भृत्य राज-प्रिय नहीं हो सकता। नीतिकारोंका कथन है कि:—

"जो भृत्य निडर होकर रणको भी शरण समझता है, और परदेशमें रहनेको स्वदेश-आवासके तुल्य मानता है, वह राजाके लिए स्नेह-पात्र होता है।

जो भृत्य क्षुधा, नींद, सर्दी और गर्मीसे उद्विग्न नहीं होता है, वह राजाके लिए प्रेम-पात्र होता है।

जो सम्मानके प्रसङ्गपर गर्व नहीं करता है, अपमानित होनेपर अपमानका अनुभव नहीं करता है और अपने बाह्य आकारका गोपन करता है, उससे राजा स्नेह करते हैं।

जो भृत्य राजाके द्वारा ताड़ित होनेपर भी, दुतकारे जाने पर भी, दण्डित होने पर भी उसके सम्बन्धमें पाप नहीं सोचता है, वह राजाका स्नेह-भाजन होता है।

जो भृत्य विना बुलाये भी सदा राज-द्वारमें उपस्थित रहता है और प्रश्न किए जानेपर सत्य और परिमित बोलता है, वह राजाके लिए प्यारा होता है।

जो भृत्य सदा युद्धकालमें राजाके आगे चलता है, नगरमें पीछे चलता है और भवनपर उसके दरवाजे उपस्थित रहता है, वह राजाका प्रिय पात्र कहलाता है।" साथ ही,

"जो भृत्य प्रभुके प्रसादसे प्राप्त हुए धनको सुपात्रमें लगाता है और वस्त्र आदिको शरीरमें पहिनता है, वह राजाके स्नेहका पात्र कहलाता है।" अथ च,

संज्वलन, यह सेवा धर्म अत्यन्त कठिन काम है। कहा भी है:—

"देखो, सेवा-वृत्तिसे धन कमाने वालोंने क्या नहीं किया? सब कुछ किया। अरे, इन मूर्खोंने, और तो क्या, शरीरकी स्वतन्त्रता भी बेच डाली!" अथ च,

"विज्ञजन कहते हैं कि ये पाँच प्राणी जीवित होने पर भी मृतकवत् हैं—दरिद्री, व्याधि-ग्रस्त, मूर्ख, प्रवासी और नित्य सेवा करने वाला।" तथा,

"वनवास उत्तम है, भिक्षा माँगना उत्तम है। भार ढोकर जीविका चलाना उत्तम है। किन्तु विवेकी पुरुषोंका यह कर्त्तव्य नहीं है कि वे सेवा-वृत्तिसे द्रव्य उपार्जित करें।" और—

"सेवा करनेवालेको छोड़कर अन्य कोई ऐसा मूर्ख नहीं है जो उन्नतिके लिए प्रणाम करता है, जीवनके लिए प्राणोंतकका उत्सर्ग करता है और सुखके लिए दुःख उठाता है।" इसी प्रकार—

"यदि सेवक राजाओंकी विविधमुख भाव-भङ्गिमाको नहीं समझता है, तो वह कभी स्निग्ध भावसे काम करनेपर भी राजाका अप्रीति-पात्र बना रहता है और कभी राजाका अपकार करनेपर भी स्नेह-पात्र माना जाता है। इस तरह यह सेवा-धर्म इतना दुर्बोध है कि पहुँचे हुए योगी भी इसे ठीक तरहसे नहीं समझ पाते।" तथा—

"सेवक यदि मौन रहता है तो लोग उसे गूंगा कहते हैं। यदि वह बात करनेमें चतुर है तो उसे बकवादी और असम्बद्ध प्रलापी कहा जाता है। यदि वह स्वामीके निकटमें रहता है तो धृष्ट कहलाता है और यदि दूर रहता है तो आलसी कहा जाता है। यदि क्षमाशील है तो भीरु कहलाता है और अनुचित बातको सहन नहीं करता है तो कुलीन नहीं कहलाता है। इस प्रकार सेवा-धर्म इतना दुर्बोध है कि पहुंचे हुए साधु भी इसे विधिवत् नहीं समझ सके हैं।"

§ ९. राग-द्वेषकी इस प्रकार युक्ति-संगत बात सुनकर संज्वलनने कहा—"आपने सेवा-धर्मका बहुत वास्तविक चित्रण किया है। सचमुच सेवाधर्म इसी प्रकार परम गहन है। पर यह तो बतलाइए, आप यहाँ किस प्रयोजनसे आये हुए हैं?

संज्वलनकी बात सुनकर राग-द्वेष कहने लगे—संज्वलन, जिस तरह बने, आप हम लोगोंको जिनराजका साक्षात्कार करा दीजिए। हम उन्हींसे भेंट करने आये हैं।

संज्वलन राग-द्वेषकी बात सुनकर चिन्तामें पड़ गया और कहने लगा—मित्र, मैं जिनराजके दर्शन करा तो सकता हूँ, लेकिन मुझे मालूम दे रहा है कि जिनराजसे भेंट करना आपके हितमें अच्छा न होगा। कारण यह है कि जिनराज कामका तो नाम ही नहीं सुनना चाहते हैं। फिर भेंट होनेपर कदाचित् उनके द्वारा आपका कुछ अहित हो गया तो बड़ा अनर्थ हो जायगा।

संज्वलनकी बात सुनकर राग-द्वेष कहने लगे—मित्र, आपका कहना बिलकुल यथार्थ है। पर मित्र होकर भी जब आप इस प्रकारकी बात कह रहे हैं तो आप ही बतलाइए, फिर हम किससे

प्रार्थना करें ? इस समय हम आपके अभ्यागत हैं और अभ्यागतोंकी प्रार्थना तो अवश्य ही सुनी जानी चाहिए। नीतिज्ञोंने कहा भी है:—

"प्रत्येक गृहस्थका यह कर्त्तव्य है कि भले ही उसके घर निम्न श्रेणीका आदमी क्यों न आवे वह उसके साथ इस प्रकारका सुखद और सीमित व्यवहार अवश्य करे—

आइए, आइए। इस आसनपर बैठिए। आप तो बहुत दिनोंमें दिख रहे हैं। क्या बात है ? आप तो बहुत दुर्बल हो गए हैं ? आपके दर्शनसे मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई।

गृहस्थको चाहिए कि वह अभ्यागतकी ओर प्रसन्न नेत्रोंसे देखे, मन और वाणीकी प्रवृत्ति उसकी ओर लगावे और उठकर उसे आसन दे। स्वागतकी यही प्राचीन परम्परा है।" और—

"संसारमें वे पुरुष धन्य हैं, विवेकी हैं और प्रशंसनीय हैं, जिनके घर मित्रजन किसी-न-किसी कार्यवश निरन्तर आते रहते हैं।"

यह सुनकर संज्वलन कहने लगा—मित्र, मैंने तो आपके हितकी बात बतायी थी। आपने उसे द्वेष-गर्भित समझ लिया। अस्तु, मैं अभी स्वामीसे पूछकर आता हूँ। नीतिकारोंका कथन है—

"पृथ्वीका, समुद्रका और पहाड़का तो अन्त मिल सकता है; पर राजाके चित्तका पता कोई कभी भी नहीं जान सका है।"

राग-द्वेष कहने लगे—अच्छी बात है, मित्र, आप स्वामीके पास जाइए। पर यह तो बतलाइए, आप हमारी बातको अनुचित तो नहीं मान गये ? यदि यह बात हो तो हमें क्षमा कर दीजिए।

राग-द्वेषकी बात सुनकर संज्वलन कहने लगा—मित्र, आपने तो यह गृहस्थधर्मकी व्याख्या भर की है। इसमें बुराईकी क्या बात ?

§ १०. इस प्रकार कहकर संज्वलन जिनराजके पास गया और कहने लगा—देव-देव, कामके दो दूत आये हुए हैं। यदि आप आज्ञा दें तो उन्हें अन्दर ले आऊँ।

संज्वलनकी बात सुनकर परमेश्वरने हाथके संकेतसे उससे कहा कि आने दो।

जिनराजकी बात सुनकर संज्वलन राग-द्वेषको बुलाने जा ही रहा था कि इतनेमें सम्यक्त्वने कहा—अरे संज्वलन, यह क्या कर रहे हो ? जहाँ निर्वेद और उपशम आदि वीर योद्धा मौजूद हैं वहाँ राग-द्वेषकी किस प्रकार कुशल रह सकती है ?

संज्वलनने कहा—जो हो, परन्तु राग-द्वेषका बल भी तो तीनों लोकमें प्रसिद्ध है। फिर अभी तो ये केवल दूत-कार्य ही सम्पादित करने आये हैं। इसलिए इस समय इनकी कुशलता और अकुशलताका तो कोई प्रश्न ही नहीं है।

संज्वलन और सम्यक्त्वकी इस चर्चाको सुनकर परमेश्वर जिनराज कहने लगे—अरे, आप लोग आपसमें क्यों विवाद कर रहे हैं ? प्रातः मुझे स्वयं सैन्यसहित मकरध्वजको पराजित करना है। इसलिए अधिक क्या, दोनों दूतों को भीतर आने दीजिए।

जिनराजकी आज्ञा पाते ही संज्वलन राग-द्वेषको जिनराजके पास ले आया।

वहाँ आकर राग-द्वेषने देखा कि जिनराज सिंहासनपर विराजमान हैं, उनके सिरपर तीन शुभ्र छत्र लटक रहे हैं, चौंसठ चामर ढुर रहे हैं। भामण्डलके प्रभा-पुञ्जसे वह दमक रहे हैं। अनन्त

चतुष्टयसे सुशोभित हैं और कल्याणातिशयोंसे सुन्दर हैं। जिनराजका इस प्रकारका वैभव देखकर राग-द्वेष एकदम चकित हो गये। उन्होंने जिनराजको प्रणाम किया और उनके पास बैठ गये।

तदुपरान्त वे जिनराजसे कहने लगे—स्वामिन्, हमारे स्वामीने जो आदेश दिया है उसे सुन लीजिए—

उनका आदेश है कि आप जो त्रिभुवनके सारभूत अमूल्य रत्न हमारे स्वामीके ले आये हैं उन्हें वापिस कर दें। दूसरे, आप जो सिद्धि-अंगनाके साथ विवाह कर रहे हैं इसमें त्रिलोकीनाथ कामकी आज्ञा आपको नहीं मिली है। तीसरे, यदि आप सुखी रहना चाहते हो तो कामकी सेवा करो और सुखसे रहो। क्योंकि कामदेवके प्रसन्न रहनेपर संसारमें कोई वस्तु दुर्लभ नहीं रहती है। कहा भी है:-

"यदि कामदेव प्रसन्न हैं तो सहज ही कपूर, कुंकुम, अगुरु, कस्तूरी और हरिचन्दन आदि अनेक वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं। और अनेक प्रकारके सुख भी।" तथा च—

"कामके प्रसन्न होनेपर धवल छत्र, मनोरम अश्व और मदोन्मत्त हाथी—सब कुछ प्राप्त रहते हैं।"

राग-द्वेष कहने लगे—इसलिए जिनराज, आपको उस कामदेवकी सेवा अवश्य करनी चाहिए, जिसकी सुरासुर-गण, चन्द्र, सूर्य, यक्ष, गन्धर्व, पिशाच, राक्षस, विद्याधर और किन्नर सेवा किया किया करते हैं, जो पाताल लोकमें शेषनागके द्वारा पूजित होता है; स्वर्गमें देव और इन्द्र जिसकी पूजा करते हैं तथा ब्रह्मा, विष्णु, महेश्वर और अन्य राजा आदि भी जिसकी सम्माननामें व्यस्त रहते हैं।

इतना ही नहीं, आप उसके साथ मित्रता स्थापित कर लें। उसके साथ शत्रुता का भाव तो आपको कदापि न रखना चाहिए। कारण, काम महान् बलवान है। कदाचित् वह तुमसे रुष्ट हो गया तो पता नहीं क्या कर डालेगा?

"और कामके क्रुद्ध हो जानेपर आप पातालमें प्रवेश करें, सुरेन्द्रलोकमें जावें, नगाधिपति सुमेरु-पर चढ़ें और मन्त्र, ओषधि तथा आयुधोंसे भी अपनी रक्षा करें, पर आप अपनी रक्षा नहीं कर सकेंगे और काम निश्चयसे तुम्हारे ऊपर प्रहार करेगा।" और—

"यह काम ही एक इस प्रकारका वीर और अचिन्त्य पराक्रमी है, जिसने जगत्को अनायास ही अपने पैरोंसे रौंद डाला है। तथा इसने विना किसी बाधाके अकेले ही अपनी शक्तिसे चराचर संसारको छिन्न करके अपने अधीन कर लिया है।" अथ च—

"केवल यह एक काम ही है, जो निःशङ्क होकर तीनों लोकको पीडित करता है और भूलोकमें सैकड़ों उपाय करनेपर भी जिसका कोई विनाश नहीं कर सका है।" तथा—

"एक आलोचककी दृष्टिमें तो यह काम कालकूटसे भी अधिक महत् विष है। उनका कहना है कि इन दोनोंमेंसे कालकूटका तो प्रतीकार भी हो सकता है, लेकिन द्वितीय काम-विषका कोई प्रतीकार नहीं है।

पिशाच, साँप, रोग, दैत्य, ग्रह और राक्षस संसारमें इतनी पीड़ा नहीं पहुँचाते, जितनी यह मदनज्वर पहुँचाता है।

जिन देहधारियोंका मन कामके बाणोंसे भिदा हुआ है वह स्वप्नमें भी स्वस्थ नहीं रह सकता।

कामाग्निकी ज्वालाओंमें जलता हुआ संसार जानता हुआ भी नहीं जानता है और देखता हुआ भी नहीं देखता है।" और—

"कामाग्निसे जलते हुएके संतापको मेघोंकी वर्षा और समुद्रका प्लावन भी शान्त नहीं कर सकता।" तथा—

"मनुष्यकी तभीतक प्रतिष्ठा रहती है, तभीतक मन स्थिर रहता है, और तभीतक हृदयमें विश्वतत्त्व-दीपक सिद्धान्त-सूत्र स्फुरित रहता है जबतक उसका हृदय क्षीर-सागरके तटवर्ती तरङ्ग-विलासोंके सदृश स्त्रियोंके कटाक्षोंसे आहत होकर आन्दोलित नहीं होता है।

जिनराज, ये वे स्त्रियाँ हैं जिनके सुन्दर भुज-लताओंके आलिङ्गन-विलासको प्राप्त करके कुरबक, तिलक, अशोक और माकन्दवृक्ष भी प्रचुर रूपसे विकारी हो जाते हैं। तब ऐसा कौन कुशल योगी है जो इनके पूर्ण चन्द्रके समान निर्मल और सलील मुख-कमलको देखकर अपने मनको निर्विकारी रख सके।" तथा—

"हाव-भावोंसे पूर्ण, भालकी कस्तूरीसे अलङ्कृत, भ्रुकुटि-विलाससे सुशोभित तथा लोल लोचनोंसे विराजित रमणियोंके मुखका क्षण-मात्र दर्शनतक पुरुषोंके हृदयमें कम्प उत्पन्न करता है और उन्हें अधीर बना देता है।"

राग-द्वेष इस प्रकार अन्तमें कहने लगे:—जिनराज हम अधिक क्या कहें? यदि आप आत्म-तोष चाहते हैं तो महाराज मकरध्वजकी सेवा कीजिए। सिद्धि-अंगनाको विवाहनेके चक्करमें क्यों पड़े हैं?

§ ११. जिनराज राग-द्वेषकी बात सुनकर कहने लगे:—अरे, तुम लोग कितने अज्ञानी हो जो इस प्रकारकी बात कह रहे हो? क्या हम उस अधम कामकी सेवा कर सकते हैं? कहा भी है:—

"जिस तरह वनमें मृग-मांसको खानेवाले सिंह भूखे होने पर भी तृण नहीं खाते हैं उसी प्रकार आपत्तियोंके आनेपर भी कुलीन पुरुष नीच-कर्म नहीं करते हैं।" और

"जिनका शील और कुल समान कोटिका है उन्हींमें मित्रता और विवाह होता है। लघु और महान्में नहीं।" तथा—

"जिनका द्रव्य, शास्त्राभ्यास और गुण एक-से होते हैं, उनमें ही निश्चय रूपसे मित्रता हो सकती है।"

जिनराज कहते गये—और जो तुमने हरि, हर, ब्रह्मा आदिकी कामदेवके द्वारा पराजित होनेकी बात बतलायी है और जो तुम यह कह रहे हो कि कामदेव मुझे भी पराजित कर डालेगा सो तुम्हें अपनी इस बातपर लज्जित होना चाहिए। उन्हें जीतनेमें कामकी कोई बहादुरी नहीं है। फिर, जो बहादुर होते हैं वे भट, नट, भाँड और स्तुति-पाठकोंके समान याचना नहीं करते हैं। जब तुम कामकी शूर-वीरताका इस प्रकार वर्णन करते हो तो वह क्यों रङ्कके समान रत्नोंकी माँग करता है? इस प्रकारकी याचनासे उसे रत्न नहीं मिल सकते।

तुम यह निश्चय कर लो, जो संग्राममें मेरा सत्त्व चूर करके मुझे पराजित करेगा या संसारमें मेरा समानधर्मा है, वही रत्नोंका स्वामी हो सकता है।

अथ च, जिन भोगोंकी ओर तुमने मुझे ललचाना चाहा है उनकी मैंने प्रारंभ हीमें परीक्षा कर ली है। और वे शाश्वतिक भी नहीं हैं।

"मुझे धन पैरकी धूलिके समान मालूम हुआ। यौवन पर्वतसे गिरनेवाली नदीके वेग-जैसा प्रतीत हुआ। मानुष्य जलबिन्दुके समान चंचल और लोल मालूम हुआ तथा जीवन फेन-जैसा अस्थिर। भोग स्वप्नके समान निःसार और पुत्र एवं प्रिय स्त्री आदि तृणाग्निके सदृश क्षणनश्वर मालूम हुए। इस प्रकार मैंने सबको क्षणनश्वर और अशाश्वत समझ कर छोड़ दिया है।" तथा—

"शरीर रोगसे आक्रान्त है और यौवन जरासे। ऐश्वर्यके साथ विनाश लगा है और जीवनके साथ मरण।

जब स्त्री नरकका द्वार है, दुःखोंकी खानि है, पापोंका बीज है, कलिका मूल है, फिर उससे आलिङ्गन आदि कैसे संभव है?

चपल जिह्वावाली क्रुद्ध सर्पिणीका आलिंगन उचित है। लेकिन नरक-पद्धति नारीका कौतुक-वश भी आलिङ्गन करना उचित नहीं है।" और—

"मैथुन धतूराके फलके समान प्रथमतः रम्य और परिणाममें अत्यन्त भयंकर है। अनन्त दुःख-परम्पराका मूल है और नरकका महान् कारण है। कोई भला आदमी इसका सेवन कैसे कर सकता है?

जिस प्रकार कुत्ता हड्डी चबाकर अपने तालुका रक्त पीते हैं, उसी प्रकार ढोंगी विट भी मैथुनके सुखका अनुभव करते हैं।"

इसलिए इस सम्बन्धमें अधिक कहनेकी जरूरत नहीं है। मैं अवश्य ही सिद्धि-अंगनाके साथ विवाह करूँगा और इस प्रकार ही मुझे शाश्वत सुख मिल सकेगा। और:—

मुझे समराङ्गणमें यदि मोह, बाण और सैन्यसहित काम मिल गया तो मैं उसे निश्चयसे निर्वीय कर दूँगा।

§ १२. जिनराजकी यह बात सुनकर राग द्वेष बड़े क्रुद्ध हुए और कहने लगे—हे जिनराज, इस प्रकार मुँह चला कर क्या बकवाद कर रहे हो? महापुरुष कभी भी आत्म-प्रशंसा नहीं करते हैं। फिर जबतक काम तुम्हें अपने बाणोंसे नहीं भेदता है, तभीतक तुम शाश्वतिक सुखकी कल्पनामें तन्मय हो रहे हो। कहा भी है:—

"विद्वानोंके मनमें तभीतक विवेक जागृत रहता है और शास्त्रज्ञान भी तभीतक चमकता है, जबतक उनके ऊपर कामदेवकी बाण-वर्षा नहीं होती।"

दूत इस प्रकार कह कर चुप ही हुए थे कि संयम उठा और दोनोंको एक एक चाँटा जड़कर दरवाजेसे बाहर कर दिया।

इस प्रकार ठक्कुर माइन्ददेवके द्वारा प्रशंसित जिन (नाग) देव-
विरचित स्मर-पराजयमें दूतविधि-संवाद नामक
द्वितीय परिच्छेद सम्पूर्ण हुआ।

——•••——

[तृतीय परिच्छेद]

§ १. संयमसे अपमानित होनेपर राग और द्वेष बड़े क्रुद्ध हुए। वे वहाँसे चलकर सीधे कामदेवके पास पहुँचे और उसे प्रणाम करके बैठ गये।

राग-द्वेषके पहुँचते ही कामने पूछा—हाँ भाई, तुमने जिनराजके पास जाकर क्या कहा, जिनराजने क्या उत्तर दिया और उसकी युद्ध-सामग्री किस प्रकार की है?

कामदेवके इस प्रकार पूछनेपर राग-द्वेष कहने लगे:—राजन्, यह बात हमसे न पूछिए। जिनराज अत्यन्त अगम्य, अलक्ष्य और महान् बलवान् है। वह आपको कुछ नहीं समझता है। हम लोगोंने उसे साम, दाम, दण्ड और भेद—सब तरहसे समझाया, पर अपनी शक्तिके अभिमानमें उसे किसीकी परवाह नहीं है। इतना ही नहीं, जिनराजने यह भी कहा है कि—'मैं उस अधमकी सेवा नहीं कर सकता और प्रातःकाल मुझे ससैन्य कामको पराजित करना है।'

शल्यवीरने कहा—राग-द्वेष, आप लोग यह क्या अप्रिय बात कह रहे हैं? क्या आप हमारी सेनाके अन्तर्गत नहीं थे जो आपने इस प्रकार पराभवका घूँट पी लिया?

राग-द्वेष कहने लगे—महाराज शल्यवीर, पराभव सहन करनेका एक कारण है। वह यह कि जो महामना होते हैं वे अपनेसे छोटोंको सताते नहीं है। कहा भी है:—

"वायु सब प्रकारसे प्रणत और मृदुल तृणोंको नहीं उखाड़ती, बल्कि वह उन्नत वृक्षोंको ही बाधा पहुँचाती है। ठीक है, महान महान पुरुषोंके साथ ही विग्रह करते हैं।" तथा—

"शक्तिशाली हाथी अपने मद-जलसे परिपूर्ण गंडस्थलपर सुगन्ध-लोलुप भौंरोके पाद-प्रहारसे पीडित होनेपर भी क्रोध नहीं करता है। ठीक है, बलवान् स्वल्पबलशालीपर कदापि क्रोध नहीं करते।"

§ २. राग-द्वेषकी बात सुनकर कामदेव इस प्रकार क्रोधसे भड़क उठा जैसे अग्निपर घी डालनेसे वह भड़क उठती है। उसने भेरी बजानेवाले अन्यायको बुलाया और कहा—अरे अन्याय, तुम शीघ्र ही अपनी भेरी बजाओ, जिससे समस्त सेना एकत्रित हो जाय।

महाराज मकरध्वजकी बात सुनकर अन्यायने बड़े जोरसे अपनी भेरी बजायी। और भेरीका शब्द सुनते ही समस्त सेना जिनेन्द्रके ऊपर चढ़ाई करनेके लिए तैयार हो गयी।

कामदेवकी सेना इस प्रकारसे तैयार हुई:—

अठारह दोष, तीन गारव, सात व्यसन, पाँच इन्द्रियाँ, वैरि-कुलके लिए यमस्वरूप तीन दण्ड-नामक सुभट और तीन शल्यनामक राजा उपस्थित हो गये।

चार आयुष्कर्म तथा पाँच आस्रव कर्म नामके राजा आ पहुँचे। मदोन्मत्त सिंहकी तरह राग-द्वेष नामके सुभट भी तैयार हो गये। गोत्र नामके अत्यन्त मानी दो राजा, एक अज्ञान नरेश और एक अनय महाराज भी सन्नद्ध हो गये।

क्रूर यमके समान दो वेदनीय नामके प्रबल राजा और पुण्य-पापके साथ असंयम नरेश भी तैयार हो गया। समस्तशत्रु संहारक पाँच अन्तराय और दो आशा-नरेश भी आ पहुँचे।

ज्ञानावरणनामक पाँच राजा तथा शुभ-अशुभ नृपतिके साथ दुर्जय दर्शनमोह भी तैयार होकर आ गया।

अपने अधीनस्थ भृत्योंके साथ नाम-कर्म नामके तिरानबे नरेश और सौ जुवारियोंके संघ-सहित प्रमुख आठ कर्म-नरेश भी रोषमें भरे आ पहुँचे।

दर्शनावरणीयरूपी नौ राजा भी उपस्थित हो गये। इन राजाओंसे कामकी सेना इस प्रकार सुन्दर मालूम हुई जैसे नवग्रहोंसे मेरु सुशोभित होता है। अथ च—

सोलह कषाय, नौ नोकषाय, और तीन मिथ्यात्वनामक राजाओंके परिवारके साथ दुर्जय और बलवान् मोह भी आ डटा। वह मोहमल्ल, जिसने सपरिकर इन्द्र, महादेव, सूर्य, चन्द्र, कृष्ण और ब्रह्माको पराजित किया और जिससे महान् हिमालय भी भीत रहता है, आते समय इस प्रकार मालूम हुआ जैसे साक्षात् यमराज आ रहा हो।

ज्यों ही महाराज कामदेवने मोहको सामने आते हुए देखा, उसने बड़े उल्लासके साथ मोहका पट्टबन्ध किया और अपने शेष सम्पूर्ण आभरण उसे दे डाले। इसके पश्चात् कामदेव उससे कहने लगा—हे मोहमल्ल, अब तुम्हें ही इस सम्पूर्ण राज्यकी रक्षा करनी है। क्योंकि सेनाधिपति तुम्हीं हो और इस संग्राममें ऐसा कोई नहीं है जो तुम्हारा सामना कर सके। वह कहता गया—

"मोह, जिस प्रकार चन्द्रके विना रात्रि सुशोभित नहीं होती, कमलोंके विना नदी सुशोभित नहीं होती, गन्धके विना फूल सुन्दर नही होता, दांतोंके विना हाथी शोभित नहीं होता, पण्डित-समूहके विना सभा अलंकृत नहीं होती और किरणोंके विना सूर्य सुशोभित नहीं होता, उसी प्रकार अद्भुत पराक्रमी तुम्हारे विना हमारा सैन्य भी सुशोभित नहीं हो सकता है। इसलिए मुझे विश्वास है कि मैं अब जिनेन्द्रको जरूर ही जीत लूंगा।"

कामदेव और मोहकी इस प्रकारकी बात चल ही रही थी कि इतनेमें अपने मदके भारसे अन्धे आठ मदरूपी हाथियोंके समराङ्गणमें घण्टे बजने लगे और अत्यन्त वेगवान्, उन्नत, दुर्द्धर, चपल और सबल मनरूपी अश्वसमूह भी उपस्थित हो गया। इस तरह कामदेवके सैन्यमें अनेक क्षत्रिय सुभट-समूह संमिलित हो गये और इस कारण उसमें निराली शान आ गयी।

इस प्रकार यह सैन्य दुष्ट लेश्यारूपी ध्वज-वस्त्रोंसे सघन था। इन ध्वजाओंमें कुकथारूपी उन्नत दण्ड लगे हुए थे, जिनके कारण ये ध्वजाएँ आकाशमें आन्दोलित होकर दर्शकोंके मनमें आह्लाद पैदा कर रही थीं। इतना ही नहीं, यह सैन्य जाति-जरा और मरणरूपी स्तम्भोंसे सुशोभित था, पाँच मिथ्यादर्शनरूपी पाँच प्रकारके शब्दोंसे जगत्को बहरा कर रहा था और दश कामावस्थारूपी छत्रोंके कारण इसमें सर्वत्र अन्धकार घनीभूत हो रहा था।

कामदेव इस प्रकारके चतुरंग-सेनाके साथ मनोगजपर सवार होकर जिनेन्द्रसे संग्राम करनेके लिए जानेवाला ही था कि इतनेमें तीन मूढ़ता और तीन शङ्कादि वीर राजाओंके साथ संसार-दण्डको हाथमें लेकर अपने जयरवसे तीनों लोकको कँपाता हुआ बलवान् मिथ्यात्व नामका राजा आकर उपस्थित हो गया।

§ ३. मिथ्यात्वने आते ही कामदेवसे कहा—हे देवतारूपी मृगोंके लिए सिंह-सदृश देव, आप इतनी बड़ी सेनाके साथ क्यों प्रस्थान कर रहे हैं? मुझे आज्ञा दीजिए। मैं अकेला ही जिनेन्द्रको पराजित करके आता हूँ।

इस बीचमें मोह कहने लगा—अरे मिथ्यात्व, तुम क्या बात करते हो? संसारमें ऐसा कौन व्यक्ति है जो संग्राममें जिनेन्द्रका सामना कर सके। तुम्हारी शूरवीरताका कल सवेरे ही पता चल जायगा जब जिनेन्द्रका सेनापति रणाङ्गणमें आकर उपस्थित होगा। कहा भी है:—

"मेंढक कुएँमें तभीतक निर्भय होकर गरजता है, जबतक उसे भयङ्कर फणधारी साँप नहीं दिखलायी देता। चिकने नीलाद्रिकी तरह काले हाथी तभीतक चिग्घाड़ते हैं, जबतक वे अपने कानसे रोषभरे सिंहकी गर्जना नहीं सुनते। साँपके विषका उत्कट प्रभाव भी तभीतक रहता है, जबतक गरुडके दर्शन नहीं होते। और अन्धकार भी तबतक रहता है, जबतक सूर्य उदित नहीं होता।"

कविने इस आशयकी एक और बात कही है। वह यह है—

"जबतक सूर्यका तेज प्रकट नहीं होता तभीतक खद्योत चमकते हैं। इसी तरह साँप भी तभीतक अपनेमें शक्तिका अनुभव करता है, जबतक उसे गरुड़का साक्षात्कार नहीं होता।"

मोह कहने लगा—इसलिए भाई, तुम व्यर्थ बात न करो। कल तुम्हें अपने-आप अपनी शक्तिका पता चल जावेगा।

§ ४. मोह और मिथ्यात्वके इस प्रकारके विवादको सुनकर कामदेव कहने लगा—आप लोग परस्परमें विवाद क्यों करते हैं? इस विवादसे कोई अर्थ सिद्ध होनेवाला नहीं है। कहा भी है:—

"जिनकी मनोदशाका पता नहीं है, वे व्यक्ति कुछ भी कहें उनके कहनेसे क्या होता है? समर-भूमि में उतरनेपर सबको मालूम हो जायगा कि कौन शूर है और कौन कातर है।"

कामदेव कहने लगा—मेरा निश्चय है कि मैंने हरि, हर और ब्रह्माकी जो दशा की है वही दशा कल सवेरे यदि जिनेन्द्रकी न कर सका तो मैं जलती हुई आगमें प्रवेश कर जाऊँगा। नीतिकारोंकी इस बातसे मैं पूर्ण सहमत हूँ—

"राजा एक बार कहते हैं, पण्डित एक बार कहते हैं और कन्याएँ एक बार दी जाती हैं। ये तीन काम एक बार ही होते हैं।"

इस प्रकार ठक्कुर माइन्ददेवके द्वारा प्रशंसित जिन (नाग)देव-विरचित
मदनपराजयमें काम-सेना-वर्णन नामका तृतीय
परिच्छेद समाप्त हुआ।

[चतुर्थ परिच्छेद]

§ १. जब जिनराजके पाससे राग-द्वेष नामके दोनों दूत चले गये तो उन्होंने संवेगको बुलाकर कहा—संवेग, तुम बहुत जल्द अपनी सेना तैयार करो।

जिनराजकी आज्ञा पाते ही उसने वैराग्यडिंडिमको बुलाया और कहा—अरे वैराग्यडिंडिम, तुम शीघ्र ही अपनी भेरी बजाओ जिससे अपनी सेना जल्दी एकत्रित हो जाय।

वैराग्यडिंडिमने अपनी भेरी बजायी और उसके शब्दको सुनते ही विपक्षीकी सेनाका विध्वंस करनेवाले योद्धा कामके ऊपर चढ़ाई करनेके लिए इस प्रकार आ पहुँचे :—

उस समय दश धर्म-नरेश भी आकर उपस्थित हो गये। ये नरेश मदोन्मत्त काम-हाथीको पराजित करनेके लिए सिंहके समान प्रतीत होते थे। ठीक इसी समय दश संयम-नरेश और दश प्रचण्ड मुण्ड-नरेश भी आ डटे।

और इसी समय वयोवृद्ध क्षमा और दम दो शूरवीर भी प्रायश्चित्तनामक दश राजाओंके साथ आकर जिनेन्द्रकी सेनामें संमिलित हो गये।

जिस प्रकार कल्पकालके अन्तमें सातों समुद्र एकत्रित हो जाते हैं उसी प्रकार अत्यन्त शूर सात तत्त्व-राजा भी आकर संमिलित हो गये। और अत्यन्त सत्त्वशाली आठ कुलाचल और आठ दिग्गजोंके समान आठ महागुण-नरेश भी आ पहुँचे।

और जिस प्रकार कल्पान्तमें प्राणियोंके विनाशके लिए बारह सूर्य उदित हुए थे, उसी प्रकार कामकी सेनाके विध्वंसके लिए बारह तपरूपी राजा भी आकर उपस्थित हो गये।

इनके अतिरिक्त अत्यन्त शूरवीर पाँच आचार-नरेश और अट्ठाईस मूलगुण-राजा भी आकर सेनामें मिल गये।

और शत्रुको त्रस्त करनेमें समर्थ अत्यन्त तेजस्वी द्वादश अङ्ग-नरेश और तेरह वीर चारित्र-राजा भी आ पहुँचे। और इनके पश्चात् प्रबल कालके दूतके समान चौदह पूर्व-राजा भी आकर उपस्थित हो गये।

साथ ही अनन्तशक्तिशाली और वीर कामके कुलको विध्वस्त करनेवाले दुर्जय नौ ब्रह्मचर्य-नरेश भी आकर सैन्य में संमिलित हो गये।

तथा शत्रुरूपी हाथियोंके लिए गन्धगजकी तरह शूरवीर नय-राजा और तीन गुप्ति-राजा भी आकर जिनेन्द्रकी सेनामें आ मिले।

और जो समस्त शरणागत देहधारियोंको आश्रय प्रदान करते हैं वे अनुकम्पा आदि नरेश भी आ पहुँचे।

इनके अतिरिक्त पाँच मुखवाला, दीर्घ शरीरधारी, धीर, और नीरदके समान ध्वनि करनेवाला स्वाध्याय-नरेश भी सिंहके समान कामको नष्ट करनेके लिए आकर उपस्थित हो गया।

तथा धर्मचक्रसे सम्पन्न और चतुर्भुज दर्शन-वीर भी दैत्यारि केशवकी तरह स्मर-दैत्यके विनाशके लिए आकर तैयार हो गया।

तदनन्तर मतिज्ञान-नरेश भी अपने अधीनस्थ तीनसौ छत्तीस अन्य राजाओंके साथ जिनेन्द्रकी सेनामें आकर संमिलित हो गया।

और श्रुतज्ञान तथा मनःपर्ययज्ञान भी अपने साथके अन्य दो राजाओंके साथ आकर उपस्थित हो गये।

साथ ही तीन राजाओंसे युक्त अवधिज्ञान-नरेश भी अपने स्वामीकी सहायताके लिए सेनामें आ मिला। यह नरेश अत्यन्त शूरवीर था और जिनेन्द्रकी सैन्यका तिलक प्रतीत होता था।

इसके पश्चात् मोहवीरके विनाशके लिए महान् शूरवीर और दुर्जय केवलज्ञान-भूपति भी आकर उपस्थित हो गया। तथा—

धर्मध्यान-नरेशके साथ निर्वेद-राजा आ मिला और शुक्लध्यान-राजाके साथ बलवान् उपशम-नरेश भी आ पहुँचा।

और एक हजार आठ राजाओंके साथ लक्षण-नरेश और अठारह हजार राजाओंके साथ शील-नरेश भी आकर मिल गया।

तथा पाँच राजाओंके साथ निर्ग्रन्थ-राजा भी आकर उपस्थित हो गया और वैरि-कुलके विनाश करनेवाले दो गुण-नरेश भी आकर संमिलित हो गये।

इसके पश्चात् सम्यक्त्व-राजा भी जिनेन्द्रकी सेनामें आकर मिल गया। यह नरेश शत्रुरूपी हाथीके लिए सिंहके समान भयंकर था और इसे इन्द्र, विद्याधर, ब्रह्मा, महादेव, सूर्य और चन्द्र आदि समस्त देव स्वयं नमस्कार करते थे। साथ ही रतिपतिके संहारके लिए यह प्रमुख साधन था।

इस प्रकार जिनेन्द्रकी सेनामें जब असंख्य क्षत्रिय-वीर सामन्त आकर संमिलित हो गये तो जिनराजकी सेना अत्यन्त सुशोभित हो उठी। उस समय दुर्धर, उन्नत, दुर्जय और सशक्त जीवके स्वाभाविक गुणरूपी अश्वोंके खुराघातसे जो धूलि उठी उससे आकाश-मण्डल आच्छन्न हो गया। चार प्रमाण और सप्तभंगीरूप महान् गजोंके चीत्कारके सुननेसे दिग्गजोंको भी भय होने लगा। चौरासी लक्षणरूप महारथके कोलाहलने समुद्रके गर्जनको भी अभिभूत कर दिया। पाँच समिति, पाँच महाव्रतोंके संदेश और स्याद्वाद-भेरीके शब्दने दिङ्मण्डलको बधिर कर दिया। गगनचुम्बी शुभ लेश्यारूपी विशाल दण्डोंसे अनङ्गकी सेनाको भी भय होने लगा। विकसित लब्धिरूपी पताकाओंकी छायासे दिक्चक्र भी आच्छन्न हो गया। और विविध व्रतरूपी स्तंभोंसे सेनाकी शोभा और अधिक निखर आई।

इस तरह चतुरङ्ग सेनाके साथ क्षायिकदर्शनरूपी हाथीपर सवार होकर, अनुप्रेक्षामय कवच पहिन कर, भालपर आगमरूपी मुकुट धारण कर, हाथमें महासमाधि-शस्त्रको लेकर और सिद्धस्वरूप-रूपी स्वर-शास्त्रके तत्त्वज्ञको साथमें लेकर जिनराज कामके ऊपर चढ़ाई करनेके लिए जैसे ही तैयार हुए, अनेक भव्य जीव उनका अभिवादन करने लगे। शारदा सामने आकर मङ्गल गान करने लगी। दया आभरण पहनाने लगी और निम्ब और नमक लेकर पाँच मिथ्यात्वरूपी नजर उतारने लगी।

§ २. इस प्रकार जब जिनराज प्रस्थानके लिए उद्यत हुए, उस समय निम्न प्रकारके शुभ शकुन होने लगे :—

दही, दूर्वा, अक्षतपात्र, जलपूर्ण कलश, इक्षुदण्ड, कमल, पुत्रवती स्त्री, और वीणा आदिके दर्शन हुए।

साथ ही दक्षिण भागमें कुमारी और वामभागमें मेघोंकी, मयूरोंकी और बैलोंकी गर्जनाएँ होने लगीं।

इसके अतिरिक्त दक्षिण भागमें राजाओंकी 'मारो-पकड़ो की' भी ध्वनि होने लगी। और जिस दिशामें जिनराजका प्रस्थान होना था वह बिलकुल शान्त हो गयी। शकुनविदोंका कहना है—

दुर्गा, उल्लू, घोड़ा, कौवा, गधा, उलूकी, सियारनी, सारस, वृद्धा, जम्बुक-पोत, चातक, भेड़िया और गायका दाँत जिसके प्रस्थानके समय बायें भागमें आवें उसका मनोरथ सदैव सिद्ध समझना चाहिए।

§ ३ जब इस प्रकारके माङ्गलिक मुहूर्तमें जिनराज कामके ऊपर चढ़ाई करनेके लिए चल पड़े तो कामके गुप्तचर संज्वलनने सोचा—अब मुझे यहाँ रहना ठीक नहीं है। यह सोचकर वह तुरन्त कामके पास चला आया और प्रणाम करके कहने लगा—देवदेव, जिनराज महान् बली सम्यग्दर्शन वीरको साथमें लेकर आपके ऊपर चढ़ाई करनेके लिए आ गये हैं। इसलिए मैं तो अब किसी सुरक्षित स्थानमें जा रहा हूँ। कहा भी है:—

"कुलके लिए एकको छोड़ दे। गाँवके लिए कुलको छोड़ दे। जनपदके लिये गाँवको छोड़ दे। और अपने स्वार्थके लिए पृथ्वीतकको छोड़ दे।

बुद्धिमान् मनुष्य देशको गाँवसे बचाते हैं, गाँवको कुलसे बचाते हैं, कुलको एक व्यक्तिसे बचाते हैं और अपनेको पृथ्वी तक देकर बचाते हैं।"

संज्वलनकी बात सुनकर कामको बड़ा क्रोध हो आया। वह कहने लगा—संज्वलन, यदि तुमने यह बात फिर मुँहसे निकाली तो मैं तुम्हारा वध कर डालूंगा। क्योंकि—

संसारमें यह बात न कहीं देखी गयी है और न सुनी गयी है कि हिरन सिंहके ऊपर, चन्द्र-सूर्य राहुके ऊपर और चूहे बिलावके ऊपर विक्रमण करते हैं।

और न यह बात ही सुननेतथा देखनेमें आयी है कि गरुड़के ऊपर साँप, कुत्तोंके ऊपर खरगोश, कालके ऊपर प्राणी और बाजके ऊपर कौवे विक्रमण कर रहे हैं।

यह कहकर कामने मोहको बुलाया और उससे कहने लगा—मोह, मैंने यह निश्चय किया है कि आज समरभूमिमें उतरनेपर यदि मुझे विजय नहीं मिलती है तो मैं अपने शरीरको सागरके बड़वानलमें दग्ध कर डालूंगा।

कामकी प्रतिज्ञा सुनकर मोह कहने लगा—देव, आप बिलकुल सत्य कह रहे हैं। आजके संग्राममें विजय आपकी ही संगिनी बनेगी। ऐसा कौन बलवत्तर देव है जो आपको पराजित कर सके और विजयी होकर अपने घर लौट सके। इस प्रकारका देव न मैंने सुना है और न देखा ही है। क्योंकि—

"हरि, हर और ब्रह्मा आदि प्रबल देवोंको भी आपने इस तरहसे परास्त कर दिया है कि वे निर्लज्ज होकर आज भी अपनी अङ्कको नारी-शून्य नहीं कर रहे हैं।"

मोह कामसे कहने लगा—देव, इस प्रकार एक तो जिनराजका इतना साहस ही नहीं कि वह आपका सामना करनेके लिए समराङ्गणमें आ सके। यदि कदाचित् आया भी तो यह निश्चय है कि वह आपका कुछ भी बिगाड़ न कर सकेगा। उसे पकड़कर बेड़ियाँ पहिना दी जावेंगी और वह अविचार-कारागारमें डाल दिया जायगा।

मोहकी बात सुनकर कामने बन्दी बहिरात्माको बुलाकर कहा—अरे बहिरात्मन्, यदि तुम आज मुझे जिनराजका साक्षात्कार करा दो तो मैं तुम्हारा बहुत संमान करूँगा। इस प्रकार कहकर कामने अपने नामसे अङ्कित एक कटि-सूत्र बन्दीके हाथमें दिया और उसे शीघ्र ही जिनराजके पास भेज दिया।

§ ४. तदुपरान्त बन्दी जिनराजके पास पहुँचा और उन्हें प्रणाम करके कहने लगा—देवदेव, आपने कामके दूतका इतना घोर अपमान किया कि जिसके कारण काम आपके ऊपर चढ़कर आ गया है। और आपने यह और ही अभद्र काम किया जो कामके साथ युद्ध करना प्रारंभ कर दिया। लेकिन मालूम होता है, आप इस युद्धमें विजयी न हो सकेंगे और आपको समराङ्गणसे भागना पड़ेगा। उस समय कामके डरसे और आत्म-रक्षाकी दृष्टिसे यदि तुम स्वर्ग भी पहुँचे तो वहाँ भी तुम्हारी रक्षा न हो सकेगी। काम वहाँ भी पहुँचकर इन्द्रसहित तुमको खींच लावेगा। यदि तुमने पातालमें प्रवेश किया तो काम पातालमें भी पहुँचकर शेषनागसहित तुम्हें मार डालेगा। और यदि सागरमें प्रवेश किया तो काम वहाँ भी पहुँचकर उसके जलको सुखा देगा और तुम्हें पकड़ लावेगा। जिनराज, मुझे इस सम्बन्धमें अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है। यदि अब भी तुम्हारी इच्छा संग्राम करनेकी है तो कामके कठिन कोदण्डसे छोड़ी गयी बाणावलीका सामना करो और यदि तुम्हारा युद्ध करनेका विचार न हो तो कामकी दासता स्वीकार कर लो। इसके अतिरिक्त एक बात और है।

जिनराज, कामने हमारे हाथमें कुछ धीर-वीर पुरुषोंकी नामावली दी है। तुम उसे देखो और बताओ कि क्या तुम्हारी सेनामें ऐसा कोई धीर-वीर सुभट है जो इन्द्रिय, दोष और भय सुभटों-को जीत सके। साथ ही वह अपना वीर भी बतलाइए जो व्यसन, दुष्परिणाम, मोह, शल्य और आस्रव आदि सुभटोंको जीत सके तथा मिथ्यात्व-वीरके द्वारा समर-सागरमें डुबोए जानेवाले योधाओंको बचा सके।

बन्दी कहता गया—कामने कहा है कि इस प्रकार हमने अपनी सेनाके कतिपय वीरोंकी ही यह संख्या गिनायी है। समस्त वीरोंके नाम कौन गिना सकता है। इसलिए यदि आपके यहाँ इन योधाओंके प्रतिद्वन्द्वी योधा हैं तो आप इस नामावलीमें संशोधन कर दीजिए और यदि आपके यहाँ इनकी जोड़के कोई योधा नहीं हैं तो चलकर कामदेवकी अधीनता स्वीकार कीजिए।

§ ५. बहिरात्मा बन्दीकी बातको सम्यक्त्व-वीर सुन रहा था। उसे बन्दीका यह वार्तालाप बहुत अशिष्ट मालूम हुआ। उसने कहा—बन्दिन्, तुम क्या बेकार अनर्गल प्रलाप कर रहे हो? मैं मिथ्यात्वसे लड़ूँगा। पाँच महाव्रत पञ्चेन्द्रिय-सुभटोंसे युद्ध करेंगे। केवलज्ञान मोहसे संग्राम करेगा। शुक्लध्यान अठारह दोषोंके लिए पर्याप्त होगा। तप कर्मास्रवोंके साथ जुटेगा। सात तत्त्व भय-वीरोंके साथ युद्ध करेंगे। श्रुतज्ञान अज्ञानका सामना करेगा। प्रायश्चित्त तीन शल्योंसे भिड़ेगा।

चारित्र अनर्थदण्डोंसे लड़ेगा। दया-धर्म सात व्यसनोंके साथ संग्राम करेंगे। इस प्रकार हमारे दलके लाखों योधा तुम्हारे सुभटोंके साथ लड़नेके लिए तैयार हैं।

सम्यक्त्व और बहिरात्माकी इस चर्चाके प्रसङ्गमें जिनराजने बन्दीसे कहा—बन्दिन्, यदि आज रणस्थलीमें तुमने कामका साक्षात्कार करा दिया तो तुम्हें बहुत देश, मण्डल, अलङ्कार और छत्र आदिक पारितोषिकमें दूँगा।

उत्तरमें बहिरात्मा जिनराजसे निवेदन करने लगा—देव, यदि आप यहाँ क्षण भरके लिए स्थिर रहें तो मैं रणाङ्गणमें अवतरित हुए मोहसहित कामको दिखला सकता हूँ।

बहिरात्माकी इस बातसे निर्वेगको बड़ा क्रोध हो आया। वह कहने लगा—अरे नीच, तू हमारे स्वामीका इस प्रकार उपहास कर रहा है। चुप रह। अब यदि एक भी शब्द मुँहसे निकाला तो मैं तेरे प्राण ले लूंगा।

बन्दी कहने लगा—अरे निर्वेग, क्या कह रहे हो? दुनियाँमें ऐसा कौन है जो मेरे प्राण ले सके।

निर्वेगने ज्यों ही बन्दीकी बात सुनी, उठकर खड़ा हो गया और बन्दीका सिर घोंटकर उसकी नाक काट डाली तथा उसे समिति-भवनके द्वारसे बाहर निकाल दिया।

इस व्यवहारसे बहिरात्मा क्रोधसे इस प्रकार जल उठा जिस प्रकार घीके पड़नेसे आग भभक उठती है। वह निर्वेगसे कहने लगा—निर्वेग, यदि कामके हाथसे तुझे यमलोक न पहुँचा दूँ तो तू मुझे कामदेवका द्रोही समझना। बहिरात्मा बन्दी इस प्रकार कहकर वहाँसे चल दिया।

§ ६. जब कामदेवके कतिपय सुभटोंने बन्दीको इस प्रकार विकलाङ्ग रूपमें आते हुए देखा तो उन्हें बड़ी हँसी आयी। वे कहने लगे—अरे, देखो-देखो, बन्दी कैसी दुखद अवस्थामें आ रहा है!

बन्दी इन लोगोंको इस प्रकार उपहास करता हुआ देखकर कहने लगा—अरे मूर्खो, मुझे देखकर क्यों हँस रहे हो। अभी मेरी यह दुर्गति हुई है और आगे तुम्हारी भी यही दशा होनेवाली है। कारण जिस कार्यमें पहले जैसे शकुन दिखते हैं उस कार्यका अन्त भी लगभग उसी प्रकारका होता है। जब मेरी इस प्रकार की दुर्गति हुई है तो कह नहीं सकता कि इस युद्ध का परिणाम स्वामीके हितमें किस प्रकार का रहेगा। इसलिए आप लोग अच्छी तरहसे सोच लीजिए। यदि हम लोगोंमें जिनराजकी सेनाके सामना करनेकी शक्ति हो तो ही हम लोगोंको लड़ना चाहिए। अन्यथा इस देश-को छोड़कर यहांसे चल देना चाहिए। जिससे जीवन-रक्षा हो सके।

कामदेव बन्दीकी यह बातें सुन रहा था। उसने बन्दीको बुलाया और उससे कहने लगा—अरे बहिरात्मन्, बतलाओ तो वह जिनराज क्या कह रहा है? कामदेवकी बात सुनकर बन्दी उसके सामने उपस्थित हुआ। कहने लगा—स्वामिन्, आप देखते-समझते हुए भी पूछ रहे हैं कि जिनराज क्या कह रहा है? वह कहने लगा—

लोग जो "हाथ कंगनको आरसी क्या" वाली किंवदन्ती कहते हैं वह इस सम्बन्धमें पूर्णतया लागू हो रही है। यह बात वैसी ही है, जिस प्रकार किसी आदमीका कटा हुआ सिर अन्य किसी व्यक्तिके हाथपर रक्खा हो और लोग पूंछे कि उस आदमीके हाथमें कितने आघात लगे हैं।

और स्वामिन् , मेरी यह खुली घोषणा है—जिस प्रकार संसारमें कोई पुरुष सिर पर वज्रका आघात नहीं झेल सकता, बाहुओंसे अपार समुद्र-तरण नहीं कर सकता, आगपर सुखपूर्वक शयन नहीं कर सकता, विषको ग्रास-ग्रास रूपसे भक्षण नहीं कर सकता, संतप्त और पिघले हुए लौहका पान नहीं करसकता, यमराजके आलयमें प्रवेश नहीं कर सकता, सांप और सिंहके मुहमें हाथ नहीं डाल सकता, और अपने हाथसे यमराजके महिषके सींग नहीं उखाड़ सकता है उसी प्रकार ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जो समर-भूमिमें जिनराजका सामना कर सके।

बन्दीकी यह बात सुनकर कामदेवके नेत्र क्रोधसे लाल हो गये। और जिस प्रकार कल्पान्त-कालमें समुद्र सीमा तोड़कर आगे निकल जाता है, केतु और शनैश्चर क्रुद्ध हो जाते हैं, और अग्निदेव प्रचण्ड हो जाता है उसी प्रकार कामदेव भी जिनराजके साथ युद्ध करनेके लिए चल दिया।

कामदेवने जैसे ही जिनराजपर चढ़ाई करनेके लिए प्रस्थान किया, उसे निम्न प्रकारके अपशकुन दिखलायी दिये :—

कौवा सूखे वृक्षपर बैठा हुआ विरस ध्वनि करने लगा। पूर्व दिशाकी ओर कौवोंकी पङ्क्ति उड़ती हुई दिखलायी दी। और सांप मार्ग काटकर बायीं ओर चला गया।

प्रचण्ड आग लग गयी। गधा और उल्लूका तीखा स्वर होने लगा। शूकर, खरगोश, छिपकली, नकुल और शृगाल भी दिखलाई दिये।

कुत्ता सामने आकर रोने लगा और कान फटफटाने लगा। दुष्ट पुरुष, खाली घड़ा और गिरगिट भी सामने दिखलायी दिये।

असमयमें वर्षा होने लगी। भूकम्प होने लगा। वज्र और उल्कापात होने लगा।

कामदेवकी यात्राके समय यह सब घोर अपशकुन हुए जो एक सहृदय मित्रकी भांति इस बातको व्यक्त कर रहे थे कि कामदेवको इस समय अपनी यात्रा अवश्य स्थगित कर देनी चाहिए।

कामदेवने इन अपशकुनोंको देखा और उसे अनुभव हुआ कि इस समय हमारा जाना श्रेयस्कर नहीं है। फिरभी वह लड़ाईके लिए निकल ही पड़ा।

उस समय भयसे दिशाएँ चलित हो गईं। समुद्र भी अत्यन्त व्याकुल हो उठा। पातालमें शेष नाग और मध्यलोकमें पर्वत कम्पायमान हो गये। पृथ्वी घूमने लगी और महान् विषधर विष-वमन करने लगे।

उस समय पवनके समान अनन्त घोड़ों और मदोन्मत्त हाथियोंसे सेनाकी शोभा द्विगुणित हो गयी। आकाश ध्वजाओं, चामरों और अस्त्रोंसे खचाखच भर गया। और नगाडे, मृदङ्ग तथा भेरियों-की ध्वनि तीनों लोकमें व्याप्त हो गयी।

और गगनमण्डल अश्वोंके पद-रजसे सम्पूर्णतया आच्छन्न हो गया। छत्रोंसे समस्त मध्यभाग व्याप्त हो गया और पृथ्वी वीरोंसे आक्रान्त हो गई। रथोंकी चीत्कारसे कान इतने भर गये थे कि कोई शब्द भी सुनाई न पड़ता था। उस समय सेनामें केवल वीरोंके भयंकर शब्द ही सुनायी पड़ रहे थे।

§ ७. इस प्रकार दोनों पक्षकी सेनाओंका कोलाहल सुनकर संज्वलनने अपने मनमें सोचा कि क्या कामदेव मूर्ख हो गया है जो उसे यह भी मालूम नहीं है कि उसकी सेना कहाँ तक शक्ति-सम्पन्न है ? समझमें नहीं आता कि स्वामीके पास जकर क्या कहूँ ? क्योंकि—

"मूर्ख पुरुषोंको उपदेश देनेसे उन्हें क्रोध ही आता है। बातका समाधान तो कुछ होता नहीं। जिस प्रकार सांपको विष-पान करानेका परिणाम विष-वृद्धि ही होता है।

जिस प्रकार नासिकाविहीन पुरुषको दर्पण बुरा लगता है उसी प्रकार मूर्ख पुरुषको सन्मार्गका उपदेश भी अच्छा नहीं मालूम देता।

संज्वलन सोचता है—वैसे मूर्खता मुझे बड़ी अच्छी लगती है। क्यों कि उसमें आठ गुण हैं—

मूर्ख आदमी निश्चिन्त रहता है। बहुत भोजन करता है। उसकी पाचनक्रिया ठीक रहती है। रात-दिन सोनेको मिलता है। कर्त्तव्य-अकर्तव्य का विचार नहीं करना पड़ता। किसीकी बातपर ध्यान नहीं देना पड़ता है। मान-अपमान नहीं मालूम देते और सबके सिर-माथे रहनेका अवसर प्राप्त होता है। इस प्रकार मूर्ख मनुष्य सदैव सुखपूर्वक जीवन-यापन करता है।

अपकज्ञानी मूर्खोंके साथ वार्तालाप करनेके चार परिणाम हैं:—वाणीका व्यय, मनस्ताप, दण्ड और व्यर्थका बकवाद।

संज्वलन मनमें सोचता है—यद्यपि यह बात है, फिर भी कामदेव हमारा स्वामी है। इसलिए मुझे उससे इस सम्बन्धमें कुछ न कुछ अवश्य कहना चाहिए।

यह सोचकर संज्वलन कामदेवके सामने पहुँचा। और कहने लगा—स्वामिन्, आप जिनराज को जीत नहीं सकते। फिर यह छल क्यों कर रहे हैं?

कामदेव कहने लगा—अरे मूढ़, क्षत्रियोंकी वृत्तिको तू छल बतला रहा है। क्या तुझे जीवनकी परिभाषा नहीं मालूम है?

"मनुष्योंका यदि एक क्षण भी विज्ञान, शौर्य, विभव और आर्यजनोचित प्रवृत्तियोंके साथ व्यतीत होता है, बुद्धिमान उसे ही जीवनका फल कहते हैं। वैसे तो कौवा भी चिरकाल तक जीवित रहकर अपनी उदर-पूर्ति करता रहता है।"

कामदेव कहता गया—संज्वलन, फिर जिनराजने जितने अपराध किए हैं, हम उन्हें क्या-क्या गिनावें। पहले तो इसने हमारे रत्न चुराये। दूसरे हमारे दूतका अपमान किया। तीसरे जगत्प्रसिद्ध बन्दीकी नाक काटी और विरोधाग्निको पहलेकी अपेक्षा और अधिक प्रज्वलित किया। और चौथे यह हमारे ऊपर स्वयं ही चढ़कर आगया है। संज्वलन, तुम्हारी दृष्टिमें यदि यह छल ही है तो मैं सिद्धि-अङ्गनाके लिए उसे छोड़कर लज्जित नहीं होना चाहता। और यदि मैं जिनराज को किसी तरह संग्राममें प्राप्त कर सका तो उसकी भी वही दशा करूंगा जो सुर, नर, किन्नर, यक्ष, राक्षस और फणीन्द्रोंकी की है। अब तक जिनराज अपने घरमें बैठकर ही गरजता रहा है। अब मेरे जालमें आ फंसा है और देखते हैं कि इस जालसे वह किस प्रकार निकलता है। क्योंकि—

"पुरुषोंके शौर्य, ज्ञान, सम्पत्ति, प्रतिष्ठा, शील, संयम, चारित्र, सिद्धि, सम्पत्ति और पराक्रम तभी तक साथ देते हैं जब तक मैं क्रुद्ध होकर रणाङ्गणमें अवतीर्ण नहीं होता।"

§ ८. इतनेहीमें बन्दीने कहा—स्वामिन्, देखिए, जिनराज आगये। आप यह क्या गला फाड़ रहे हैं? यह कह कर बन्दी कामके लिए जिनराजके सुभट दिखलाने लगा।

वह कहने लगा—देखो, यह अत्यन्त बलवान् निर्वेग वीर है, जिसके हाथमें खड्ग चमक रहा है। और यह दण्डाधिपति सम्यक्त्व है, जिसे कोई पराजित नहीं कर सकता।

सामने यह दुर्जय और दुःसह तत्त्व-वीर है, और देखो-देखो, यह महाव्रत-राजा भी आ गए हैं।

साथही चराचर विजेता और महाधीर यह ज्ञान-वीर हैं और देखो, यह संयम वीर है जो वैरियोंके लिए द्वितीय यमकी तरह है।

बन्दी इस प्रकारसे कामदेवको जिनराजकी सेनाके सेनानियोंका परिचय करा ही रहा था कि इतनेमें कामकी सेना वेगसे आगे निकल गयी और जिनराज तथा कामकी सेनामें भयंकर संघर्ष छिड़ गया।

उस समय तीर, भाला, फरसा, गदा, मुद्गर, धनुष, बाण भिण्डि, हल मुसल, शक्ति, कुन्त, कृपाण, चक्र और दिव्य अस्त्र-शस्त्रोंसे दोनों दलके योधाओंमें युद्ध होने लगा।

इस युद्धकालमें अनेक सैनिक मरे और जीवन-शून्य हो कर पृथ्वीपर गिर गए। कुछ मूर्च्छित हो जाते थे और कुछ पुनः सावधान होकर लड़ने लगते थे। किन्हींका हँसना बन्द हो गया था और कुछ अपने स्वामीका प्रोत्साहन प्राप्त करके स्वामीके आगे-आगे दौड़ रहे थे।

अनेक सैनिक युद्धसे डरकर कातर हो गये। कोई सम्पूर्ण शरीरमें आघात पहुँचनेसे मर गये और स्वर्गमें जाकर देवाङ्गनाओंके प्रेम-पात्र हुए। कुछ धीर-वीर सैनिक इस प्रकारके थे जो शत्रुओंके आघातोंसे शरीरकी अन्तड़ियाँ कट जानेपर भी निर्भय होकर वैरियोके साथ युद्ध करते रहे।

कुछ सैनिकोंकी आखें फिर गयीं। किन्हींके हाथ-पाँव कट गये। और किन्हींके शरीर खूनसे लथ-पथ हो गये। इस युद्धकालमें वे वीर सेनानी इस प्रकारसे मालूम हुए जैसे वृक्षावली-मण्डित अरण्यमें किंशुक फूले हुए हों। उस समय बाणोंके प्रहारसे अनेकों कटे हुए शिर उछलते थे जो राहुके समान प्रतीत होते थे और उनसे ऐसा मालूम देता था जैसे अनेकों राहु और सूर्यका युद्ध हो रहा हो। इस प्रकार मिथ्यात्व और दर्शनवीरका यह युद्ध अत्यन्त भयंकर था।

इस तरह मिथ्यात्व और जिनेन्द्रके अग्रणी दर्शनवीरका परस्पर युद्ध हो ही रहा था कि मिथ्यात्वने दर्शन-वीरको समरभूमिमें पछाड़ दिया। उस समय समरार्णव इस प्रकारसे प्रतिभासित होने लगा—

जिनेन्द्रका सैन्य-सागर मेदा, मांस, चर्बी आदि कीचड़से युक्त हो गया। खूनके जलसे भर गया। घोड़ोंकी टूटी हुई खुररूपी शुक्तियोंसे पूर्ण हो गया और छत्ररूपी फेनसे वह आकुल हो गया। उनके वीरोंके मुकुटोंमें जड़े हुए मोती और महान् रत्नोंकी रेतसे अन्वित हो गया। मिथ्यात्वरूपी अद्भुत बड़वानल उसमें प्रवेश कर गया और कोलाहलसे गर्जना करने लगा।

इस सैन्य-सागरमें तलवार, छुरी आदि अस्त्र-समूह मीनके समान प्रतीत हुए। केश, स्नायु, नाड़ियाँ और अँतड़ियाँ सेवालके समान प्रतीत हुईं। हाथियोंके कलेवर पोतोंके समान मालूम हुए और हड्डियाँ शंखोंके समान मालूम हुईं।

§ ९. कामदेव और जिनेन्द्रकी सेनाके इस युद्धको आकाशमें विराजमान ब्रह्मा और इन्द्र देख रहे थे। उन्होंने देखा कि मिथ्यात्वके प्रतापसे जिनेन्द्रकी सेना नष्ट हो चली है और मार्ग छोड़कर कुमार्गकी

ओर उन्मुख हो रही है तथा अनेक सैनिक मिथ्यात्वकी शरणमें जा रहे हैं तो वह इन्द्रसे कहने लगा मिथ्यात्वके प्रभावसे जिनराजकी सेनाने अपने स्वामीकी शरण छोड़ दी है और वह उन्मार्गमें प्रवृत्त हो गई है। मिथ्यात्वकी उपस्थितिमें शायद ही किसीकी विवेक-बुद्धि स्थिर रह सके।

इन्द्रने उत्तरमें कहा—ब्रह्मन्, जब तक निर्वेगके साथमें प्रचण्ड सम्यक्त्ववीर नहीं आता है तब तक जिनराजकी सेनाकी सुरक्षा नहीं है। वह आगे कहने लगा—ब्रह्मन्, इसलिये आप क्षण-भरको जरा स्थिर होकर बैठ जाओ। देखो, मैं अभी हाल निःशङ्का शक्तिके आघातसे मिथ्यात्वको सैकड़ों खण्डके रूपमें दिखलाता हूँ।

ब्रह्मा इन्द्रसे कहने लगे—इन्द्र, यह तो तुमने ठीक कहा। पर यह तो बताओ, इस प्रकारसे मिथ्यात्वके भङ्ग हो जानेपर भी मोहमल्लको कौन पराजित कर सकेगा? कहा भी है:—

"मोहसे बलवान् न धर्म है और न दर्शन है। न देव हैं और न ही बलशाली मनुष्य है।

चराचर तीनों लोकमें मोहसे बढ़कर कोई सुभट नहीं है। जिस प्रकार गजोंमें गन्धगजकी प्रसिद्धि है, उसी प्रकार शत्रुओंमें मोह मल्ल भी प्रसिद्धिमान् है।"

ब्रह्माकी बात सुनकर सुरेन्द्र हँस पड़ा। वह कहने लगा—ब्रह्मन्, मोह का पुरुषार्थ तभी तक कार्यकर हो सकता है जब तक वह केवलज्ञान-वीर का साक्षात्कार नहीं करता है। कहा भी है—

"सिंह जब तक आँख बन्द करके गुहामें सोता है हिरण तभी तक स्वच्छन्द विचरण करते हैं। किन्तु जैसे ही वह जागता है और जागकर सटाओंको फटकारता हुआ गरजकर गुफासे बाहर आता है उस समय विचारे हिरनोंको दिशाओंमें भागनेके सिवाय और कोई चारा नहीं रह जाता। और—

उत्कट विषवाले साँपतभी तक फुसकारते हैं, जब तक उन्हें पक्षिराज गरुड़ दिखलायी नहीं देता।"

ब्रह्माने इन्द्रकी बात सुनी और कहने लगा—इन्द्र, यदि आपके कहनेके अनुसार केवलज्ञानवीर मोहको जीत भी ले, लेकिन यह बताओ, इस द्रुतगतिसे दौड़नेवाले मन-मातङ्गका कौन सामना कर सकता है? इसलिए जिनेन्द्रने यह अच्छा काम नहीं किया जो कामके साथ युद्ध ठान बैठे। मैं यह बात इसलिए कह रहा हूँ कि मैंने कामका पौरुष देखा है, सुना है और अनुभव भी किया है। कामने अपने पौरुष-प्रतापसे जिन-जिनको पछाड़ा है, उनकी गिनती गिनानेसे लाभ नहीं है। इतना कहकर वह सुरेन्द्रके पास गया और उसके कानमें जाकर सब कुछ वृत्तान्त सुना दिया। ब्रह्माने इन्द्रके कानमें इस प्रकार कहा—

"मैं, शङ्कर और हरि तीनों ही एकत्र मिलकर मदनके ऊपर चढ़ाई करनेके लिए चले। इतनेमें शङ्कर कहने लगे—संसारमें मेरी 'मदनारि' के नामसे प्रसिद्धि है। शङ्करके इस कथनसे हम लोगोंको भी गर्व हो आया। इस प्रकार मदनारि गिरिजेश अभिमानके मारे आगे-आगे दौड़ते हुए जैसेही कामके स्थान पर पहुँचे—दोनोंका कामसे सामना हो गया। कामने श्रीकण्ठके वक्षस्थलमें एक बाण मारा, जिससे आहत होकर वह मूर्च्छित हो गये और पृथ्वी पर गिर पड़े। इतनेमें पार्वती वहाँ आ गयीं और अपने वस्त्रके अञ्चलसे हवाकर उन्हें अपने घर ले गयीं। वहाँ गङ्गाजलसे सिंचन करने पर वह स्वस्थ हो सके। तदनन्तर उसने नारायणको दो बाण मारे, जिससे कमला घबड़ा गयी। और कामके पैरोंमें गिरकर भीख माँगने लगी। उसने कहा—"मैं अपने पतिका जीवन-दान चाहती हूँ। कामदेव,

तुम मुझे विधवा नहीं करो।" इस प्रकार प्रार्थना करके वह उन्हें घर ले गई। तदुपरान्त कामने मुझे भी अपने दो बाण मारे। उस समय मुझे ऋद्ध्याने बचाया। इसलिए उस दिनसे लेकर ऋद्ध्या मेरी पत्नी हो गई।"

इन्द्र, यह घटनाचक्र मैं तुम्हें इसलिए सुना रहा हूँ कि तुम इस वृत्तान्तके सुननेके पात्र हो। यदि यही बात अन्य मूढोंको बताई जाय तो वे सिर्फ हँसी ही करेंगे। क्योंकि प्रसव-जन्य वेदना का अनुभव प्रसूता ही कर सकती है, वन्ध्या नहीं। इस प्रकार जब कामने हम सरीखे देवोंको इस प्रकारका त्रास दिया है तब जिनराजका क्या कहना? क्योंकि जिनराज भी तो एक देव ही हैं।

सुरेन्द्रने ब्रह्माकी बात सुनी और वह इस सम्बन्धमें कहने लगा—ब्रह्मन्, आपकी बात सच है। परन्तु जिनराज और आप लोगोंमें कुछ न कुछ अन्तर तो है ही। कहा भी है—

"गाय, हाथी, घोड़ा, गधा, ऊँट, काठ, पाषाण, वस्त्र, नारी, पुरुष और जल–इनमें आपसमें अन्तर ही नहीं, महान् अन्तर है।"

हे ब्रह्मन्, इसी प्रकार कोई देव होनेसे ही एक नहीं हो सकता। देखिए—

चन्द्रमा और बगला—दोनोंही मीन-भोजी हैं, शुक्लपक्षवाले हैं, गगन-विहारी हैं परन्तु निष्कलङ्क होनेपर क्या बगला चन्द्रकी समानता कर सकता है?

§ १० इतनेहीमें सम्यक्त्व-वीर आ पहुँचा। उसने देखा—हमारी सेना डरके मारे भागना ही चाहती है तो उसने शीघ्र आकर अपने सिपाहियोंको आश्वासन दिया कि आप लोग डरिए नहीं। और जिनराजके संमुख उपस्थित होकर प्रतिज्ञा की कि—

"यदि आज युद्धमें मैंने मिथ्यात्व-सुभटको पराजित नहीं किया तो मैं इन पापियोंके तुल्य पापका भागी बनूँ जो चर्म-पात्रमें रक्खे हुए घी, जल और तेलके खानेवाले हैं। क्रूर जीवोंके पोषणमें निरत रहते हैं। रात्रिमें भोजन करते हैं। व्रत और शीलसे शून्य हैं। निर्दय हैं। तिल आदि धान्यका संग्रह करते हैं। जुआ आदि सप्तव्यसनसेवी हैं। हिंसक हैं। जिनशासनके निन्दक हैं। क्रोधी हैं। कुदेव और कुलिङ्गधारी हैं। आर्त्त और रौद्र परिणामवाले हैं। असत्यवादी हैं। शून्यवादी हैं। पाँच उदुम्बरभक्षी हैं और महाव्रत लेकर उन्हें छोड़ देते हैं।"

सम्यक्त्व-वीरने इस प्रकारकी प्रतिज्ञा करके जिनेन्द्र भगवान्‌को नमस्कार किया और वहाँसे चल पड़ा। इसके उपरान्त वह मिथ्यात्वसे कहने लगा—अरे मिथ्यात्व, मैं आगया। गर्व मत करो। देखो, आकाशमें देवतागण बैठे हुए हैं। इनकी साक्षीमें हम दोनोंका युद्ध हो जाने दो। काम और जिनकी जय-पराजयका निर्णय इस संग्रामसे ही हो जायगा।

सम्यक्त्वकी बात सुनकर मिथ्यात्व-वीर कहने लगा—अरे सम्यक्त्व, चल, चल। क्या तू मरना चाहता है? याद रख, जिस प्रकार मैंने दर्शन-वीरकी दुर्गति की है यदि वही हाल तेरा न कर डालूँ तो तू मुझे स्वामि-द्रोही समझना।

मिथ्यात्व-वीरकी बात सुनकर सम्यक्त्व-वीर कहने लगा—रे नीच, तू क्या कहता है। यदि तुझमें कुछ शक्ति है तो अपना हथयार सँभाल।

इतना सुनते ही मिथ्यात्व वीरने सम्यक्त्व-वीरके ऊपर तीन मूढतारूपी बाणावली छोड़ी, जिसे सम्यक्त्व-वीरने कुछ आयतनरूपी बाणोंसे बीचहीमें छेद दिया।

तदनन्तर मिथ्यात्व-वीरने युद्धरूपी प्रचण्ड कोपानलसे दीप्त होकर शङ्का-शक्तिको हाथमें ले लिया और उसे सम्यक्त्व वीरके ऊपर चला दिया।

यह शक्ति वीरश्रीकी वेणि-रेखाके समान थी। कामदेवके भुजबलसे अर्पित द्रव्यकी रक्षाके लिए सर्पिणी थी। दुःसह शत्रु-राजाओंकी सेनाके भक्षणके लिए कालकी जिह्वा थी। क्रोधाग्निकी कील थी। विजयकी वधू थी और मूर्तिमान् मन्त्रसिद्धि मालूम देती थी।

सम्यक्त्व-वीरने इस शङ्का-शक्तिको निःशङ्का-शक्तिसे बीचहीमें काट दिया। इसके पश्चात् मिथ्यात्व-वीरने आकांक्षाप्रभृति आयुधोंका प्रयोग किया। लेकिन सम्यक्त्व-वीरने इन्हें भी निःकांक्षा-आयुधोंसे निष्क्रिय कर दिया।

इस प्रकार सम्यक्त्व-वीर और मिथ्यात्व-वीरमें परस्पर त्रैलोक्यविजयी युद्ध होनेपर भी किसी एककी भी हार जीत न हो सकी।

अबकी बार सम्यक्त्व-वीरने मनमें सोचा—यदि इस मिथ्यात्व-वीरके साथ समीचीन युद्ध-पद्धतिसे युद्ध करता हूँ तो यह नीच दुर्जय होता जायगा। इसलिए अब एक प्रहारसे इसका घात हो कर देना चाहिए। यह सोचकर उसने परम तपरूपी अस्त्रका उसपर प्रहार कर दिया और इस प्रकार मिथ्यात्व-वीर यज्ञोपवीतके आकारमें गोलरूपसे पृथ्वीपर आ गिरा। मिथ्यात्व-वीरके धराशायी होते ही कामकी सेना पीछे हटने लगी।

जिस प्रकार सूर्यके भयसे अन्धकार भागता है, गरुड़के भयसे साँप भागते हैं और सिंहके गर्जनसे हाथी भागते हैं उसी प्रकार कामकी सेना भी मिथ्यात्व-वीरके गिरते ही भागने लगी।

इतनेमें आकाशमें स्थित इन्द्रने ब्रह्मासे कहा—पितामह, देखिए, सम्यक्त्वने कामकी सेनामें भगदड़ मचा दी है। और इस कारण जिनराजकी सेनामें आनन्दमय जय-जयकार होने लगा है।

जब कामने देखा कि उसकी सेना डरकर भाग रही है और शत्रुपक्षीय सेनामें जय-जयकार हो रहा है तो उसने मोहसे पूछा—मोह, शत्रुवर्गकी सेनामें यह क्या आनन्द-कोलाहल हो रहा है? उत्तरमें मोह कहने लगा—स्वामिन्, हमारे अग्रणी मिथ्यात्व-वीरको सम्यक्त्व-वीरने समराङ्गणमें पछाड़ दिया है। इसीलिए शत्रुपक्षीय सेनामें आनन्दका कोलाहल छाया हुआ है।

§ ११. मोह और कामकी इस प्रकार बातचीत हो ही रही थी कि इतनेमें नरकानुपूर्वी शीघ्र ही नरकगतिके स्थान की ओर रवाना हुई। जैसे ही नरकानुपूर्वी नरकगतिके पास पहुँची, वह असिपत्रोंके बीच वैतरिणीमें जलक्रीडा करके स्वच्छ सतखण्डे भवनपर बैठी हुई नरकापूर्वीको दिखलायी दी।

नरकानुपूर्वीने नरकगतिसे कहा—सखि, मिथ्यात्व नामका तुम्हारा पति युद्ध-भूमिमें मर चुका है और तुम यहाँ इस प्रकारसे सुखपूर्वक बैठी हुई हो? नरकगतिने ज्यों ही नरकानुपूर्वीकी बात सुनी, वह प्रचण्ड पवनसे आहत कदलीके पत्रकी तरह कंप गयी और जमीन पर गिर पड़ी। कुछ देरमें जब उसे होश आया तो वह सखी से कहने लगी—

सखि, पतिदेवसे विरह न रहे इसलिए मैंने अपने कण्ठमें हारतक नहीं पहना था। और अब तो हमारे और उनके बीच नदी-नद, सागर और पर्वतोंका अन्तर पड़ गया है। विधि-विडम्बना तो देखो। तथा च—

एक ओर उत्कट प्रेमपूर्ण मेरी युवावस्था है और दूसरी ओर वर्षा काल आ गया है। ऐसे अवसर पर मेरे पतिदेव मुझे छोड़कर परलोक चले गए हैं। इस समय तो "प्रथमग्रासे मक्षिकापातः" वाली सुप्रसिद्ध किंवदन्ती चरितार्थ हो रही है।

इस प्रकार कह कहकर वह अपनी सखी नरकानुपूर्वीसे पुनः कहने लगी—सखि, मेरा मिथ्यात्व नामका पति मर गया है, यह बात मुझे भी सत्य-सी लग रही है। क्योंकि बहुत दिन पहलेकी बात है जब किसी लक्षणशास्त्री ज्योतिषीने मेरे शरीरमें वैधव्यके चिह्न देखकर मेरे पितासे कहा था कि तुम्हारी यह पुत्री जीवनपर्यन्त अक्षय सौभाग्यवती न रहेगी। क्योंकि इसके शरीरमें कुछ अशुभ चिह्न दिखलायी दे रहे हैं।

उस समय मेरे पिताने पूछा था कि वे अशुभ चिह्न कौन-कौन हैं? तब ज्योतिषीने उन्हें वे सब चिह्न बतलाये थे। मैं पिताके पास ही बैठी थी और मैंने भी उन्हें सुन लिया था। वे चिह्न आज भी मेरे शरीरमें अङ्कित हैं। तुम चाहो तो उन्हें सुन सकती हो। मेरा मांस काला है और दांत भयंकर है।

नरकानुपूर्वी कहने लगी—सुन्दरि, व्यर्थ विलाप क्यों करती हो? मेरी बात सुनो :—

पण्डित जन नष्ट हुई, मृत हुई और बिछुड़ी हुई वस्तुके सम्बन्धमें कदापि शोच नहीं करते हैं। पण्डित और मूर्खोंमें यही विशेषता तो है। तथा—

प्राणियोंके सम्बन्धमें कदापि शोच नहीं करना चाहिए। जो उनके सम्बन्धमें कुछ भी शोच करता है वह मूर्ख कहलाता है और वह दुख ही दुख भोगता रहता है। इस प्रकार उसे मूर्खता और दुख—ये दो अनर्थ कदापि नहीं छोड़ते।

नरकानुपूर्वी कहती है—इसलिए हे सखि, तुम्हारा पति सम्यक्त्व वीरकी तलवारके आघातसे आहत होकर कुमार्ग ही में प्रविष्ट हुआ है। अतः तुम व्यर्थ शोक मत करो। कहा भी है:—

"रे हृदय इस आघातको सम्हाल। मरकर फिर कोई नहीं आता। अपनेको अजर-अमर मान कर पीछे अपूर्व रुदन करना पड़ता है।"

इस प्रकार नरकानुपूर्वी उसे धीरज बँधाकर वहाँसे चल दी।

§ १२. इस बीच *लोकत्रयमें शल्य स्वरूप मोहमल्लने कामके चरणोंमें प्रणाम किया और अपनी* सेनाको धीरज बंधाकर जहाँ केवलज्ञानवीर आदि सुभट ठहरे हुए थे वहाँ चला गया। और वहाँ पहुँचकर उसने सबको इस प्रकारसे भिड़ा दिया :—

पाँच महाव्रत पाँच इन्द्रियोंके साथ भिड़ गए और शुक्लध्यानके साथ आर्त्तरौद्र मिल गए। और जिस प्रकार मृगेन्द्र हाथियोंके साथ जुट जाते हैं उसी प्रकार तीन शल्य-वीर भी योग-वीरोंके साथ रणाङ्गणमें जुट पड़े।

तत्त्वोंके साथ भय मिल गये और आचार वीरोंके साथ आस्रव मिल गये। राग-द्वेष क्षमा और संयमके साथ और अर्थ तथा दण्ड मुण्ड-सुभटोंके साथ भिड़ गये।

नव पदार्थोंके साथ अनय, धर्मोंके साथ अष्टादश दोष, ब्रह्मवीर अब्रह्म वीरोंके साथ और कषाय-वीर तप-वीरोंके साथ भिड़ पड़े।

इस प्रकार जो जिसके सामने आया वह दूसरेसे टक्कर लेने लगा।

तदनन्तर परमेश्वर आनन्दने स्वरशास्त्रज्ञ सिद्धस्वरूपसे पूछा—सिद्धस्वरूप, बताओ तो पहले हमारी सेनामें भगदड़ क्यों मच गयी थी ?

उसने कहा—देव, उस समय तुम्हारी सेना उपशम-भूमिकामें स्थित थी। इसलिए उसमें भगदड़ मच गयी थी। अब यदि क्षपक श्रेणीमें आरूढ़ होगी तो नियमतः उसकी विजय होगी। सिद्धस्वरूपकी बात सुनकर जिनराजको बड़ी खुशी हुई। वे कहने लगे—यदि यह बात है तो तुम ही उसे क्षपकश्रेणी भूमिमें आरूढ़ कर दो। जिनराजकी बात सुनकर सिद्धस्वरूपने जिनराजकी सेनाको क्षपकश्रेणिभूमिमें आरूढ़ कर दिया। यह देखकर जिनराजको अत्यन्त हर्ष हुआ।

§ १३. तदनन्तर मोहने जैसे ही रथोंके संघर्ष, घोड़ोंकी हिनहिनाहट, मदमस्त हाथियोंकी चिग्घाड़, उड़ती हुई पताकाएं और सामने पैर बढ़ाते हुये महान् योधाओंसे पूरित जिनराजकी सेना देखी, उसे अत्यन्त क्रोध हो आया और आगे बढ़कर उसने अन्धकार-स्तम्भ गाड़ दिया तथा केवल-ज्ञानवीरसे कहने लगा—केवलज्ञानवीर, सावधान हो जाओ। यदि हमारे साथ युद्ध करनेकी हिम्मत हो तो तुरन्त हमारे सामने आओ। यदि तुम्हें हमारे आघातोंका डर हो तो चुपचाप भाग जाओ। मुफ्तमें मरना क्यों चाहते हो ? मोहकी बात सुनकर केवलज्ञान वीरको क्रोध हो आया। वह कहने लगा—अरे अधम, क्या बकता है ? यदि आज मैंने युद्धमें तुझे पराजित न किया तो तू मुझे जिन-चरणोंका द्रोही समझना।

केवलज्ञानकी बात सुनकर मोहको भी रोष हो आया। उसने आशा-धनुषसे गारवनामक तीन बाण लेकर केवलज्ञानके ऊपर छोड़े। परन्तु केवलज्ञानवीरने उन्हें रत्नत्रयबाणसे बीचमें ही छिन्न-भिन्न कर दिया और पुनः समाधिस्थानमें बैठकर उपशम बाण चलाया जो मोहके वक्षस्थलमें विंध गया और मोह मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर आ गिरा।

मोहको थोड़ी ही देरमें चैतन्य हो आया और इस बार उसने केवलज्ञानवीरके ऊपर प्रमादरूप बाणावलीकी वर्षा प्रारम्भ कर दी। किन्तु केवलज्ञानवीरने आवश्यक और त्रयोदश चारित्रबाणोंसे उसे बीच ही में भंग कर दिया। और मोहसे यह कहकर कि 'अरे मोह, अपना धनुष संभालो' उसने निर्ममत्व बाणसे मोह वीरके हाथमें स्थित धनुषको छेद डाला।

तदुपरान्त मोहने केवलज्ञानवीरके ऊपर मदान्ध गज-घटाएँ भेजीं, जिन्हें केवलज्ञानवीरने अपने हाथियोंकी घटाओंसे रोक दिया और पीछेसे उपशमके आघातसे उनका विध्वंस कर दिया।

जब मोहने देखा कि उसका अब तकका प्रयत्न बिलकुल निष्फल गया है तो अबकी बार उसने कर्मप्रकृति-समूहका प्रयोग केवलज्ञानवीरके ऊपर किया। उसके प्रयोग करते ही इस प्रकारकी स्थिति उत्पन्न हो गयी—

प्रकृति-निचयसे डरकर पर्वत चलित होने लगे। देव, नर और साँप कम्पित होकर आवाज करने लगे। वसुधा कँप गयी और समुद्र व्याकुल हो उठे। इस प्रकार सम्पूर्ण प्रकृति क्षुब्ध हो उठी।

इस तरह प्रकृति-समूह को महादुर्जय देखकर जिनराजकी सेनामें भयका संचार होने लगा और कँपने लगी। जब केवलज्ञान वीरने अपने सैन्यकी यह स्थिति देखी तो उसने सामायिक, छेदोपस्थापना, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसाम्पराय और यथाख्यातरूपी पांच चारित्रवीरोंके प्रहारसे उस प्रकृतिसमूहको निःशेष कर दिया। इसके पश्चात् उसने मोहमल्लपर प्रहार किया और वह मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा।

कुछ देरके पश्चात् मोह पुनः चैतन्य हुआ और अनाचार खड्ग हाथमें लेकर क्रोधावेशमें जैसे ही केवलज्ञानवीरके सामने आया वह अनुकम्पा-फाल हाथमें लेकर मोहके सामने खड़ा हो गया और निर्ममत्व मुद्‌गरसे उसके सिरपर जोरका प्रहार दे मारा। मोह मुद्‌गरके इस प्रहारको सहन नहीं कर सका। वह इस प्रहारसे बुरी तरह घायल हुआ और चिल्लाकर पृथ्वीपर गिर पड़ा।

इस प्रकार प्रबल प्रहारके कारण जब मोह लड़खड़ाकर पृथ्वीपर गिर पड़ा तो बन्दी बहिरात्मा इस घटनाको सुनानेके लिए कामके पास पहुँचा। बन्दीने वहाँ पहुँचकर उसे प्रणाम किया और निवेदन करने लगा—महाराज, त्रैलोक्यके लिए शल्यस्वरूप मोहका सर्वस्व भंग हो गया है—उनकी जीवन-लीला समाप्त हो चुकी है और जिनराजकी सेनाने अपनी समस्त सेनाका विध्वंस कर दिया है। इसलिए इस समय आपको यह अवसर टालकर अन्यत्र चला जाना चाहिए।

बन्दी बहिरात्माकी बात सुनकर काम तो चुप रहा; पर रतिसे नहीं रहा गया। वह कहने लगी—स्वामिन्, बन्दी ठीक तो कह रहे हैं। इस समय आपको यहाँसे चल देनेका ही कोई उपाय करना चाहिए और इस प्रकार प्रस्थान कर देनेका परिणाम शुभ ही होगा। इसलिए आप झूठा अभिमान छोड़िए और यहाँसे प्रस्थान कर दीजिए।

रतिकी बात सुनकर प्रीति कहने लगी—सखि, व्यर्थ क्यों प्रलाप करती हो? यह महामूर्ख, पापी और नितान्त हठी जीव हैं। यह हमलोगों की बात नहीं सुनेंगे। क्योंकि—

"आग्रह और ग्रह—ये दोनों ही लोकके अत्यन्त वैरी हैं। ग्रह जहाँ एक का नाश करता है वहाँ आग्रह सर्वस्व नाश कर डालता है।"

प्रीति कहती गयी-अब ऐसी कोई शक्ति नहीं है जो जिनराजको जयश्रीकी प्राप्ति और हम लोगोंके वैधव्य-योग को टाल सके। और फिर—

अपनी राय वहाँ देनी चाहिए जहाँ उसकी कुछ पूछ हो। जिस प्रकार स्वच्छ वस्त्रपर लाल रंग खूब गहरा चढ़ता है।

रति और प्रीतिकी बात सुनकर कामने कहा—हे प्रिये, मेरी बात तो सुनो—

जिन बाणोंके द्वारा मैंने सुर, असुर इन्द्र, उरग और मानव आदिको जीता और अपने अधीन किया, वे बाण अब भी मेरे हाथमें हैं। फिर मैं कैसे भागूं? और इस प्रकार भागनेसे क्या मुझे लज्जित नहीं होना पड़ेगा?

इस प्रकार कहकर मदन, मोहन, वशीकरण, उन्मादन और स्तम्भन रूप पाँच प्रकारकी कुसुमबाणावलीको धनुषपर चढ़ाकर और मनोगजपर आरूढ होकर उसे शीघ्र दौड़ाता हुआ कामदेव समराङ्गणमें

जिनराजके सामने जाकर कहने लगा—अरे जिनराज, पहले हमारे साथ युद्ध करो। पश्चात् सिद्धि-वधूके साथ विवाह करना। मेरी बाणावलीसे ही तुम्हें मुक्त्यङ्गनाके आलिङ्गनका सुख मिल जायगा।

§ १४. कामका आह्वान सुनकर मोक्षनदके राजहंसस्वरूप, साधुपक्षियोंके लिए विश्रामाश्रय, मुक्तिवधूके पति, काम-सागरके मथनके लिए मन्दराचल, भव्यजन-कुल-कमल-विकासके लिए मार्तण्ड-स्वरूप, मोक्षद्वारके कपाट तोड़नेके लिए कुठार-स्वरूप, दुर्वार विषय-विषधरके लिए गरुड़के समान, साधु-सरोवरके विकासके लिए चन्द्रके तुल्य और मायाकरिणीके लिए मृगेन्द्रकी तरह जिनराजने कामदेवसे कहा—अरे नीच काम, तू मेरी बाणाग्निमें पतङ्गकी तरह व्यर्थ ही क्यों झुलसना चाहता है? चल, चल, यहाँसे।

जिनराजकी बात सुनकर कामदेवकी क्रोधाग्नि भड़क उठी। वह कहने लगा—अरे जिनराज, क्या तुम्हें मेरा चरित्र याद नहीं है?

मेरे भयसे ही रुद्रने गङ्गाको लाँघा। मेरे भयसे ही जल समुद्रमें गया। मेरे भयसे ही इन्द्र स्वर्गमें गया और मेरे भयसे ही धरणेन्द्र अधोलोकमें गया।

मेरे भयसे ही सूर्य मेरुके निकट छिपा, और मेरे भयसे ही ब्रह्मा मेरा सेवक बना। इस प्रकार चराचर तीनों लोकमें मेरा कोई प्रतिभट नहीं है।

यह सुनकर जिनराज कहने लगे—अरे काम, तुम्हारी शूरवीरता वृद्ध, गोपालक और पशुपतियों-तक ही चल सकती है। हम-जैसोंके ऊपर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ सकता। और हम-जैसा तो तुमने स्वप्नमें भी पराभूत नहीं किया होगा। फिर इतने पर भी यदि तुम मेरे साथ लड़नेकी क्षमता रखते हो तो आकर मेरा सामना करो।

यह सुनकर कामने मदोन्मत्त और दुर्नय रूपसे चिग्घाड़ता हुआ मन-मातङ्ग जिनेन्द्रके ऊपर छोड़ दिया।

यह मन-मतङ्गज, उन्नत संसाररूपी शुण्डादण्ड, कषायरूपी चार चरण, राग-द्वेषरूपी दाँत और आशारूपी दो लोचनोंसे मनोहर था।

इस प्रकार मनोगजको आता हुआ देखकर जिनराजने अपने हाथीसे उसे छेड़ दिया और तत्पश्चात् दृढ़ मुद्गरके प्रहारसे मारकर उसे भूतल पर गिरा दिया।

जब रतिने अपने हाथीको जिनके आघातसे आहत होकर पृथ्वीपर गिरते देखा तो उसका हृदय अत्यन्त व्याकुल हो गया। उसका मुख दीन पड़ गया और वह अश्रुगद्गद वाणीमें कामसे कहने लगी—स्वामिन्, आप अब भी क्या देख रहे हैं? सेनाका सर्वनाश हो चुका है। अकेले तुम ही बच रहे हो। इसलिए मेरी तो यही राय है कि अब हमें यहाँसे तुरन्त चल देना चाहिए। कामकी सेनाका जिस प्रकारसे विनाश हुआ उसे भी देख लीजिए:—

ज्योंही स्याद्वाद भेरीकी आवाज होनी शुरू हुई और जिनराजकी सेनाका गर्जन प्रारम्भ हुआ, कामकी सेनामें भगदड़ मच गई।

उस समय जिस प्रकार भास्करसे डरकर अन्धकार भाग जाता है, उसी प्रकार पाँच इन्द्रियाँ

भी पाँच महाव्रतोंसे डरकर भीत हो गयीं। और जिस प्रकार सिंहसे हाथी भयभीत हो जाता है उसी प्रकार दश धर्मराजाओंके सामने कर्मवीर भी डर गये।

और जैसे ही तत्त्ववीर सामने आये, सात भय वीर मनमें चकित हो गये। तथा जैसे ही प्रायश्चित्त सुभटोंने प्रयाण किया, शल्य वीर भी सभयमन होकर रणसे भागने लगे।

और जिनराजकी सेनामें जैसे ही आचार वीरने प्रवेश किया, आश्रयवीर कँप गया। तथा धर्म और शुक्ल वीरके सामने आते ही आर्त और रौद्रवीर द्रवित हो उठे।

§ १५. इस प्रकार जैसे ही मदनकी सेनाका संहार प्रारंभ हो गया, अवधिज्ञानवीर जिनराजके सामने आया और उन्हें प्रणाम करके निवेदन करने लगा—भगवन्, अब विवाह-वेला निकट आ गई है। अतः आप अनावश्यक युद्धका विस्तार क्यों कर रहे हैं? केवल काम ही ऐसा शेष रह गया है जिसको वश नहीं किया जा सका है। मोहको तो केवलज्ञानवीरके आघातोंने क्षीण ही कर दिया है। इसलिए आप शीघ्र ही ऐसा मार्ग स्वीकार कीजिए कि एक ही संधानसे सेनाका संहार हो जाय।

इस प्रकार अवधिज्ञानवीरकी बात सुनकर जिनेन्द्रका साहस और अधिक बढ़ गया और वे कामको इस प्रकार ललकारने लगे—अरे काम, घरके भीतर बैठ कर ही तुमने अपने स्त्रीसुलभ दर्पका प्रदर्शन किया है।

अन्तःपुरके सामने मूंछ ऍठते हुए अपनेको पुरुष कहलाने वाले बहुत मिलेंगे। परन्तु जहाँ छिन्न हुए हाथियोंके खूनसे समुद्र लहरा उठता है, उस युद्धमें विरले वीर ही डटे रह पाते हैं।

अतः यदि साहस हो तो आओ, मुझसे सामना करो।

जिनराजकी बात सुनकर मोह एकदम स्तब्ध रह गया। कुछ क्षणबाद उसने मोहसे मंत्र करना प्रारंभ कर दिया। वह मोहसे कहने लगा—सचिवोत्तम, बतलाइए, इस समय हमें क्या करना चाहिए। मोह कहने लगा—देव, इस समय परीषह नामक विद्याका स्मरण कीजिए। उस विद्याके बलसे आपकी अवश्यमेव अभीष्ट सिद्धि होगी।

कामको मोहकी राय पसन्द आई। उसने क्रोधावेशमें तत्क्षण उस विद्याका आह्वान किया, जिसके कारण वह बाईस प्रकारका रूप धारण करके कामके सामने उपस्थित हो गयी। और उपस्थित होतेही कामसे कहने लगी—देव, मुझे आदेश कीजिए, आपने किस प्रयोजनसे मुझे स्मरण किया है?

काम कहने लगा—देवि, तुम्हें जिनराजको जीतना है। और जिनराजको पराजित करनेमें मेरी सहायता करनी है। इस प्रकार कहकर कामने उसे जिनराजके पास भेज दिया।

कामकी आज्ञा पातेही परीषह विद्या वहाँसे चल दी और तलवारकी धारके समान तीक्ष्ण दंश-मशक आदिके उपसर्गों और अनेक प्रकारके दुखद उपायोंसे जिनेन्द्रको कष्ट देने लगी।

जैसे ही परीषह विद्या जिनराजको कष्ट देनेके लिए उद्यत हुई उन्होंने निर्जरा विद्याका मनमें स्मरण किया। जिनराजके स्मरण करतेही वह उनकी सेवामें आ उपस्थित हुई और निर्जरा विद्याके आते ही परीषह विद्या तत्क्षण पलायन कर गयी।

§ १६. तदुपरान्त मनःपर्ययज्ञान वीर जिनराजके पास आया और उनसे निवेदन करने लगा—भगवन्, अब आप क्या प्रतीक्षा कर रहे हैं? विवाहका समय आ गया है। अभी आपको क्षीणशक्ति मोहका

भी समूल उन्मूलन करना है। जब तक आप मोहका विनाश नहीं करेंगे, आपका मुक्ति-कन्याके साथ पाणिग्रहण होना कठिन है। फिर मोह भी साधारण सुभट नहीं है। कहा भी है :—

"जिस प्रकार सेनापतिके नष्ट हो जानेके बाद सेना नष्ट हो जाती है और जड़ कट जानेपर वृक्ष नष्ट हो जाते हैं उसी प्रकार मोह कर्मके नाश हो जानेपर समस्त बाधाएँ भी विलीन हो जाती हैं।"

दूसरे मोहके आहत होनेपर काम स्वयमेव भाग जायगा।

मनःपर्ययवीरकी बात सुनकर जिनराजने कामदेवसे कुछ स्मितके साथ कहा - अरे वराक काम, चल यहाँ से। मरना क्यों चाहता है ? स्त्री-रूपी गिरि-कन्दराओंमें जाकर अपने प्राण बचा। अन्यथा तुझे अभी समाप्त किये देता हूँ।

जिनराजकी बात सुनकर कामको बड़ा विस्मय हुआ। उसने अपने प्रधानमन्त्री मोहसे इस सम्बन्धमें परामर्श किया तो मोह कहने लगा—इस समय आपको अपनी कुलदेवी दिव्याशिनी विद्याका स्मरण करना चाहिए। उसीके प्रसादसे आप इस रण-सागरसे पार हो सकेंगे।

मोहकी बात कामको जँच गयी। उसने ऐसा ही किया और दिव्याशिनी इस प्रकारके वेषमें तत्काल आकर उपस्थित हो गयी :—

यह दिव्याशिनी बत्तीस द्विज-राक्षसोंसे वेष्टित थी, चण्डीके समान भयङ्कर और तीनों लोकको भक्षण करती हुई-सी प्रतीत हो रही थी। देवेन्द्रको भी कँपा देनेवाली थी। अद्भुत बलशाली, अत्यन्त छलमय और ब्रह्मा आदिसे भी दुर्जय थी।

इस प्रकार कामके स्मरण करते ही दिव्याशिनी आकर कामके सामने उपस्थित हो गयी। जैसे ही कामने दिव्याशिनीको अपने सामने उपस्थित देखा, वह हाथ जोड़कर खड़ा हो गया और अनेक स्तुति-वचनोंसे उसकी निम्न प्रकार प्रशंसा करने लगा—

हे देवि, तुमने तीनों लोक जीत लिये हैं। तुम्हारा पराक्रम अचिन्त्य है। तुम मान और अपमान करनेमें दक्ष हो और तुम असाधारण भुवनेश्वरी विद्या हो। तुम ज्ञानवती हो। शब्दब्रह्म होनेसे ब्राह्मी हो। और विश्वमें व्याप्त हो। वैष्णवी हो। सर्वभाषामय होनेसे देवमातृका हो। तुम्हारे भोजन करनेपर जगत् पुष्ट रहता है और भूखे रहनेसे कृश। अतः तुम जगत्‌की माता हो। तुमसे सबको आनन्द मिलता है। निघन्टु, नाटक, छन्द, तर्क और व्याकरण आदि तुम्हींसे उत्पन्न हुए हैं। अतः तुम कुलदेवता हो। तुम अजन्मा हो और पद्मा हो। तुम एक हो और जगत्‌को प्यारी हो।

इस प्रकार कामने जब दिव्याशिनीकी विविध भाँति स्तुति की तो वह भी इसके ऊपर प्रसन्न हो गई और कामसे कहने लगी—काम, कहो, तुमने मुझे किस लिए स्मरण किया है ?

काम कहने लगा—देवि, जिनराजने हमारी समस्त सेनाका संहार कर डाला है। इसलिए यदि इस समय तुमने मुझे किसी प्रकारसे बचा लिया तो ही मैं जीवित रह सकता हूँ। मेरी प्राण-रक्षाका अन्य कोई उपाय मुझे नजर नहीं आ रहा है। अब आपहीकी जयसे मैं जयवाला और आपहीकी पराजयसे मैं पराजित समझा जाऊँगा।

जब काम दिव्याशिनीके सामने इस प्रकारसे विनत हुआ और दिव्याशनीने उसकी तथोक्त दीन दशा देखी और आर्त्त-वाणी सुनी तो वह अनेक अभक्ष्य पदार्थोंको भखती हुई और मार्गवर्ती

अनेक सागर, नदी-नद और तड़ाग आदिको सुखाती हुई तत्क्षण जिनराजके पास दौड़ती हुई पहुँची।

जिनराजने जैसे ही दिव्याशिनीको आते हुए देखा, उसने अधःकर्म बाणोंसे उसपर प्रहार किया। पर इतने परभी उसके आक्रमणका वेग अवरुद्ध नहीं हुआ। अतः इस बार जिनराजने प्रबल प्रति-रोधक चान्द्रायण प्रभृति बाण-समूहोंकी उसपर वर्षा की। परन्तु यह बाण-वर्षाभी व्यर्थ सिद्ध हुई। इसके विपरीत दिव्याशिनी क्रुद्ध वेषमें सामने आई और कहने लगी—जिनराज, तुम अभिमान छोड़ दो और मेरे साथ संग्राम करो। उत्तरमें जिनराज कहने लगे—दिव्याशिनी, तुम्हारे साथ युद्ध करनेमें हमें लाज लगती है। क्योंकि क्षत्रिय स्त्रियोंके साथ युद्ध नहीं करते।

जिनराजके इस प्रकार कहते ही दिव्याशिनीने अपना मुँह धरतीसे लेकर आसमानतक फैला लिया, अपनी विकराल दाढ़ोंको बाहर निकाल लिया और भयंकर वेष बनाकर अट्टहास करती हुई जिनराजके और निकट पहुँच गयी।

तदुपरान्त जिनराजने एकान्तर, तेला, आठ दिनके उपवास, रसपरित्याग, पक्ष, मास, ऋतु, अयन, और वर्षके उपवास आदि बाणजालोंसे उसे छेद दिया और वह भूतलपर जा गिरी।

जब मोहने देखा कि जिनराजने दिव्याशिनीको भी भूतलपर गिरा दिया है तो वह जाकर कामसे कहने लगा—देव, अब भी आप क्या देख रहे हैं। जिस दिव्याशिनीके बलपर आप साहस धारण किए थे वह भी युद्धमें गिरादी गयी है। और स्वाति नक्षत्रमें होनेवाली निर्मल जल-वृष्टिकी तरह जिनराजकी बाण-वर्षा अब भी अविराम हो रही है। इसलिए इस समय आप तो यहाँसे चले जाइए। मैं एक क्षणतक आपकी खातिर जिनराजकी सेनासे लडूँगा। कदाचित् मेरे संग्रामसे आपका हित-साधन हो सके।

कामदेव असंख्य व्रत-बाणोंसे आहत होकर अधीर हो ही रहा था। इसलिए जैसे ही मोहने संग्राम भूमिसे भाग जानेका उसे परामर्श दिया वह तुरन्त ही वहाँसे चल पड़ा।

जिस प्रकार प्रचण्ड पवनसे आहत मेघ खण्ड-खण्ड होकर उड़ जाता है, सिंहके भयसे हाथी भाग जाता है और सूर्य-किरणोंसे विमर्दित अन्धकार विलीन हो जाता है—उसी प्रकार जिनराजकी बाणवर्षासे आहत काम भी संग्राम-भूमिसे भाग निकला।

§ १७. जब कामदेव रण-स्थलीसे भाग खड़ा हुआ तो क्षीणकाय मोह जिनराजकी सेनाका सामना करने लगा, लेकिन क्षीण शक्ति होनेके कारण उसे पदे पदे स्खलित होना पड़ा। अतः जिनराजने उससे कहा—अरे वराक मोह, भाग यहाँसे। व्यर्थमें क्यों मरना चाहता है?

जिनराजकी बात सुनकर मोह कहने लगा—अरे जिन, आप यह क्या कह रहे हैं? पहले मेरे साथ तो लड़ लो। जब तक मैं जीवित हूँ, कामको कौन जीत सकता है? फिर स्वामीके लिए अगर मुझे अपने प्राणोंकी बलि भी देनी पड़े तो मैं कर्त्तव्य समझकर उसे देनेके लिए सहर्ष तैयार हूँ। रणसे भाग जाना अनुचरका कर्तव्य नहीं है। कहा भी है:—

"युद्धमें विजयी होनेपर लक्ष्मी मिलती है। मरनेपर देवाङ्गनाएँ मिलती हैं। माया तो क्षणभरमें विलीन हो जानेवाली है। फिर रणमें मर जानेकी कौन चिन्ता?" तथा—

"जो भृत्य भक्तिके साथ स्वामीके लिए प्राण-परित्याग करता है, उसे इस लोकमें कीर्ति और यश मिलता है तथा परलोकमें उत्तम गति।" इस सम्बन्धमें और भी कहा है :—

"जो व्यक्ति स्वामीके लिए, ब्राह्मणके लिए, गायके लिए, स्त्रीके लिए और स्थानके लिए प्राणोंका परित्याग करता है उसे परलोकमें सदैव सुख मिलता है।"

इस प्रकार जिस समय जिनराज और मोहका इस तरह परस्परमें रणसम्बन्धी विवाद चल रहा था, धर्मध्यान क्रुद्ध होकर आ उपस्थित हुआ और चार प्रकारके बाणोंसे मोहको आहत करके उसे शतखण्डोंके रूपमें पृथिवीपर बिखरा दिया।

तदनन्तर जिनराजने अपनी सेना लेकर काम का पीछा किया। जब कामने सेनासहित जिनराजको अपना पीछा करते हुए देखा तो वह अत्यन्त व्याकुल हो गया। उस समय उसे न अपनी सुध रही, न स्त्रीकी, न धनुष-बाणकी और न ही अश्व, रथ, हाथी और पदातियोंकी ही। इसके विपरीत उस समय उसे भागनेके सिवाय और कुछ सूझ ही न पड़ा और फलतः उसने भागना शुरु कर दिया। इतनेमें, जब तक शुक्लध्यान वीर इस दृश्यको नहीं देखता है, तब तक जिनराज शीघ्र ही कामके निकट आकर कहने लगे—अरे काम, अब भागकर तू कहाँ जा रहा है? क्या फिरसे अपनी माँके उदरमें प्रवेश करना चाहता है? तुम जो कहते थे कि मैंने संसारमें किसे पराजित नहीं किया है, सो यदि तुममें हिम्मत हो तो मेरा सामना करो। इतना कहकर जिनराजने धर्मबाणवाली को धनुषपर चढ़ाकर कामके वक्षस्थलमें इस प्रकारसे प्रहार किया कि वह आहत होकर जमीन पर गिर पड़ा।

जिस प्रकार वायु वृक्षको उखाड़कर गिरा देती है, साँप गरुडके पंखोंसे आहत होकर गिर पड़ता है और पर्वत इन्द्रके वज्र-प्रहारसे गिर जाता है उसी प्रकार काम जिनराजकी बाणावलीसे आहत होकर गिर पड़ा।

कामके भूतलपर गिरते ही जिनराजकी सेनाने उसे आ घेरा और बाँध लिया। इस प्रकारकी अवस्थामें पड़े हुए कामको निम्नलिखित पद्य की स्मृति सजग हो उठी—

"पूर्वजन्मकृतकर्मणः फलं पाकमेति नियमेन देहिनाम्।
नीतिशास्त्रनिपुणा वदन्ति यद् दृश्यते तदधुनाऽत्र सत्यवत्।"

"नीतिकारोंने जो उपदेश दिया है कि पूर्वजन्ममें किये हुए कर्मोंका फल देहधारियों को अवश्य भोगना पड़ता है, वह आज खुले रूपमें सामने आ गया है।"

§ १८ जब काम जिनराजसे पराजित हो गया तो सेनाके कतिपय सुभट कामके सम्बन्धमें इस प्रकार मन्त्रणा करने लगे—यह अधम है, इसे मार डालना चाहिए। कुछ कहने लगे—इसका शिर मूंड़कर और गधेपर बिठाकर इसे निकाल देना चाहिए। और कुछ सुभट कहने लगे—इसे चारित्रपुरसे बाहर ले जाकर शूलीपर चढ़ा देना चाहिए। इस प्रकार जब समस्त सामन्त परस्परमें इस प्रकारसे वार्तालाप कर रहे थे उस समय रति और प्रीति कामके दुखद समाचारसे दुखित होकर जिनराजके पास आयीं और इस प्रकार प्रार्थना करने लगीं:—

हे धर्माम्बुध, हे करुणासागर, हे मुक्तिलक्ष्मीपति, हे भव्यरूपी कमलोंके लिए सूर्य, हे सर्वार्थ-चिन्तामणि, हे चारित्रपुरके अधिपति—भगवन जिनराज, आप हमपर करुणा कीजिए और कामदेवको जीवित छोड़कर हमारा सौभाग्य अचल कीजिए। हे प्रभो आप दीनानाथ हैं, इसलिए हम लोगोंकी प्रार्थनापर अवश्यमेव ध्यान दीजिए। यद्यपि संसारमें यह दण्ड-विधान सुप्रसिद्ध है कि सत्पुरुषकी सब तरहसे रक्षा होनी चाहिए और दुर्जनको दण्ड दिया जाना चाहिए। हे जिनराज, यदि इस पद्धतिका आप भी अवलम्ब लें तो कोई आश्चर्य नहीं है।

हे नाथ, हमारे पतिने आपका महान् अपराध किया है। फिर भी आप उन्हें मृत्युदण्ड न दीजिए; क्योंकि इस प्रकारसे क्षीणशक्ति प्राणनाथको मारनेमें आपका क्या पौरुष है ? और—

जो उपकारियोंके प्रति सौजन्य दिखलाता है उसके सौजन्यसे क्या लाभ ? वास्तविक सौजन्य तो उसका है, जो अपकारियोंके प्रति सद्‌व्यवहार करता है।

फिर भगवन् , हम लोगोंने इन्हें अनेक प्रकारसे समझाया भी था; लेकिन इन्होंने कुछ नहीं सुना। और यही कारण है कि यह अपने कर्मोंका इस प्रकारसे फल भोग रहे हैं। फिर भी देव, आपको तो रक्षा ही करनी है।

रति और प्रीतिकी जिनराजने यह प्रार्थना सुनी और कहने लगे—आप इस प्रकारसे अधिक निवेदन क्यों कर रही हैं ? यदि यह पापात्मा देशत्याग कर दे तो मैं इसे नहीं मारूँगा।

जिनराजकी बात सुनकर रति और प्रीति कहने लगीं—देव, हमें आपकी आज्ञा शिरोधार्य्य है। लेकिन आप कुछ मर्यादा का निर्देश तो कर दीजिए। यह सुनकर जिनराज हँसकर कहने लगे—यदि यह बात है तो कामको हमारे देशकी सीमाका उल्लंघन नहीं करना चाहिए।

रति-प्रीति फिरसे कहने लगीं—देव, आप कृपाकर अपने देशकी सीमा बतला दीजिए, फिर उसका उल्लंघन न होगा।

रति-प्रीतिकी बात सुनकर जिनराजने दर्शनवीर आदिको बुलाकर कहा—अरे दर्शनवीर, मदनको देशपट्ट देनेके लिए अपने देशकी सीमा बतलाते हुए उसे एक सीमा-पत्र दे दो, जिससे वह इस निर्धारित सीमाके भीतर कदापि प्रवेश न करे।

जिनराजकी आज्ञानुसार दर्शनवीरने इस प्रकारसे सीमा-पत्र लिखना प्रारंभ कर दिया :—

'शुक्र-महाशुक्र, शतार-सहस्रार, आनत-प्राणत, आरण-अच्युत, नव ग्रैवेयक, विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्धि तथा सिद्धशिला पर्यन्त के प्रदेशोंमें यदि मदनने प्रवेश किया तो इसे अवश्य ही मृत्यु-दण्ड दिया जायगा।' इस प्रकार श्रीकार-चतुष्टयके साथ सीमा-पत्र लिखकर रतिके हाथमें दे दिया।

§ १९. इसके पश्चात् रति-प्रीतिने जिनराजसे पुनः निवेदन किया—महाराज, आप हमें ऐसा सहचर दीजिए जो कुछ दूरतक हम लोगोंको पहुँचा आवे। क्योंकि आपके वीरोंसे हमें बहुत डर लग रहा है।

यह सुनकर जिनेन्द्रने धर्म, आचार, दम, क्षमा, नय, तप, तत्त्व, कृपा, प्रायश्चित्त, मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय, शील, निर्वेग, उपशम, सुलक्षण, स्वाध्याय, ब्रह्मचर्य, धर्म, शुक्ल, गुप्ति, मूलगुण

सम्यक्त्व, निर्ग्रन्थत्व, पूर्वाङ्ग और केवलज्ञान आदि जितने वीर थे उन सबको बुलाया, और बुलाकर कहने लगे—आप लोगोंमें इस प्रकारका कौन वीर है जो कामको कुछ दूरतक भेजनेके लिए उसके साथ जा सकता है ?

जिनराजकी यह बात सुनकर जब किसीने कुछ उत्तर नहीं दिया तो जिनराज फिर कहने लगे—आप लोग चुप क्यों रह गये हैं ? आप कामसे क्यों डरते हैं ? मैंने इसका दर्प क्षीण कर दिया है। अतः अब भयका कोई कारण नहीं है। और कामदेव इस समय तो विषहीन साँपकी तरह, दाँत-रहित हाथीकी तरह, नखशून्य सिंहकी तरह, सैन्यहीन राजाकी तरह, शस्त्रहीन शूरकी तरह, दन्तरहित वराहकी तरह, नेत्रहीन व्याघ्रकी तरह, गुणहीन धनुषकी तरह, शृङ्गशून्य भैंसेकी तरह और दाढ़हीन वराहकी तरह क्षीणबल हो गया है।

इस प्रकार जिनराजकी बात सुनकर शुक्लध्यानवीर कहने लगा—देव, मुझे आज्ञा दीजिए। मैं जानेके लिए तैयार हूँ। लेकिन एक निवेदन करना है, जिसपर आपको अवश्य ही ध्यान देना चाहिए। मेरा यह निवेदन है और आप स्वयं सर्वज्ञ होनेसे जिसे जानते भी हैं कि काम अत्यन्त पापात्मा और वैरी है। यह कदापि अपना स्वभाव छोड़नेवाला नहीं है। इसलिए आप इसे मार क्यों नहीं डालते ? सहचर भेजकर इसको प्राणदानके साथ ही इसकी दूषित वृत्तियोंको प्रोत्साहन क्यों दे रहे हैं ?

शुक्लध्यानवीरकी बात सुनकर जिनराज कहने लगे—शुक्लध्यानवीर, कामको हमें इस समय नहीं मारना चाहिए, क्योंकि यह राज-धर्म है कि कोई शरणागत वैरीको भी मृत्यु दण्ड न दे।

नीतिकारोंने कहा भी है :—

"वह हाथ किस कामका जो दूसरेका धन छुए, परस्त्रीके स्तनका लम्पट हो, याचकोंके गलेमें धक्का देकर उन्हें बाहर करे और शरणागतका वध करे।"

फिर हमारा प्रयोजन सिद्ध हो ही चुका है। अब इसके मारनेसे क्या लाभ ?

§ २०. रति शुक्लध्यानवीरकी बात सुन रही थी। वह जिनराजसे कहने लगी—भगवन्, शुक्लध्यानवीरका आशय हमें शुभ नहीं मालूम देता। कौन जाने, कदाचित् वह हमलोगोंको रास्तेमें ही समाप्त कर दे। शुक्लध्यानवीरकी वीरता भी ऐसी ही है। कहा भी है—

"आकार, इंगित, गति, चेष्टा और भाषणसे, नेत्र और मुखके विकारोंसे मनके भीतरकी बात पहचानी जा सकती है।"

रतिकी बात सुनकर जिनराज हँस पड़े और कहने लगे—हे रति, तुम डरो मत। यह कभी। होगा। यह संभव नहीं है कि शुक्लध्यानवीर हमारी बात न माने और तुमलोगों को मार डाले इस प्रकार कहकर जिनराजने शुक्लध्यानवीरको रति और प्रीतिके साथ भेज दिया।

तदुपरान्त रति और प्रीति वहाँसे चलकर कामके पास आयीं और कामसे कहने लगीं—नाथ, आपकी प्राणरक्षाके लिए हम लोगोंने जिनराजसे अनेक प्रकारकी अनुनय-विनय की और यदि हम लोगोंने उनकी इस प्रकारसे स्तुति-प्रार्थना न की होती तो आपकी प्राणरक्षा असम्भव थी। इस समय जिनराजने दर्शनवीरसे लिखवाकर एक स्वदेश-सीमापत्र दिया है, जिसे आप पढ़ लीजिए। अतः

हम लोग जिनराजके देशकी सीमा छोड़कर अन्यत्रके लिए चल दें और वहाँ शान्तिके साथ जीवन-यापन करें। इस समय दैव प्रतिकूल है। और पता नहीं, उसके मनमें क्या समाया हुआ है? इसके अतिरिक्त जिनराजने हमलोगोंको कुछ दूर तक भिजवानेके लिए शुक्लध्यानवीरको साथमें भेजा है। इसलिए अब हमें यहाँसे चल ही देना चाहिए।

रति और प्रीतिकी बात सुनकर काम अपने मनमें सोचने लगा—कि अब क्या करना चाहिए? शुक्लध्यान हमारा सहचर बनाया गया है, जो हमारे हकमें कदापि शुभकर न होगा। यदि मैं शुक्लध्यानवीरकी दृष्टिमें आ गया तो यह अवश्य ही हमारे ऊपर प्रहार करनेसे न चूकेगा। इसलिए इस शुक्लध्यानवीरका क्या विश्वास किया जाय? कहा भी है–

"बलवान भी अविश्वस्त दुर्बलोंको नहीं बाँध सकते, और विश्वस्त होकर बलवान् भी दुर्बलोंके द्वारा सरलतासे बाँध लिये जाते हैं।"

कामने इस प्रकार सोच-विचार करनेके उपरान्त अपना शरीर सर्वथा ध्वस्त कर दिया और अनङ्ग होकर युवतियोंकी हृदय-कन्दरामें प्रवेश कर गया।

इस अवसरपर इन्द्र ब्रह्मासे कहने लगे—देव, देखिए, देखिए, कामदेव अनङ्ग होकर अदृश्य हो गया है।

इस प्रकार ठक्कुर माइन्ददेवके द्वारा प्रशंसित जिन(नाग)देवविरचित
संस्कृतबद्ध मदनपराजयमें अनङ्ग-भङ्ग नामक
चतुर्थ परिच्छेद पूर्ण हुआ।

—***—

[पञ्चम परिच्छेद]

§ १. जब इन्द्रने देखा कि कामदेव विजय, पौरुष और गर्वसे हीन होकर युवतियोंको हृदय-कन्दरामें प्रवेश कर गया है तो वह बहुत प्रसन्न हुआ। उसने तुरन्त ही दयाको अपने पास बुलवाया और उससे इस प्रकार बात करने लगा–

दये, तुम मोक्षपुर जाओ। वहाँ पहुँचकर सिद्धसेनसे कहना कि वह विवाहके लिए अपनी कन्या लेकर यहाँ शीघ्र आवें।

इन्द्रका वचन सुनकर दयाने प्रस्थान कर दिया। वह मोक्षपुरके अधिपति सिद्धसेनके सामने पहुँच गयी। सिद्धसेनने सामने आते ही उससे पूछा–तुम कौन हो?

दयाने कहा—मैं दया हूँ।

सिद्धसेन—तुम यहाँ किसलिए आयी हो?

दया—मुझे यहाँ इन्द्रने भेजा है।

सिद्धसेन—इन्द्रने तुम्हें यहाँ किस कार्यसे भेजा है?

दयाने उत्तरमें इन्द्रके द्वारा कहा हुआ समस्त वृत्तान्त सिद्धसेनको सुना दिया।

तदनन्तर सिद्धसेन कहने लगे—यह प्रस्तावित वर कौन-सा वीर है ? क्या मेरी कन्या-जैसी योग्यता उसमें है ? उसका गोत्र, कुल और रूप कैसा है ? उसके शरीरकी ऊँचाई कितनी है ? ।

सिद्धसेनकी प्रश्नावली सुनकर दया कहने लगी-प्रभो, आप वरके रूप, नाम, गोत्रके सम्बन्धमें क्यों पूछ रहे हैं ?

दयाके प्रश्नके उत्तरमें सिद्धसेन कहने लगे—दया, सुनो, मैं तुम्हें इस सम्पूर्ण प्रश्नावलीके पूछनेका हेतु बतलाता हूँ। वह कहने लगे-

दया, जो वर रूपवान् , कुलीन, देव-शास्त्र और गुरुओंमें भक्तिमान् , प्रकृतिसे सज्जन, शुभ-लक्षण-सम्पन्न, सुशील, धनी, गुणी, सौम्य-मूर्ति और उद्यमी होता है उसीको कन्या देनी चाहिए। यदि किसी वरमें ये विशेषताएँ न हों तो उसे कन्यादानका पात्र नहीं समझना चाहिए। सिद्धसेन कहने लगे—दया, मैंने इसी कारणसे यह वर-प्रश्नावली तुमसे पूछी है।

सिद्धसेनकी बात सुनकर दया कहने लगी—सिद्धसेन, तब आप अपनी प्रश्नावलीका उत्तर सुन लीजिए-

श्रीनाभिनरेशके पुत्र श्रीवृषभ तो वर हैं। तीर्थंकरत्व उनका गोत्र है। रूपसे सुवर्ण-सुन्दर हैं। उनका वक्षःस्थल विशाल है। वे सबके प्रिय हैं और १००८ शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न उनका शरीर है। वे चौरासी लाख उत्तर गुणोंसे सम्पन्न और शाश्वत सम्पत्तिसे संयुक्त हैं। आकर्णदीर्घ और कमलके समान उनके नेत्र हैं। एक योजनकी लम्बी भुजाएँ हैं। मैं उस वरके सौन्दर्य्यका कहाँ तक वर्णन करूँ जिसकी ऊँचाई पाँच सौ धनुषप्रमाण है।

दया-द्वारा बतलायी गयी वर महोदयकी समस्त गुण-गाथा सुनकर सिद्धसेनको बड़ी प्रसन्नता हुई। वह दयासे कहने लगे—दया, अच्छी बात है। तुम इन्द्रके पास जाओ और कहो कि सिद्धसेन अपनी कन्याको ला रहे हैं, तबतक तुम स्वयंवरकी तैयारी करो। यह भी कहना कि वे अपने साथ यमराजके मन्दिरमें रक्खा हुआ अपना विशाल कर्मधनुष भी साथमें लावेंगे।

सिद्धसेनकी बात सुनकर दयाको बड़ी प्रसन्नता हुई। वह शीघ्र ही मोक्षपुरसे चल पड़ी और इन्द्रके पास पहुँचकर समस्त वृत्तान्त सुना दिया।

इन्द्रने जैसे ही दया-द्वारा बतलाया गया समस्त समाचार सुना, कुबेरको बुलाकर वे उसे तत्काल इस प्रकारका आदेश देने लगे-

कुबेर, तुम तुरन्त एक समवशरण नामक मण्डप तैयार करो, जिसे देखकर समस्त देव और मानवोंका मन आह्लादित हो जाय।

इन्द्रके आज्ञानुसार कुबेरने समवशरण मण्डपकी रचना की, जिसमें २०००० सीढ़ियाँ थीं और जो भृङ्गार, ताल, कलश, ध्वजा, चामर, श्वेत छत्र, दर्पण, स्तम्भ, गोपुर, निधि, मार्ग, तालाब, लता, उद्यान, धूपघट, सुवर्ण, निर्मल मुक्ता फलसे सुशोभित और चार सुन्दर तोरण द्वारोंसे अभिराम था। इसके अतिरिक्त भवन, चैत्यालय, कल्पवृक्ष, नाट्यशाला, द्वादश सभाओं और गोपुरोंसे रमणीय सभामण्डप बारह योजनके विस्तारमें तैयार कर दिया गया।

इस समवशरणमें इन्द्र आदिक समस्त देव, विद्याधर, मनुष्य, उरग, किन्नर, गन्धर्व, दिक्पति, फणीन्द्र, चक्रवर्ती और यक्ष आदिक सब आकर उपस्थित हो गये।

इसके पश्चात् आस्रवोंने कर्मधनुषको—जो यमराजके भवनमें रक्खा हुआ था, कृष्ण, नील, कापोत-दुष्ट लेश्यामय वर्णोंसे चित्रित था, बीचमें मोहरूपी ताँतसे बँधा था और आशारूप डोरीसे अलंकृत था—लाकर समस्त देवताओंके सामने रख दिया।

आस्रवोंने कर्मधनुषको लाकर रक्खा ही था कि इतनेमें रमणीय रूपवती, शुद्ध स्फटिक शरीर-वाली, रत्नत्रयीरूप रेखाओंसे अलंकृत कण्ठवाली, पूर्ण चन्द्रमुखी, नील कमलके समान सुन्दर नेत्र-वाली मुक्ति-लक्ष्मी भी हाथमें तत्त्वरूपी वरमाला लेकर उपस्थित हो गयी।

सबको उपस्थित देखकर इन्द्र कहने लगा—वीरो, आप सिद्धसेन महाराजका सन्देश सुन लीजिए।

उनका सन्देश है कि जो इस विशाल कर्मधनुषको खींचकर उसका भङ्ग करेगा वही मुक्ति-कन्याका वर समझा जायगा।

इन्द्रकी घोषणा सभीने सुनी, परन्तु उसे सुनकर सब एक-दूसरेका मुँह देखने लगे। कोई भी धनुष तोड़नेके लिए तैयार नहीं हुआ।

इतनेमें अत्यन्त मनोहर, शान्तमूर्ति, सर्वज्ञ, समस्त तत्त्वोंके साक्षात्कर्त्ता, दिगम्बर, पुण्यमूर्ति, संसारके उद्धारक, अनन्त शक्तिशाली पाँच कल्याणकों से अलंकृत, आताम्रनेत्र, कमलपाणि, पाप-मल और स्वेद आदिसे रहित, तपोनिधि, क्षमाशील, संयमी, दयालु, समाधिनिष्ठ, तीन छत्र और भामण्डलसे सुशोभित, देव-देव, मुनिवृन्दके द्वारा वन्दनीय, वेद-शास्त्रोंद्वारा उपगीत और निरञ्जन जिनराज सिंहासनसे उठकर खड़े हो गये। वह धनुषके सामने आये और उसे हाथमें ले लिया। उन्होंने जैसे ही उसे कान तक खींचा, वह टूट गया और उसके टूटनेसे एक महान् भयङ्कर शब्द हुआ।

कर्म-धनुषके भङ्ग होनेपर जो नाद हुआ, उससे पृथ्वी चलित हो गयी। सागर और गिरि कँप गये तथा ब्रह्मा आदि समस्त देव मूर्च्छित होकर गिर गये।

ज्यों ही मुक्ति-श्रीने यह दृश्य देखा, उसे बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने तत्काल नाभिनरेशके सुपुत्र श्री वृषभनाथके कण्ठमें तत्त्वमय वर-माला डाल दी।

वरमालाके डालते ही देवाङ्गनाएँ मङ्गल-गान गाने लगीं और इस महोत्सवको देखनेके लिए समस्त चतुर्निकायके देव आकर उपस्थित हो गये। इन देवोंमें कोई सिंहके वाहनपर सवार थे तो कोई महिषके। कोई ऊटके वाहनपर अधिरुढ़ थे, तो कोई चीतेके। कोई बैलके वाहनपर बैठे हुए थे, तो कोई मकरके। किन्हींका वाहन वराह था तो किन्हीका व्याघ्र। किन्हींका गरुड़ था तो किन्हींका हाथी। किन्हींका बगुला था तो किन्हींका हंस। किन्हींका चक्रवाक था तो किन्हींका गैंडा। किन्हींका गरुड़ था तो किन्हींका गवय। किन्हींका अश्व था तो किन्हींका सारस। इस प्रकार समस्त देव अपने-अपने वाहनोंपर बैठे हुए थे। इसके अतिरिक्त उनके शरीर सोलह प्रकारके आभूषणोंसे आभूषित थे, उनके विमानोंकी ध्वजाएं और वस्त्र वायु-विकम्पित हो रहे थे और उनके किरीटोंकी कान्ति अनेक प्रकारके देदीप्यमान मणि और सूर्यके प्रकाशको भी अभिभूत कर रही थी।

ये देव सपरिवार थे और दिव्य आयुधोंसे अलंकृत थे। कोई उच्च स्वरसे मधुर स्तुति-पाठ कर रहे थे तो कोई मनोहारी नृत्य और संगीतमें तन्मय थे। और कोई भेरी, मृदङ्ग, नगाड़े और घण्टा आदि बजाकर आकाशको गुञ्जित कर रहे थे।

इन देवोंके अतिरिक्त श्री, ह्री, कीर्ति, सिद्धि, निस्वेदता, निर्जरा, वृद्धि, बुद्धि, अशल्यता, सुविभवा, बोधि, समाधि, प्रभा, शान्ति, निर्मलता, प्रणीति, अजिता, निर्मोहिता, भावना, तुष्टि, पुष्टि, अमूढ़दृष्टि, सुकला, स्वात्मोपलब्धि, निःशङ्का, कान्ति, मेधा, विरति, मति, धृति, क्षान्ति, अनुकम्पा इत्यादि देवियाँ भी—जो सुन्दर भुज-लताओं और चन्द्र-तुल्य मुखोंसे अलंकृत थीं, विचित्र और विविध मणिमय हारोंसे जिनके वक्षःस्थल सुशोभित थे—जिनराजके विवाहमें मङ्गल-गीत गानेके लिए आ पहुँचीं।

तदनन्तर भगवान् जिनेन्द्र मुक्ति-श्रीके साथ मनोरथरूपी हाथीपर आरूढ़ हो गये। उस समय देवताओंने पुष्पवृष्टि की और इन्द्रने उनके सामने नृत्य किया। दया आदि देवियोंने भगवान्‌को दिव्य आभरण पहिनाये और वागीश्वरी मङ्गल-गान गाने लगी। शेष देवोंने शङ्ख, मृदङ्ग, भेरी और नगाड़े बजाये।

इस अवसरपर अनन्त केवलज्ञानरूपी दीपकोंके तेजसे जिनराजकी वरयात्रा अत्यन्त अनुपम मालूम हो रही थी।

§ २. इस प्रकार चतुर्निकायके देवों-द्वारा वन्दित, सुराङ्गनाओंके पवित्र और श्रुति-मधुर गीतों द्वारा गान किये गये, भामण्डलसे प्रतिभासित, मुनि-मानव और यक्षोंके द्वारा स्तुति किये गये और चामरोंसे वीजित तथा तीन छत्रोंसे सुशोभित जिनेन्द्र जैसे ही मोक्षके मार्गसे जानेके लिए उद्यत हुए, संयमश्री अपनी प्रियसखी तपःश्रीसे इस प्रकार कहने लगी—

सखि तपःश्री, क्या तुम्हें मालूम नहीं है, भगवान् जिनेन्द्र विविध महोत्सवोंसे भूषित और कृतकृत्य होकर मोक्षमार्गकी ओर प्रस्थान कर रहे हैं ? यदि भगवान् मोक्ष चले गये तो कामदेव सबल होकर चारित्रपुरपर आक्रमण करके पुनः हमलोगोंको कष्ट पहुँचा सकता है। इसलिए हमें भगवान्‌के पास चलकर उनसे यह निवेदन करना चाहिए कि वे मोक्ष जानेके पहले हमलोगोंकी सुरक्षाका कोई स्थिर प्रबन्ध करते जावें।

संयमश्रीकी बात सुनकर तपःश्री कहने लगी—सखि, तुम्हारा कथन बिलकुल यथार्थ है। चलो, हम लोग भगवान् जिनराजके पास चल कर उन्हें अपनी प्रार्थना सुनावें।

इस प्रकार निश्चय करके ये दोनों सखियाँ भगवान् जिनेन्द्रकी सेवामें पहुँचीं और हाथ जोड़कर इस प्रकार विनय करने लगीं—

हे पुण्यमूर्ति, त्रिभुवनके यशस्वी, सुन्दर सुवर्ण-वर्ण, वीतराग भगवन् , हमें आपकी सेवामें एक विनय करनी है। वह यह है कि आप तो कृतकृत्य होकर मोक्ष जा रहे हैं, और यदि कामने पुनः चारित्रपुरपर आक्रमण किया तो यहाँ आपके अभावमें हम लोगोंकी सुरक्षा कौन करेगा ?

भगवान् जिनेन्द्रने संयमश्री और तपःश्रीकी यह विनय सुनी। उन्होंने भी अनुभव किया कि इनकी विनय वस्तुतः महत्त्वपूर्ण है। भगवान्‌ने तत्काल उस वृषभसेन गणधरको बुलाया जो सम्पूर्णशास्त्र-

समुद्रके पारगामी थे, चन्द्रकी तरह मनुष्योंको आह्लादित करते थे, मदन-गजके लिए मृगेन्द्र-जैसे थे, दोषरूपी दैत्योंके लिए अमरेन्द्रके समान थे, समस्त मुनियोंके नायक थे, कर्मोंके नाश करनेमें कुशल थे, कुगतिनाशक थे, दया तथा लक्ष्मीके लीलायतन थे, संसारके पाप-पङ्कको प्रक्षालित करने वाले थे, याचकोंके मनोरथ पूर्ण करने वाले थे, समस्त गणधरोंके ईश थे और ज्ञानके प्रकाश थे। और बुलाकर जिनराज उनसे इस प्रकार कहने लगे—

वृषभसेन, देखो हम तो मोक्षपुर जा रहे हैं। तुम तपःश्री, संयमश्री, गुण और तत्त्वोंसे मण्डित, महाव्रत, आचार, दया और नय आदिसे अलङ्कृत समस्त चारित्रपुर-निवासियोंकी भली भाँति रक्षा करना।

इस प्रकार चारित्रपुरकी रक्षाका सम्पूर्ण भार वृषभसेन गणधरको सौंपकर भगवान् जिनेन्द्र बड़े ही आनन्दके साथ मोक्षपुर चले गये।

इस प्रकार ठक्कुर माइन्ददेवके द्वारा प्रशंसित जिन (नाग) देव-विरचित
संस्कृतबद्ध मदनपराजयमें मुक्तिस्वयंवर नामक पाँचवाँ
परिच्छेद सम्पूर्ण हुआ।

———***———

जो व्यक्ति इस मदनपराजयको पढ़ता है और सुनता है उसको सम्यग्ज्ञान और मोक्षकी प्राप्ति होती है। स्वर्गादिककी तो बात ही क्या?

मनुष्यकी तभी तक विविध प्रकारकी दुर्गति होती है, तभी तक उसे निगोदमें रहना पड़ता है, तभी तक सात नरकोंमें जाना पड़ता है, तभी तक दरिद्रताका संकट झेलना पड़ता है, और तभी तक प्राणियोंका मन दुःसह और घोर अन्धकारसे आच्छन्न रहता है, जब तक वह इस मदनपराजय-कथा को नहीं सुनता है।

जो मनुष्य इस मदनपराजय-कथाको सुनता है और उसका वाचन करता है, काम उसे कभी बाधा नहीं पहुँचाता और वह निःसन्देह अक्षय सुखको प्राप्त करता है। ग्रन्थकार कहते हैं, मैं अज्ञानी हूँ। बुद्धि मुझमें है नहीं। फिर भी मैंने इस जिनस्तोत्रकी रचना की है। मैं नहीं जानता कि यह सम्पूर्ण ग्रन्थ शुद्ध है अथवा अशुद्ध। फिर भी समस्त मुनिनाथ और सुकवियोंसे प्रार्थना है कि वे मुझे इस अपराधके लिए क्षमा करें और इस मदनपराजय–कथामें उचित संशोधन करके इसके लक्ष्यका सदैव प्रसार करें।

इस प्रकार मदन-पराजय समाप्त हुआ।

मदनपराजयके पारिभाषिक और विशेष शब्दोंका कोष

[अ]

अङ्ग (३७, ६२)—जैन श्रुतका एक भेद। अङ्ग वाङ्मय बारह प्रकारका है—१ आचाराङ्ग, २ सूत्रकृताङ्ग, ३ स्थानाङ्ग, ४ समवायाङ्ग, ५ व्याख्याप्रज्ञप्ति अङ्ग, ६ ज्ञातृधर्मकथाङ्ग, ७ उपासकाध्ययनाङ्ग, ८ अन्तकृद्दशाङ्ग, ९ अनुत्तरोपपादिकदशाङ्ग, १० प्रश्नव्याकरणाङ्ग, ११ विपाकसूत्राङ्ग और १२ दृष्टिप्रवादाङ्ग। इन अङ्गोंमें आचार आदिका विस्तृत विवेचन है।

अच्युत (६२)—सोलहवें स्वर्गका नाम।

अजिता (६८)—एक भावात्मक देवी।

अज्ञातफल (१३)—वह फल जिसके सम्बन्धमें कुछ जानकारी न हो। इस प्रकारके फलकी अभक्ष्य पदार्थोंमें गणना की गयी है।

अज्ञान (३३)—मिथ्याज्ञान या कुज्ञानको अज्ञान कहते हैं। ज्ञानाभाव जो ज्ञानावरणीयके उदयका फल है, उस अज्ञानसे यहाँ मतलब नहीं है। यह अज्ञान तीन प्रकारका है—मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभङ्गअज्ञान।

अणुव्रत (१३)—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रहका किसी भी अंशमें त्याग करना अणुव्रत है। अणुव्रतके पाँच भेद हैं—अहिंसाणुव्रत, सत्याणुव्रत, अचौर्याणुव्रत, ब्रह्मचर्याणुव्रत और परिग्रहपरिमाणाणुव्रत।

अनय (५३)—कामके दलका एक सुभट। अनय अर्थात् जहाँ नय दृष्टिका निषेध हो। नयका विशेषार्थ आगे देखिए।

अनुकम्पा (३८)—जिनेन्द्रकी सेनाके इस नामके भावात्मक नरेश।

अनुकम्पाकरी (५४)—केवलज्ञानवीरका एक अस्त्र।

अनुप्रेक्षा (४०)—जिस गम्भीर और तात्त्विक चिन्तन-द्वारा रागद्वेष आदि वृत्तियोंका निरोध होता और अन्तस्में शान्ति और सुखका संचार होता है उसे अनुप्रेक्षा कहते हैं। ये अनुप्रेक्षाएँ बारह हैं—१ अनित्य, २ अशरण, ३ संसार, ४ एकत्व, ५ अन्यत्व, ६ अशुचि, ७ आस्रव, ८ संवर, ९ निर्जरा, १० लोक, ११ बोधिदुर्लभत्व और १२ धर्मका स्वाख्यातत्व।

अनन्तकायक (१३)—जिस एक वनस्पतिमें अनन्त एकेन्द्रिय जीव एक साथ रहते हों, जन्म लेते हों और मरते हों, उसे अनन्तकायक कहते हैं।

अनन्तचतुष्टय (२८) अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य इस चतुष्टयी विभूतिका नाम अनन्तचतुष्टय है और यह प्रत्येक अर्हत्में पायी जाती है।

अन्तराय (३४)—जिस कर्मके उदयसे दान लाभ आदिमें अन्तराय उपस्थित हो उसे अन्तराय (कर्म) कहते हैं। इसके पाँच भेद हैं—दानान्तराय, लाभान्तराय, भोगान्तराय, उपभोगान्तराय और वीर्यान्तराय। ये सब कामके सैन्यके सेनानी हैं।

अन्यायकालिक (३३) कामकी डौंड़ी पीटनेवाला। यह अनीतिरूपी ढोल पीटकर कामकी घोषणाएँ सुनाता है।

अपराजित (६२)—एक अनुत्तर विमान।

अभिमान (३)—कामका एक योधा।

अमूढदृष्टि (६८)—सम्यक्त्वका एक अङ्ग। एक भावात्मक देवी। मिथ्या देव, शास्त्र और गुरुमें श्रद्धा न करनेका अर्थ अमूढदृष्टि है।

अर्थ (५३)—जिनराजकी सेनाके सुभट। अर्थ नौ हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप। अर्थका दूसरा नाम पदार्थ भी है।

अवधिज्ञान (३८, ५७, ६२)—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी मर्यादाको लेकर जो रूपी पदार्थको स्पष्ट जाने।

अशल्यता (६८)—वह भाव जहाँ शल्य न हो, एक भावात्मकदेवी। शल्यका अर्थ आगे देखिए।

अष्ट कुलाचल (३७)—आठ कुलपर्वत। यथा—माहेन्द्र, मलय, सह्य, शुक्तिमत्, ऋक्षभत्, विन्ध्य और पारियात्र।

असंयम (३४)—वह भाव जहाँ संयम न हो, कामके दलका एक नरेश।

अस्त्र (४६)—आयुधका एक वह भेद जो मन्त्रप्रयोगपूर्वक काममें लाया जाय। जैसे ब्रह्मास्त्र, वारुणास्त्र, आग्नेयास्त्र, मोहनास्त्र, गारुडास्त्र आदि।

[आ]

आकांक्षा (५१)—पञ्चेन्द्रिय सम्बन्धी भोगोंकी अभिलाषा। इस नामका मिथ्यात्ववीरका एक आयुध।

आचार (३७, ५७, ६२)—आचार अर्थात् आचरण। यह पाँच प्रकारका है—दर्शनाचार, ज्ञानाचार, चारित्राचार, तप-आचार और वीर्याचार। उक्त नामाङ्कित जिनराजकी सेनाके सेनानी हैं।

आधाकर्म (५६)—गृहस्थोंके रसोई आदि बनानेमें होनेवाला प्राणिवध। एक प्रकारका बाण।

आनत (६२) तेरहवें स्वर्गका नाम।

आयतन (५०)—जिनदेव, जिनमन्दिर, जिनागम, जिनागमके धारक, तप और तपके धारक। इस नामके सम्यक्त्ववीरके बाण।

आयुः कर्म (३३)—जिससे नरक आदि पर्यायोंमें अमुक समय तक रहना पड़े। कामकी सेनाके योधानरेश। आयुःकर्म चार प्रकारका है— नरकायु, तिर्यञ्चायु, मनुष्यायु और देवायु।

आरण (६२)—पन्द्रहवें स्वर्गका नाम।

आर्जव (३६)—मन, वाणी और क्रियाकी एकताका नाम आर्जव है। इस नामका जिनराजकी सेनाका एक नरेश।

आर्त्त (१४, ५०, ५३)—इस नामका एक ध्यान। यह चार प्रकारका है—(१) अप्रिय वस्तुके प्राप्त होनेपर उसे दूर करनेके लिए जो अविराम चिन्तन किया जाता है—वह प्रथम आर्त्त ध्यान है। (२) इष्ट-वस्तुके वियोग हो जानेपर उसकी प्राप्तिके लिए जो अहर्निशकी चिन्ता है वह दूसरा आर्त्त ध्यान है। (३) दुःख आनेपर उसे दूर करनेके लिए जो निरन्तर चिन्ताकी जाती है—वह तीसरा आर्त्त ध्यान है।

(४) अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिके लिए जो भावी संकल्प और आकांक्षा है—वह निदान नामका चौथा आर्त्त ध्यान है।

आवश्यक (५४)—प्रति दिनकी अवश्य करने योग्य क्रियाएँ—(१) सामायिक, (२) स्तवन, (३) वंदना, (४) प्रतिक्रमण, (५) स्वाध्याय और (६) कायोत्सर्ग, उक्त नामाङ्कित केवलज्ञान वीरके बाण।

आशा (३४, ५४, ५६)—तृष्णा, कामकी सेनाके नरेश, मोहका इस नामका धनुष और मन-मतङ्गजके इस नामके नेत्र।

आशिमी (५८, ५९)—कामदेवकी कुलदेवी विद्या।

आस्रव (३, ४२, ५३, ५७)—मन, वचन और कायकी प्रवृत्ति द्वारा आत्माके साथ संबद्ध होनेके लिए जो कर्म आते हैं वह आस्रव हैं। इस नामका कामदेवका सभासद।

[इ]

इन्द्रिय (३३)—जिससे ज्ञानलाभ हो सके। वे पांच हैं:—(१) स्पर्शनेन्द्रिय, (२) रसनेन्द्रिय, (३) घ्राणेन्द्रिय, (४) चक्षुरिन्द्रिय, (५) श्रोत्रेन्द्रिय। इस नामके कामदेवकी सेनाके सेनानी।

[उ]

उदुम्बर (१३, ५०)–(१) बड़, (२) पीपल, (३) गूलर, (४) पाकर और क्षीरवृक्षके फल—ये पांच उदुम्बर हैं।

उपशम (५४, ६२)—कर्म-शक्तिकी अप्रकटता अथवा कर्मोंका फल न देना उपशम है। जिनराजका एक सुभट और केवलज्ञानवीरका एक बाण।

उपशमश्रेणी (५३)—जिसमें अनन्तानुबन्धी क्रोधादिका विसंयोजन करके चारित्रमोहनीयका उपशम किया जाय।

उपवास (५६)—अष्टमी और चतुर्दशी-जैसी पुण्य तिथिके दिन समस्त प्रकारके आहार, जल और आरंभका त्याग करके जो आध्यात्मिक विकासमें प्रवृत्त रहना है—वह उपवास है। इस नामका जिनराजका एक बाण।

[क]

कर्म (२, ३३, ३४, ४२)—जो कर्मवर्गणारूप पुद्गलके स्कन्ध राग-द्वेषादिके निमित्तसे जीवके साथ संबद्ध होकर ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि रूपोंमें परिणत होते हैं उन्हें कर्म कहते हैं। कर्म आठ हैं:—(१) ज्ञानावरण, (२) दर्शनावरण, (३) वेदनीय, (४) मोहनीय, (५) आयु, (६) नाम, (७) गोत्र और (८) अन्तराय। कामदेवके इस नामके योद्धा।

कर्म-कोदण्ड (६६)—जिनराजके विवाहके अवसरपर उपस्थित किया गया इस नामका धनुष।

कल्याणक (२८, ६७)—अर्हत् भगवान्‌के गर्भ, जन्म, दीक्षा, केवलज्ञानकी उत्पत्ति और निर्वाण-लाभके सुअवसरपर जो महोत्सव मनाये जाते हैं, उन्हें कल्याणक कहते हैं।

कषाय (५३, ५४)—जो भाव आत्माको कसे अर्थात् उसके गुणोंका घात करे। वे चार हैं:-क्रोध, मान, माया और लोभ। कामदेवकी सेनाके इस नामके वीर और मनमतङ्गके इस नामके चार चरण।

काम (३)—मकरध्वजका नामान्तर ।

कामावस्था—(३५) कामजन्य अवस्था । वे दस हैं :—अभिलाष, चिन्ता, स्मृति, गुणकथन, उद्वेग, संप्रलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता और मृत्यु । कामदेवकी सेनाका छत्र ।

काललब्धि (४)—किसी कार्यके होनेके समयकी प्राप्ति । सम्यग्दर्शनके लिए अर्द्धपुद्गल-परिवर्तनकाल, मोक्ष जानेमें शेष रहना काललब्धि है ।

कीर्ति (६८)—एक भावात्मक देवी ।

कुकथा (३५)—धर्मविरुद्ध निन्द्य कथाएँ । वे चार हैं—स्त्रीकथा, भोजनकथा, राष्ट्रकथा और अवनिपालकथा ।

कुज्ञान (४२)—मिथ्याज्ञान । देखिए 'अज्ञान' ।

कुदर्शन (३५)—मिथ्यादर्शन । जिसके कारण तात्त्विक श्रद्धा न हो वह मिथ्यादर्शन है । वह पाँच प्रकारका है—एकान्त, विपरीत, संशय, वैनयिक और अज्ञान । कामदेवके सैन्यकी इस जातिकी पाँच प्रकारकी गर्जनाएँ ।

कुन्त (४६)—भाला या बरछा । यह काठका बनता है । इसके अग्रभागमें खूब तीखा नोकीला शानदार डेढ़ बित्तेका लम्बा लोहेका फल लगा रहता है । भाला कमसे कम आठ हाथ लम्बा होता है ।

कृपाण (४६)—आधे खड्गको कृपाण कहते हैं । हरण, छेदन, घात, बलोद्धरण, आयत, पातन और स्फोटन—ये सात कृपाण और खड्गके कर्म हैं ।

केवलज्ञान (४८, ६२)—जो ज्ञान त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थोंको एक साथ हस्तामलकवत् स्पष्ट जाने वह केवल ज्ञान है । जिनराजका एक वीर सेनानी ।

क्षपकश्रेणी (५३)—जहाँ अनन्तानुबन्धी ४ का विसंयोजन करके चारित्रमोहनीयकी शेष इक्कीस प्रकृतियोंका क्षय किया जाय वह क्षपकश्रेणी है ।

क्षमा (३७, ५३, ६२)—सहिष्णुता । आत्मामें क्रोधभावकी उद्भूति न होना और उत्पन्न हुए क्रोधको दूर करनेका नाम क्षमा है । क्षमा एक आत्मीय धर्म है । जिनराजकी सेनाका इस नामका एक नरेश ।

क्षायिकदर्शन (४०)—जो आत्म-प्रतीति अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ और दर्शनमोहनीयके क्षय होने पर हो वह क्षायिक दर्शन है । इस नामका जिनराजका एक भावात्मक हाथी ।

क्षायिक-सम्यक्त्व (४२)—वही आत्म-श्रद्धा जो क्षायिक-दर्शनके होनेपर प्रकट होती है ।

[ख]

खड्ग (४६, ५४)—तलवार । प्राचीन समयमें इसका प्रमाण छह अङ्गुल चौड़ा और सात हाथका लम्बा कहा गया है । आजकल यह दो-ढाई हाथका लम्बा होता है । इसमें एक मुठिया रहती है और यह कमरमें बाँई ओर लटकाया जाता है । यह कोश (म्यान) में रहता है । खड्गकी उत्तमताका ज्ञान इन आठ वस्तुओंसे होता—अङ्ग, रूप, जाति, नेत्र, अरिष्ट, भूमि, ध्वनि और मान । इनके विशेषार्थके लिए 'धनुर्वेदरहस्य' देखिए ।

[ग]

गणधर (६९)—जो तीर्थंकरों द्वारा प्रकाशित ज्ञानको ग्रहण करके उसका व्याख्यान करता है और उसे द्वादशाङ्गमें निबद्ध करता है वह गणधर है । तीर्थङ्करोंके पट्ट शिष्य ।

गति (६)—नामकर्मके उदयसे जीव जिस पर्यायको प्राप्त करता है उसे गति कहते हैं। वे चार हैं—नरकगति, तिर्यञ्चगति, मनुष्यगति और देवगति।

गतिच्छेद (१४)—गतिका विनाश।

गदा (४६)—एक आयुध, जो लोहेका बनता है। लोहेका ही इसमें सात हाथका लम्बा दंड लगा रहता है। यह कुबेर देवताका मुख्य आयुध है।

गारव (२, ५४)—परिग्रहसम्बन्धी तीव्र अभिलाषाको गारव कहते हैं। गारव तीन प्रकारका है—ऋद्धिगारव, रस गारव और सात गारव। कामका एक सभासद और मोहकी बाणत्रयी।

गुणस्थान (४)—आध्यात्मिक विकासकी चढ़ाव-उतारवाली भूमिका। मोह और योगके निमित्तसे आत्माके गुणोंकी तारतम्यरूप अवस्थाविशेषको गुणस्थान कहते हैं। गुणस्थान चौदह हैं—१ मिथ्यात्व, २ सासादन, ३ मिश्र, ४ अविरतसम्यग्दृष्टि, ५ देशविरत, ६ प्रमत्तसंयत, ७ अप्रमत्तसयत, ८ अपूर्वकरण, ९ अनिवृत्तिकरण, १० सूक्ष्मसाम्पराय, ११ उपशान्तमोह, १२ क्षीणमोह, १३ सयोगकेवली और १४ अयोगकेवली। जिनराजके चारित्रपुरकी इस नामकी सीढ़ियाँ।

गुप्ति (३८, ६२)—मन, वाणी और कायकी क्रियाको कुमार्गसे रोककर सन्मार्गमें लगानेमें जो निवृत्ति अंश है वह गुप्ति है। वे तीन हैं—मनोगुप्ति, वचनगुप्ति और कायगुप्ति। जिनराजकी सेनाके इस नामके तीन नरेश।

गुरु (१०, ६५)—जो पञ्चेन्द्रियसम्बन्धी विषय और आशासे परे हो, आरम्भ और परिग्रहसे दूर हो, ज्ञान और ध्यान हीमें जो तन्मय रहता हो वह गुरु है।

ग्रैवेयक (६२)—स्वर्गोंके ऊपर स्थित नौ ग्रैवेयक विमान।

गोत्र (३३)—सन्तानक्रमसे चले आनेवाले जीवके आचरणको गोत्र कहते हैं। उच्च गोत्र और नीच गोत्रके भेदसे वह दो प्रकारका है। कामकी सेनाके इस नामके नरेश।

[च]

चक्र (४६)—एक आयुध। यह रथके पहियेके समान होता है और लोहेका बनता है। इसके मध्यमें लोहेकी नाभि बनी रहती है। नाभिके बीचमें छिद्र रहता है। इसीमें अँगुली डालकर घुमाके यह चलाया जाता है। नाभिमें चारों ओर सोलह, आठ या छह लोहेके आरे लगे रहते हैं। आरेके चारों ओर लोहेकी नेमि लगी रहती है। छेदन, भेदन, पात, भ्रमण, शमन, विकर्त्तन और कर्त्तन-ये सात चक्र-कर्म हैं।

चतुर्णिकाय (६८)—देवोंके चार प्रकारके समूहविशेष अर्थात् जाति। वे चार प्रकारके हैं:—भवनवासी, व्यन्तर, ज्योतिष्क और कल्पवासी।

चान्द्रायण (५६)—एक विशेष व्रत और जिनराजका इस नामका एक बाण।

चारित्र (३७)—बाह्य और आभ्यन्तर क्रियाके निरोधसे आत्मामें जो विशेष शुद्धि प्रकट होती है वह चारित्र है। चारित्र तेरह प्रकारका है:—पाँच महाव्रत, पाँच समिति और तीन गुप्ति। जिनराजकी सेनाके इस नामके वीर सुभट।

चैत्यालय (९)—जिन-मन्दिर।

[छ]

छुरिका (४७)—छुरा। आधे कृपाणको छुरिका कहते हैं।

छेदोपस्थापना (५४)—व्रतोंमें दोष आ जानेपर उसे छेद कर फिरसे उसी व्रतको ग्रहण कर आत्माको चारित्रमय बनाना छेदोपस्थापना चारित्र है। केवलज्ञान वीरका इस नामका एक आयुध।

[ज]

जयन्त (६२)—इस नामका एक अनुत्तर विमान।

जिन (३, ४, ४७, ६७, ६८)—जो कर्म-शत्रुओंके ऊपर विजय प्राप्त करे वह जिन है।

जिनराज (४६, ४७)—जिनश्रेष्ठ, कथानायक।

[झ]

झष (४६)—एक प्रकारका महाराज, जिसका नाम मकर भी है।

[त]

तत्त्व [३७, ६२]—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष—ये सात तत्त्व हैं। जिनराजकी सेनाके इस नामके वीर।

तप (३७, ६२)—आध्यात्मिक उत्कर्षके लिए सम्पूर्ण इच्छाओंका निरोध करना तप है। वह मुख्यतः दो प्रकारका है—बाह्य, और आभ्यन्तर। बाह्य तप छह प्रकारका है:—अनशन, अवमोदर्य, व्रतपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, कायक्लेश। आभ्यन्तर तप भी छह प्रकारका है:-प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्त्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान। जिनराजकी सेनाके इस नामके वीर योधा।

तिर्यग्गति (६)—नामकर्मकी वह प्रकृति, जिसके उदयसे जीवको पशुपर्यायमें जन्म लेना पड़े।

तीर्थंकर (६५)—जो धर्मतीर्थका प्रवर्त्तन करते हैं, उन्हें तीर्थंकर कहते हैं। इस नामका एक गोत्र।

तुष्टि (६८)—इस नामकी एक भावात्मक देवी।

[द]

दण्ड—(२, ५३)—मन, वचन और कायकी कुत्सित प्रवृत्तिको दण्ड कहते हैं। कामके इस नामके सभासद।

दम (३७, ५३, ६२)—इन्द्रियोंको दमन करना। जिनराजकी सेनाका इस नामका एक योधा नरेश।

दया (४०, ७२)—इस नामकी एक देवी और इस नामका जिनराजकी सेनाका एक सुभट नरेश।

दर्शन (३८)—सच्ची आत्म-श्रद्धा। इस नामका जिनराजकी सेनाका एक वीर।

दर्शनमोह (३४)—जो आत्माके सम्यक्त्व गुणको प्रकट न होने दे वह दर्शनमोह है। वह तीन प्रकारका है:-मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति। कामकी सेनाका इस नामका एक नरेश।

दर्शनावरण (३४)—जो जीवके दर्शन गुणका घात करे। वह नौ प्रकारका है:—चक्षुदर्शनावरण, अचक्षु-दर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण, केवलदर्शनावरण, निद्रा, निद्रानिद्रा, प्रचला, प्रचलाप्रचला और स्त्यानगृद्धि। इस नामके कामदेवकी सेनाके सुभट नरेश।

दान (१०)—न्यायपूर्वक प्राप्त हुई वस्तुका अनुग्रहकी दृष्टिसे दूसरेको समर्पण करना दान है। यह चार प्रकारका है:—आहारदान, ज्ञानदान, औषधिदान और अभयदान।

दिव्याशिनी (५८)—देखिए 'आशिनी'।

दुर्गति (७०)—खोटी गति। जैसे—नरकगति और तिर्यञ्चगति।

दुष्परिणाम (३४, ४२)—निन्द्य परिणाम। इस नामके कामदेवकी सेनाके सेनानी।

देव (१०, १५)—जो भूख, प्यास आदि अठारह दोषोंसे परे हो, वीतराग, सर्वज्ञ और हितोपदेशी हो वह देव है।

दोष (३, ५३)—दोष अठारह प्रकारके हैं:—क्षुधा, तृषा, जरा, आतङ्क, जन्म, मरण, भय, अहंकार, राग, द्वेष, मोह, चिन्ता, रति, निद्रा, विस्मय, मद, स्वेद और खेद। इस नामके कामदेवके सभासद।

द्विदल (१३)—जिस अन्नके दो दल हों उससे बने पदार्थको कच्चे गोरस (दूध, दही, छाछ) में मिलाकर खाना द्विदल भोजन कहलाता है।

द्वेष (३३)—इस नामका कामदेवकी सेनाका एक सुभट।

[ध]

धर्म (६१, ६२)—जिसके द्वारा आत्माको निराकुल सुखकी प्राप्ति हो। धर्म दस प्रकारका है:—क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य। जिनराजकी सेनाके इस नामके वीर सेनानी।

धर्म ध्यान (९, १०)—आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थानकी विचारणाके निमित्त जो एकाग्र चिन्तन है वह धर्म ध्यान है। जिनराजकी सेनाका एक वीर योधा।

ध्यान (९, १०)—एकाग्र होकर चिन्तन करनेका नाम ध्यान है। यह चार प्रकारका है:—आर्त्त ध्यान, रौद्र ध्यान, धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान।

[न]

नय (३८, ६२)—अनेक धर्मात्मक वस्तुके एक अंशको बोध कराने वाले ज्ञानको नय कहते हैं। नयके नौ भेद हैं:—द्रव्यनैगम, पर्यायनैगम, द्रव्यपर्यायनैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ और एवभूत। इस नामके जिनराजकी सेनाके नौ नरेश।

नरक (९)—नारकोंके निवास स्थानकी भूमियाँ नरक कहलाती हैं। वे सात हैं:—रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पङ्कप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा और महातमःप्रभा।

नरकगति (६)—जिस नाम-कर्मके उदयसे नारकपर्यायमें जन्म लेना पड़े। मिथ्यात्वकी पत्नी।

नरकानुपूर्वी (५१, ५२)—जिस कर्मके उदयसे नरकगतिमें जन्म लेनेके पहले और मृत्युके पश्चात् आत्माके प्रदेश पूर्व शरीरके आकारके बने रहें वह नरकानुपूर्वी है। नरकगतिकी सखी।

नवग्रह (१४)—रवि, चन्द्र, मंगल, बुध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु और केतु—ये नवग्रह हैं।

नामकर्म (३४)—जिस कर्मके उदयसे जीव गति, जाति आदिके रूपमें परिणमन करे और जिसके निमित्तसे शरीर आदिका निर्माण हो वह नामकर्म है। इसके तिरानबे भेद हैं। इस नामके कामदेवकी सेनाके सुभट।

नाराच (४६)—जो बाण सिर्फ लोहेका बनाया जाता है अर्थात् जिसमें ऊपरसे नीचे तक सब लोहा ही रहता है उसका नाम नाराच है। नाराचके पुंख (पिछले भाग) में मोटे-मोटे बड़े-बड़े पाँच पंख लगते हैं। बलवान और विरला धनुर्धर ही इसे चला सकता है।

निगोद (७०)—जहाँ एक शरीरके अनन्त स्वामी हों वह निगोद शरीर है। एक निगोद शरीरमें प्रति समय *अनन्तानन्त जीव एक साथ जन्मते है और मरते हैं, परन्तु वह निगोद शरीर बराबर बना रहता है।* निगोदके दो भेद हैं—१ नित्यनिगोद, २ इतर निगोद। जिसने निगोदके सिवाय कभी भी दूसरी पर्याय न पायी हो और जो भविष्यमें प्रायः इस पर्यायको छोड़कर अन्य पर्याय प्राप्त न कर सके वह नित्य निगोद हैं। तथा जो निगोदसे निकलकर पुनः इस पर्यायको प्राप्त करे वह इतर निगोद है।

निन्दितपरिणाम (३४)—देखिए 'दुष्परिणाम'। इस नामके कामदेवकी सेनाके सुभट।

नियम (१०)—कालकी अवधि लेकर किसी वस्तुके त्यागकी प्रतिज्ञा करना।

निर्ग्रन्थ (३६, ६२)—जो सब प्रकारसे परिग्रहकी गृद्धिसे उन्मुक्त हों वे निर्ग्रन्थ हैं। निर्ग्रन्थ मुनि पाँच प्रकारके हैं—पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक। जिनराजकी सेनाके इस नामके वीर योधा।

निर्ग्रन्थमार्ग (१६)—निर्ग्रन्थ साधुका आदर्श मार्ग।

निर्जरा (५८)—कर्मोंके अंशतः झड़नेका नाम निर्जरा है। इस नामकी एक विद्या।

निर्जरा (६८)—एक भावात्मक देवी।

निर्मलता (६८)—एक भावात्मक देवी।

निर्मोहता (६८)—एक भावात्मक देवी।

निर्वेग (३६, ४२, ४६, ६२)—संसार, शरीर और भोगोंसे वैराग्य भावकी जागृति। जिनराजकी सेनाका एक वीर सेनानी।

निःकांक्षा (५१)—भोगोंकी प्राप्तिकी आकांक्षा न होना। सम्यक्त्ववीरका इस नामका एक आयुध।

निःशङ्का (४८, ५१)—तात्त्विक व्यवस्थामें कुछ भी सन्देह न होना। निर्भयता। सम्यक्त्ववीरका इस नामका एक आयुध।

निःस्वेदता (६८) एक भावात्मक देवी।

नोकषाय (३४)—जो मुख्य कषायोंके सहचर हों और उनका उद्दीपन करें वे नोकषाय हैं। ये नौ प्रकारके है—हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसकवेद।

[प]

पञ्चनमस्कारमन्त्र (१४)—इस नामका एक मन्त्र। जो इस प्रकार है—

"णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, णमो आइरीयाणं।
णमो उवज्झायाणं, णमो लोये सव्वसाहूणं ॥"

इसमें पंच परमेष्ठियों—अर्हत्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधु—को नमस्कार किया गया है, इसलिए इसे पञ्चनमस्कारमन्त्र कहते हैं। इसका दूसरा नाम मूल मन्त्र भी है।

पट्टीश (पट्टिश) (४६)—पटा या किरिच का नाम है। इसका आकार तलवारके समान होता है। इसका फल सीधा तथा पतला और लंबा होता है। फलमें दोनों ओर धार होती है।

पदार्थ (५३)—देखिए 'अर्थ'। जिनराजकी सेनाके सुभट।

परशु (४६)—गड़ाँसेका नाम परशु है। यह लोहेका बनता है। इसमें बड़ा लंबा मजबूत लकड़ीका दंड लगा रहता है।

परिहारविशुद्धि (५४)—सम्पूर्ण अहिंसक मुनिके समस्त सावद्यकी निवृत्तिपूर्वक जो एक आत्मीय विशुद्धि है वह परिहारविशुद्धि चारित्र है। जिसके कारण जीवाकुल प्रदेशमें प्रवृत्ति करनेपर भी जीवहिंसा नहीं होती तज्जन्य पाप नहीं लगता। केवलज्ञानवीरका एक इस नामका दिव्य आयुध।

परीषह—(५८)—बाधाएँ। इनका सहना सन्मार्गपर स्थिर रखनेमें सहायक होता है और कर्मोंके क्षयमें निमित्त होता है। परीषह बाईस हैं:—क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमशक, नाग्न्य, अरति, स्त्रीचर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार, पुरस्कार, प्रज्ञा, अज्ञान और अदर्शन। दिव्याशिनीकी इस नामकी एक विद्या।

पाप (३४)—जो आत्माको शुभ प्रवृत्तिसे रोके वह पाप है। वे पाँच हैं:—हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह। कामकी सेनाके सेनानी।

पुण्य (३४)—जो जीवको शुभ क्रियाओंमें प्रवृत्त करे वह पुण्य है। इस नामका कामकी सेनाका एक सुभट।

पुष्टि (६८)—एक भावात्मक देवी।

पूर्व—(३८, ६२) द्वादशाङ्ग श्रुतके बारहवें दृष्टिप्रवाद अङ्गका एक भेद। यह चौदह प्रकारका है:—उत्पादपूर्व, आग्रायणी, वीर्यानुप्रवाद, अस्तिनास्तिप्रवाद, ज्ञानप्रवाद, सत्यप्रवाद, आत्मप्रवाद, कर्मप्रवाद, प्रत्याख्याननामधेय, विद्यानुवाद, कल्याणवाद, प्राणवाद, क्रियाविशाल और लोकबिन्दुसार। इन पूर्वोंमें द्रव्य, स्याद्वाद, कर्मबन्ध, मन्त्र-तन्त्र और वैद्यक-संगीत आदिका विस्तृत विवेचन है। जिनराजकी सेनाके इस नामके वीर नरेश।

प्रणीति (६८)—एक भावात्मक देवी।

प्रभा (६८)—एक भावात्मक देवी।

प्रमाण (३९)—सम्यग्ज्ञानको प्रमाण कहते हैं। उसके लोकप्रसिद्ध न्यायशास्त्रमें चार भेद हैं:—प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम और उपमान। इस रूपका जिनराजका एक हाथी।

प्रमाद (३, ५४)—जिसके कारण निर्दोष चारित्र पालन करनेमें उत्साह न हो तथा आत्मस्वरूपकी असावधानताका नाम प्रमाद है। वह पन्द्रह प्रकारका है:—चार कुकथा, चार कषाय, पञ्चेन्द्रियके विषय, निद्रा और स्नेह। कामदेवकी सभाका एक सभासद और मोहके इस नामके बाण।

प्राणत (६२)—चौदहवें स्वर्गका नाम।

प्रायश्चित्त (३७, ५७, ६२)—प्रमादसे आये हुए दोषोंकी शुद्धिका नाम प्रायश्चित्त है। यह नौ प्रकारका है:—आलोचना, प्रतिक्रमण, आलोचनाप्रतिक्रमण, विवेक, व्युत्सर्ग, तप, छेद, परिहार और उपस्थापना। जिनराजकी सेनाके सेनानी।

प्रीति (२, १५, ६१, ६२, ६३)—कामदेवकी पत्नी।

प्रीति (६८)—एक भावात्मक देवी।

[ब]

बहिरात्मा (४१, ४३, ५५)—जो शरीर आदि बाह्य वस्तुओंमें आत्म-बुद्धि करे वह बहिरात्मा है। इस नामका कामदेवका बन्दी।

बाण (४७)—शरकंडे या बाँसका बनता है। बाणके तीन भेद हैं—स्त्री, पुरुष और नपुंसक। जो बाण अगले हिस्सेमें भारी और पिछले हिस्सेमें हल्का हो वह स्त्रीबाण है। जो बाण पिछले हिस्सेमें भारी और अगले हिस्सेमें हल्का हो वह पुरुष बाण है। और जो दोनों भागोंमें सम होता है वह नपुंसक बाण है। नपुंसक बाण ही निशाना लगानेके लिए उत्तम माना जाता है।

बुद्धि (६८)—इस नामकी एक भावात्मक देवी।

बोधि (६८)—इस नामकी एक भावात्मक देवी।

ब्रह्मचर्य (३८)—सम्पूर्ण रीतिसे शीलका पालन करना ब्रह्मचर्य है। इसकी नौ बाढ़ हैं:—१ स्त्रियोंके सहवासमें न रहना, २ उन्हें रागसे न देखना, ३ मिष्ट वचन न कहना, ४ पूर्व भोगोंका स्मरण न करना, ५ कामोद्दीपक आहार न करना, ६ शृङ्गार न करना, ७ स्त्रियोंकी शय्यापर न सोना, ८ कामकथा न करना, ९ भरपेट भोजन न करना। इस नामके जिनराजकी सेनाके वीर योधा।

[भ]

भय (४२, ५३, ५७)—जिसके कारण आत्मा भयभीत हो। वे सात प्रकारके हैं—१ इस लोकका भय, २ परलोकभय, ३ वेदनाभय, ४ अरक्षाभय, ५ अगुप्तिभय, ६ मरणभय और ७ अकस्मात्-भय। इस नामके कामदेवकी सेनाके सुभट।

भल्ल (४६)—भाला और बाणके फलका एक प्रकार।

भव (२)—संसार। कामदेवका नगर।

भव्य (२, ५५)—जिनमें यथार्थ आत्म-श्रद्धा प्रकट होनेकी क्षमता हो वे भव्य हैं।

भामण्डल (२८, ६७)—अर्हन्त भगवान्के समवशरणमें विशेष माहात्म्य बतलानेवाला एक चिह्न प्रातिहार्यका प्रकार।

भावना (६८)—देखिए 'अनुप्रेक्षा'। इस नामकी एक भावात्मक देवी।

भिण्डिपाल (४६)—एक प्रकारका आयुध। यह खड्गके समान होता है इसका फल बहुत लम्बा-चौड़ा होता है। यह बड़ा वजनदार होता है।

[म]

मकरध्वज (२, २४, २८, ४१)—कामदेव, जिनराजका प्रतिभट।

मतिज्ञान (३८, ४१, ६२)—जो ज्ञान पाँच इन्द्रिय और मनकी सहायतासे उत्पन्न हो उसे मतिज्ञान कहते हैं। इसके चार भेद हैं :—अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा। ये चार मतिज्ञान, पाँच इन्द्रिय और मनके निमित्तसे बहु, बहुविध आदि बारह पदार्थोंके होते हैं, इसलिए इसके ४ × ६ × १२ = २८८ भेद हुए और इनमें व्यञ्जनावग्रहके ४८ भेद जोड़ने पर ३३६ भेद मतिज्ञानके होते हैं। व्यञ्जनावग्रहमें वस्तुका अस्पष्ट ग्रहण होता है। अतएव वहाँ न तो ईहा, अवाय और धारणाज्ञान होते हैं—और न ही मन और चक्षुकी (वस्तुको स्पष्ट ग्रहण करनेके कारण) वहाँ प्रवृत्ति होती है। इस कारण व्यञ्जनावग्रह सिर्फ चार इन्द्रियों द्वारा बहु आदि बारह पदार्थोंका ज्ञान करता है, अतः ४ × १२ = ४८ भेद इसके निष्पन्न कहलाते हैं। जिनराजकी सेनाके इस नामके नरेश।

मद (३)—अहंकार। वह आठ प्रकारका है :—ज्ञान, पूजा, कुल, जाति, बल, ऋद्धि, तप और शरीरमद। इस नामका कामदेवका एक सभासद।

मनःपर्ययज्ञान (३८, ४१, ६२)—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भावकी मर्यादाको लेकर दूसरेके मनमें रहनेवाले पदार्थको जो स्पष्ट रीतिसे जाने वह मनःपर्ययज्ञान है। इसके दो भेद हैं :—ऋजुमति मनःपर्ययज्ञान, विपुलमति मनःपर्ययज्ञान। इस नामके जिनराजकी सेनाके वीर योधा।

महागुण (३७, ६२)—वे महान् गुण जो मुक्त जीवोंमें पाये जाते हैं। वे आठ प्रकारके हैं :—सम्यक्त्व, दर्शन, ज्ञान, अगुरुलघुत्व, अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व, वीर्यत्व और अव्याबाधत्व। जिनराजकी सेनाके इस नामके वीर योधा।

महाव्रत (३९, ५३, ५६)—पाँच पापोंका सम्पूर्ण अंशोंमें त्याग करना महाव्रत है। 'अणुव्रत' की तरह ये भी संख्यामें पाँच होते हैं। जिनराजके दलके इस नामके वीर सुभट।

महाशुक्र (६२)—दसवें स्वर्गका नाम।

महासमाधि (६८)—सदाके लिए विशुद्ध आत्म-भावोंमें तन्मयता। एक प्रकारकी भावात्मक देवी।

मिथ्यात्व (३४, ३५, ४२, ४७)—तात्त्विक श्रद्धाका अभाव। विचार-शक्तिके विकसित होनेपर भी जब कदाग्रहके कारण एक दृष्टि पकड़ ली जाती है तब अतत्त्वमें भी जो तत्त्व-बुद्धि की जाती है वह मिथ्यात्व है। यह तीन रूपका होता है—मिथ्यात्व, सम्यङ्मिथ्यात्व और सम्यक्त्व प्रकृति। कामके दलके इस नामके वीर सेनानी।

मुक्ति (४, ५५)—आत्मासे समस्त कर्मोंके सम्बन्ध-विच्छेदका नाम मुक्ति है। इस नामकी सिद्धसेनकी एक कन्या जिसे वरण करनेके लिए जिनराजको 'मदन-पराजय' करना पड़ा।

मुण्डा (३७, ५३, ६२)—मूँडना या वशमें करना। इसके दस भेद हैं :—पञ्चेन्द्रिय-मुण्डके पाँच, वचनमुण्ड, हस्तमुण्ड, पादमुण्ड, मनमुण्ड, और शरीरमुण्ड।

मुद्गर (४६)—सुप्रसिद्ध है। प्राचीनकालमें यह युद्धमें काम देता था। आजकल सिर्फ कसरतमें इसका उपयोग किया जाता है। ताडन, छेदन, चूर्णन, भ्रवन और घातन ये मुद्गरयुद्धके भेद हैं।

मुसल (४६)—इस नामका एक अस्त्र, जो मन्त्रप्रयोगपूर्वक काममें लाया जाता है।

मूढता (३५)—मूढ-प्रवृत्ति। जो प्रवृत्ति अविवेकपूर्वक की जाय वह मूढता है। इसके तीन भेद हैं :—लोकमूढता, देवमूढता और गुरुमूढता। कामकी सेनाके इस नामके वीर सेनानी।

मूलगुण (३७, ६२)—प्रत्येक साधुके अवश्य पालन करने योग प्रमुख गुण। वे अट्ठाईस हैं :—पञ्च महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रिय-निरोध, छह आवश्यक, केशलुञ्चन, आचेलक्य, अस्नान, क्षितिशयन, अदन्तघर्षण, स्थितिभोजन और एकभक्त। जिनराजके दलके इस नामके प्रमुख नरेश।

मोक्ष (४, ५५, ६९)—आत्माकी कर्मरहित विशुद्ध अवस्था।

मोक्षपुर (४, ६६)—मुक्ति और मुक्तजीवोंकी आवास-भूमि।

मोह (२, ३, ५, ३४)—जो आत्मामें राग, द्वेष और ममत्व पैदा करे वह मोह है। कामदेवका प्रधान मन्त्री।

मोहनीय (३७)—जो आत्मामें मोहभाव उत्पन्न करे। वह अट्ठाईस प्रकारका है :—अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, अप्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रत्याख्यान क्रोध, मान, माया, लोभ, संज्वलन

क्रोध, मान माया, लोभ, नौ नोकषाय, मिथ्यात्व, सम्यक् मिथ्यात्व और सम्यक् प्रकृति। कामकी सेनाके इस नामके वीर सेनानी।

[य]

यथाख्यात (५४)—यथार्थ आत्मस्वरूपकी प्राप्ति। जहाँ किसी भी कषायका किञ्चित् भी उदय नहीं रहता है, वह परम विशुद्ध यथाख्यात चारित्र है। केवलज्ञान वीरका इस नामका एक बाण।

योग (५३)—मन, वचन और कायकी प्रवृत्तिके द्वारा होनेवाले आत्मप्रदेश परिस्पन्दको योग कहते हैं। इसके तीन भेद हैं :—मनोयोग, वचनयोग और काययोग। इस नामके कामदेवकी सेनाके वीर।

[र]

रति (२, १५, ६१, ६२, ६३)—जिससे रागभाव जाग्रत् हो। कामदेवकी पत्नी और प्रीतिकी सखी।

रसपरित्याग (५९)—घी, दूध, दही आदि रसोंका त्याग करना रसपरित्याग है। जिनराजका इस नामका एक बाण।

रत्नत्रय (५४)—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्रको रत्नत्रय कहते हैं। इस नामके केवलज्ञान वीरके बाण।

राग (५३)—राग नाम आसक्तिका है। कामके दलका इस नामका एक योधा।

रोष (५३)—द्वेष और क्रोधका नाम रोष है। कामदेवकी सेनाका एक सेनानी।

रौद्र (६, १०, ५३)—हिंसा, झूठ, चोरी और विषयसंरक्षणके लिए जो अविराम चिन्ता है वह रौद्र ध्यान है। इसके चार भेद हैं :—हिंसानन्दी, अनृतानन्दी, स्तेयानन्दी, और विषयसंरक्षणानन्दी। कामदेवका एक सेनानी।

[ल]

लक्षण (३९, ६२)—श्रीवत्स आदि १००८ प्रशस्त लक्षण। इस नामके जिनराजकी सेनाके वीर सेनानी।

लब्धि (४०)—ज्ञानावरण कर्मके क्षयोपशमविशेषको लब्धि कहते हैं। इस जातिकी जिनराजकी सेनाकी छाया।

लेश्या (३६)—कषायके उदयसे अनुरञ्जित योगोंकी प्रवृत्तिको लेश्या कहते है। वे छह हैं :—कृष्ण, नील, कापोत, पीत, पद्म, शुक्ल। जिनराजकी सेनाके लेश्याके शुभ जातिके दण्ड।

[व]

वज्र (४६)—एक प्रकारका आयुध। यह लोहेका बनता है। इन्द्रका यह मुख्य आयुध है।

विजय (६२)—इस नामका एक अनुत्तर विमान।

विषय [३, ५५]—जो जीवको अपने रूपसे संबद्ध और आकर्षित करें वे विषय हैं :—स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण और शब्द।

वृद्धि (६८)—इस नामकी एक भावात्मक देवी।

वेदनीय (३४)—जिसके उदयसे आत्माको सुख और दुःखका अनुभव हो वह वेदनीय है। उसके दो भेद हैं :—सातावेदनीय, असातावेदनीय। कामकी सेनाका एक नरेश।

वैजयन्त (६२)—इस नामका एक अनुत्तर विमान।

वैतरणी (५२)—इस नामकी नरक-नदी ।

वैराग्य (३६)—इस नामका जिनराजकी घोषणा सुनाने वाला ।

व्यसन (३, ३३, ४२)—आदत ।निन्दनीय और कष्टकर आचरणकी आदतका नाम व्यसन है। वे सात हैं—जुआ खेलना, मदिरापान, मांसभक्षण, वेश्यासेवन, परनारीगमन, चोरी और शिकारमें आसक्ति। कामदेवके सभासद और इस नामके कामके दलके सुभट।

व्रत (१३, ४२)—शुभ कार्योंका करना और निन्द्यकार्यों को छोड़ना व्रत है। वे तीन प्रकारके हैं :—अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत। जिनराजकी सेनाके वीर योधा।

[श]

शक्ति (४६)—एक आयुध। इसका आकार ठीक भालेके समान होता है। यह लोहेकी बनती है और तीन धारकी होती है। इसमें घंटियाँ लगी रहती हैं। वजनमें यह बहुत भारी होती है। यह कार्तिकेयका मुख्य आयुध है। छोटी शक्तिको संगीन कहते हैं। आजकल यह बंदूकके आगे लगायी जाती है।

शङ्का (५०)—तत्वविषयक सन्देहका नाम शङ्का है। मिथ्यात्ववीरका एक शक्ति-आयुध।

शतार (६२)—ग्यारहवें स्वर्गका नाम।

शल्य (३, ४२, ५३)—अनेक प्रकारकी वेदनाओंसे जो आत्मामें चुभे वह शल्य है। उसके तीन भेद हैं :—माया, मिथ्या और निदान। कामका एक सभासद और वीर योधा।

शस्त्र (४६)—जो मन्त्र-प्रयोग पूर्वक काममें न लाया जाय।

शान्ति (६८)—इस नामकी एक भावात्मक देवी।

शारदा (४०)—जिनेन्द्रके युद्धकी प्रस्थानवेलामें मङ्गलगान गानेवाली इस नामकी एक देवी।

शास्त्र (१०, ६५)—जो आप्तप्रणीत हो, प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रमाणसे अबाधित हो, तत्वोपदेशक हो, सबके लिए हितकर हो और कुमार्गको ध्वस्त करनेवाला हो वह शास्त्र है।

शील (१३, ३९, ६२]—सदाचार और पूर्ण ब्रह्मचर्यपालनका नाम शील है। इसके अठारह हजार भेद हैं। जिनराजकी सेनाके इस नामके वीर नरेश।

शुक्र (६२)—नवमें स्वर्गका नाम।

शुक्ल (९, १०, ५३, ६२)—निर्मल आत्मध्यानका नाम शुक्लध्यान है। जिनराजकी सेनाका एक वीर सेनानी।

शुक्ल लेश्या (३६)—आत्माकी वह परिणति जहाँ कषाय-भाव अत्यन्त मन्द हो गया हो।

शून्यवादी (५०)—जिसकी दृष्टिमें ज्ञान और ज्ञेय दोनों शून्यवत् हों।

श्रावक (११)—श्रद्धालु, सदाचारी और वीतराग, धर्मपर आस्था रखनेवाला गृहस्थ श्रावक है।

श्री (६८)—इस नामकी एक भावात्मक देवी।

श्रुतज्ञान (३८, ६२)—जो ज्ञान मतिपूर्वक हो, जिसका विशेष सम्बन्ध मनसे हो वह श्रुतज्ञान है। जिनराजकी सेनाका एक वीर नरेश।

[ष]

षट्कर्म (१३)—गृहस्थके छह आवश्यक कर्त्तव्य। वे इस प्रकार हैं :—देवपूजा, गुरुकी उपासना, स्वाध्याय, संयम, तप और दान।

[स]

सप्तभङ्गी (३६)—किसी एक पदार्थमें प्रश्नके वशसे परस्पर विरोधी धर्मोंके विधि और निषेधकी कल्पना करना सप्तभङ्गी है। वे भङ्ग सात प्रकारके हैं :—स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति, स्यात् अस्ति-नास्ति, स्यात् अवक्तव्य, स्यात् अस्ति-अवक्तव्य, स्यात् नास्ति-अवक्तव्य, स्यात् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य। जिनराजके हाथीकी एक जाति।

सप्तार्णव (३७)—सात समुद्र।

समता (६८) - इस नामकी एक भावात्मक देवी।

समवशरण (६५)—वह सभाभवन जहाँ तीर्थंकर भगवान् धर्मोपदेश देते हैं।

समाधि (६७)—विशुद्ध आत्मीय भावोंमें तन्मयताका नाम समाधि है।

समिति (३६)—सम्यक् प्रवृत्तिका नाम समिति है। वे पाँच हैं :—ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेप और उत्सर्ग। जिनराजकी सेनाके इस नामके वीर।

सम्यक्त्व (६२)—आत्माका एक वह गुण जिसके सद्भावमें नियमसे यथार्थ आत्मानुभूति होती है। जिनराजकी सेनाका एक वीर।

सम्यग्दृष्टि (१३)—वीतराग धर्मका यथार्थश्रद्धानी और आत्मसाक्षात्कारका विधाता।

सर्वज्ञ (२६)—केवलज्ञानके द्वारा विश्वके पदार्थोंका जो साक्षात्कार करे वह सर्वज्ञ है।

सर्वार्थसिद्धि (६२)—इस नामका एक अनुत्तर विमान।

सहस्रार (६२)—बारहवें स्वर्गका नाम।

सागार (११)—गृहस्थ, श्रावक। देखिए, 'श्रावक'।

सागारधर्म (१२,१३)—सागार-श्रावकका धर्म। पाँच अणुव्रत और सप्तशीलका पालन करना।

साधु (५५)—वह मुनि जो अट्ठाईस मूलगुणोंका पालन करे।

सामायिक (५४)—साम्यभाव-समभावमें स्थित रहनेके लिये सम्पूर्ण अशुभ और अशुद्ध प्रवृत्तियोंका त्याग करना सामायिक है। केवलज्ञान वीरका एक बाण।

सिद्धशिला (६२)—ईषत्प्राग्भार नामक आठवीं पृथ्वीके बीच सफेद छत्रके आकार, ढाई द्वीप प्रमाण गोल और ४५ लाख योजन व्यासकी शिला सिद्धशिला है, जिसकी सीधमें सिद्धजीव तनुवातवलयमें विराजमान रहते हैं।

सिद्धस्वरूप (५३)—परमेश्वर जिनराजका स्वरशास्त्र।

सिद्धसेन (४)—मोक्ष, जिसे सिद्धोंकी सेना प्राप्त है।

सिद्धि (५)—मुक्ति, सिद्धसेनकी कन्या।

सुकला (६८)—इस नामकी एक भावात्मक देवी।

सुविभवा (६८)—इस नामकी एक भावात्मक देवी।

सूक्ष्मसाम्पराय (५४)—जहां क्रोध आदि कषायोंका उदय नहीं रहता है मात्र संज्वलन लोभका अंश अति सूक्ष्मरूप में रहता है वह सूक्ष्मसाम्पराय है। केवलज्ञान वीरका एक बाण।

स्याद्वाद (५६)—विभिन्न दृष्टिकोणोंसे वस्तुसत्त्वका निरूपण। कथञ्चित्‌वाद, दृष्टिवाद और अपेक्षावाद स्याद्वादके ही समानार्थक हैं। स्याद्वादका अर्थ संदेहवाद नहीं है। इस नामकी भेरी।

स्वसमय (७०)—आत्मीय आगम, स्वात्मा।

स्वात्मोपलब्धि (६८)—आत्म-साक्षात्कार। इस नामकी एक देवी।

स्वाध्याय (३८)—शब्द-अर्थकी शुद्धिपूर्वक अध्ययनको स्वाध्याय कहते हैं। आत्म-विकास करनेवाले ज्ञाना-र्जनका नाम स्वाध्याय है। इसके पांच प्रकार हैं:—वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश। जिनराजकी सेनाके इस नामके पांच वीर नरेश।

स्थितिच्छेद (१४)—कर्मविशेषकी स्थिति-मर्यादाकी न्यूनताका नाम स्थितिच्छेद है।

संज्वलन (३, ७, २५, २७, २८)—जलके ऊपर खींची गयी रेखाके समान जो क्रोध, मान, माया और लोभ बहुत मन्दरूपमें उदयमें आवें वे संज्वलन है। जिनराजका द्वारपाल और दूत।

संधान (५७)—अधःसंधान, ऊर्ध्वसंधान और समसंधानके भेदसे संधान तीन प्रकारका है। बाणको अधिक दूर फेंकनेके लिये अधःसंधान, स्थिर लक्ष्यमें बाण मारनेके लिये समसंधान और बहुत कड़े लक्ष्यको बाणसे तोड़नेके लिए ऊर्ध्वसंधानका प्रयोग किया जाता है।

संयम (३७, ६२)—अशुभ प्रवृत्तिसे विरत होनेका नाम संयम है। जिनराजकी सेनाके इस नामके नरेश।

संवेग (३६)—धर्मानुराग। संसार, शरीर और भोगोंसे वैराग्य। जिनराजकी सेनाका सेनापति।

मदन-पराजय में गृहीत

ऐतिहासिक और भौगोलिक

नामसूची

मदनपराजयके श्लोकोंकी वर्णानुक्रम-सूची

मदनपराजयमें आये हुए उद्धृत श्लोकोंकी वर्णानुक्रम-सूची